नागार्जुन का कथा-साहित्य

डॉ० ज्ञानेश दत्त हरित

नागार्जुन का कथा-साहित्य

डॉ० ज्ञानेश दत्त हरित

5 नवम्बर, 98 को हिन्दी के विशाल वट वृक्ष बाबा नागार्जुन के निधन के साथ ही हिन्दी भाषा एवं साहित्य की पुरातन पीढ़ी का समापन हो गया। असाधारण साहित्यिक प्रतिभा के धनी बाबा नागार्जुन सच्चे मानव थे, एक समरसी इन्सान थे। साहित्य की अनेकशः विधाओं का अनूठा संगम था बाबा का व्यक्तित्व। उनके निधन से हिन्दी एवं विश्व मानवता की अकूत क्षति हुई है। अब वे नहीं है तो उनका साहित्य ही उनकी निरन्तर स्मृति कराता रहेगा और हमें प्रेरणा देता रहेगा संघर्ष करने की, सृजन रत रहने की।

हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ कवि, लेखक एवं गीतकार डॉ० ज्ञानेश दत्त हरित वर्द्धमान कालेज, बिजनौर के शिक्षा संकाय में रीडर एवं अध्यक्ष हैं तथा हिन्दी के शोध निदेशक के रुप में भी मान्यता प्राप्त हैं। आपके अनेक वर्ष बाबा नागार्जुन के सान्निध्य में बीते हैं। अनेक बार बाबा नागार्जुन उनके बिजनौर स्थित आवास पर पधारें हैं। कई दिनों तक रहे हैं, उनका बाबा से लम्बा पत्र-व्यवहार रहा है। फ़लतः डॉ० ज्ञानेश दत्त हरित ने बाबा नागार्जुन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर शोध करके महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनके शोध कार्य में उनकी गहरी सूझ-बूझ, गहन अध्यवसाय, अकूत परिश्रम एवं शोध संगत-तलस्पर्शिता ने उनके कार्य को विशिष्टता प्रदान करते हुए, हिन्दी-प्रेमियों एवं बाबा नागार्जुन साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए अति उपादेय बना दिया हैं। डॉ० हरित के सृजनशील व्यक्तित्व, चिन्तक दृष्टिकोण एवं प्राध्यापकीय शैली ने इस शोध कार्य को और भी अधिक गरिमामय बना दिया है।

प्रस्तुत कृति डॉ० हरित के विस्तृत शोध प्रबन्ध का एक अंश है, जिसमें बाबा नागार्जुन के कथाकार रुप को प्रस्तुत किया गया है। निस्सन्देह, यह ग्रंथ अत्यन्त महत्पूर्ण है। यह हिन्दी साहित्य की महान निधि हैं।

'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच' चान्दपुर (बिजनौर) ने इस महत्वपूर्ण कृति का प्रकाशन करके अपने दायित्व का निर्वाह किया है और अपने उद्देश्य की शृंखला में एक कड़ी और जोड़ दी है। मैं मंच परिवार की ओर से माँ सरस्वती के महान साधक एवं वरद-पुत्र बाबा नागार्जुन का स्मरण-नमन करते हुए श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

मुझे आशा है हिन्दी जगत में इस सुकृत्य का आदर होगा। साहित्यकार डॉ० ज्ञानेश दत्त हरित को कोटिशः बधाई एवं शुभकामनाएं।

डॉ० महेश 'दिवाकर' डी०लिट०
संस्थापक अध्यक्ष
अ० भा० साहित्य कला मंच,चान्दपुर (बिजनौर)

नागार्जुन का कथा-साहित्य
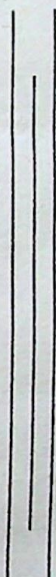
अखिल भारतीय साहित्य कला मंच,
चाँदपुर, बिजनौर (उ०प्र०)

मेरठ विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध प्रबंध का अंश

नागार्जुन का कथा-साहित्य

डॉ. ज्ञानेश दत्त हरित
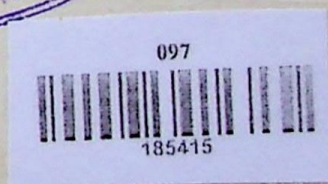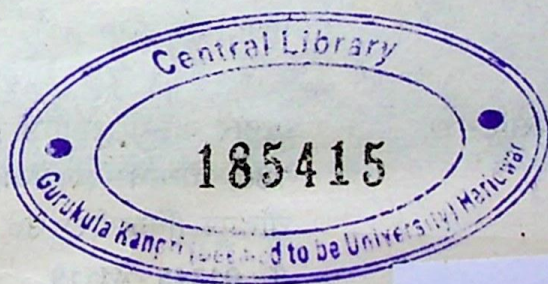
अखिल भारतीय साहित्य कला मंच,
चाँदपुर, बिजनौर (उ.प्र.)

प्रकाशन : चन्द्रा प्रकाशन,
मुरादाबाद (उ० प्र०)
✆ 0591 - 324841

मूल्य : रू० 250 सजिल्द

प्रथम संस्करण : 1999

वितरक : अ० भा० साहित्य कला मंच,
चाँदपुर (बिजनौर) उ० प्र०
अ० भा० साहित्य कला मंच,
मुरादाबाद (उ० प्र०)

लेजर टाइपसैटिंग : कुमार कम्प्यूटराइज्ड प्रिंटर्स
186, चिम्मन–बजरिया,
चाँदपुर (बिजनौर) उ० प्र०
✆: 01345 - 41119

मुद्रक : आर. के. ऑफसेट
1617 A/1A, उल्धनपुर, नवीन शाहदरा
दिल्ली-32

कागज : मोहित पेपर मिल बिजनौर के सौजन्य से

Kathakaar Nagarjun By Dr. Gyanesh Dutt Harit

Price : Rs. 250/-

समर्पण

बहुमुखी प्रतिभा के धनी
'फक्कड़ बाबा' को
श्रद्धांजलि

प्राक्कथन

साहित्यकार नागार्जुन से मेरा परिचय उनके उपन्यास 'इमरतिया' और खण्डकाव्य 'भस्मांकुर' के माध्यम से हुआ। 1972 में हि0 प्र0 विश्वविद्यालय, शिमला में मैं हिन्दी विभाग में अध्यापन कार्य कर रहा था। ग्रीष्म अवकाश में गुरुवर डॉ0 सुरेश चन्द्र त्यागी से मिला और फिर अचानक ही बाबा नागार्जुन के व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोध कार्य करने का निर्णय ले लिया गया। नागार्जुन पर तब तक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं थी जिससे उनके साहित्य के बारे में पूर्ण जानकारी मिल पाती। मैने डॉ0 सुरेश चन्द्र त्यागी के निर्देशन में अपने शोध कार्य की रूपरेखा मेरठ विश्वविद्यालय में प्रस्तुत कर दी। शोध समिति के विद्वानों ने इस बात पर आपत्ति की कि जीवित साहित्यकार पर शोध कार्य तब तक नहीं किया जा सकता जब तक वह 60 वर्ष का न हो। डॉ0 त्यागी ने समिति के समक्ष तथ्य प्रस्तुत कर बताया कि नागार्जुन 61 वर्ष के हैं, और मेरी रुपरेखा स्वीकृत हो गई।

शोध कार्य के लिए मैने नागार्जुन की प्रकाशित, अप्रकाशित पत्र पत्रिकाओं में यत्र–तत्र बिखरी हुई सामग्री को खोजा। सब से अधिक सहायता बाबा नागार्जुन के 'झोले' से मिली। जितनी बार वे बिजनौर पधारे उनके थैले से सामग्री मिलती रही। कितनी ही कृतियां ऐसी थी, जो प्रकाशित होने के बाद भी उपलब्ध नहीं थी। ऐसी रचनाओं का छुट–पुट संग्रह उनके मित्रों हितैषियों के पास था। मुझे ऐसे कतिपय साथियों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मैने उन के पास बैठकर नागार्जुन के साहित्य के बारे में विशद् चर्चा की। डॉ0 शेर जंग गर्ग का सहयोग मेरे लिए बहुत ही मूल्यवान सिद्ध हुआ। स्व0 नागार्जुन से उनके दिल्ली तथा अन्य नगरों में प्रवास के समय मिलने का अवसर भी मुझे प्राप्त हुआ। बिजनौर तो वे कई बार पधारे और मेरे अतिथि बनकर रहे। बाबा के साथ वार्तालाप से तथा उनके पत्रों के माध्यम से अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएं तथा जीवन और रचना विषयक तथ्य भी मुझे मिले परिणाम स्वरुप मैं बाबा के जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी, प्रमाणिक तथा नवीनतम मौलिक तथ्यों को उद्‌घटित करने में समर्थ हो सका हूँ। बाबा नागार्जुन ने मेरे शोध ग्रन्थ को देखकर प्रशंसा की और कहा इसे प्रकाशित अवश्य कराना। पर प्रकाशन का समय तब आया जब बाबा स्वर्गवासी हो गए।

रचनाकार से सीधे साक्षात्कार द्वारा रचना के मूल को समझने में सहायता मिलती है। अपने कार्य को पूर्ति करने में बाबा का भरपूर आशीष मुझे मिला। अपने जीवन और

साहित्य सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाओं को उन्होंने परितुष्ट किया। अनेक तथ्यों की पुष्टि में बाबा के ज्येष्ठ पुत्र श्री शोभा कान्त मिश्र और उन के अनुज श्रीकान्त मिश्र से भी मुझे यथेष्ट सहायता मिली, उन का आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं पर जिस व्यक्ति की प्रेरणा से शोधकार्य हो सका वे थे स्व0 रवि दत्त शर्मा (अधीक्षक कारागार विभाग उ0प्र0) मामा के रुप में और मित्र के उनका निर्देशन ही मेरी सफलता का आधार है।

प्रस्तुत पुस्तक में जिन विद्वान के पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों अथवा उनकी पुस्तकों से सामग्री का उपयोग किया गया है, उन सब का उल्लेख संदर्भ सूची में किया गया है। उन सभी के प्रति मैं आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। अपने निर्देशक और गुरुवर डॉ0 सुरेश त्यागी (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग महाराज सिंह कालेज सहारनपुर) का मैं ऋणीं हूँ और उन के ऋण से उऋण होने की सामर्थ्य मुझमें नहीं हैं। उन्होंने विषय सम्बन्धी समस्याओं को स्नेह पूर्वक सुलझाकर मेरा मार्ग दर्शन किया। आज के भौतिक वादी युग के तथा कथित निर्देशकों से सर्वथा भिन्न निर्देशक का मिलना मेरा सौभाग्य है।

डॉ0 रामस्वरुप आर्य, (वर्धमान कालेज) ने भी मेरी बहुत सहायता की है उन को भी मैं धन्यवाद देता हूँ। हि0 प्र0 विश्वविद्यालय शिमला, वर्धमान कालेज बिजनौर के पुस्तकाध्यक्षों का भी मैं आभारी हूँ कि उन्होंने आवश्यक पुस्तकें उपलब्ध कराने में सहायता की। शोधकार्य में विशेष योगदान मेरी सहधर्मिणी राजबाला हरित और बिटिया हरीतिमा तथा बेटे हरिताभ का रहा है। श्रीमती सुधा शर्मा, श्रीमती कविता शर्मा श्रीमती राजरानी भारद्वाज ने प्रूफ को देखने में बहुत परिश्रम किया है। पुस्तक को इस रूप में प्रस्तुत करने का पूरा श्रेय डॉ0 महेश 'दिवाकर', संस्थापक अध्यक्ष,अ0 भा0 साहित्य कला मंच को जाता है जिन्होंने बार–बार कहकर मुझसे यह कार्य करवा ही दिया। डॉ0 अभय ने बहुत ही मनोयोग से कम्प्यूटर कम्पोजिंग का कार्य किया, मेरा आभार।

श्री रामेन्द्र कुमार जैन,पत्रकार श्री अशोक मधुप, श्री संदीप जैन, श्री विजय गम्भीर तथा श्री रजनीश अग्रवाल ने पुस्तक के प्रकाशन में सहायता की है उनका आभार व्यक्त करना भी मेरे लिए आवश्यक हो जाता है। पुस्तक कैसी बन पड़ी है इसका मूल्यांकन सुधि पाठक ही कर सकेगें।

डॉ० ज्ञानेश दत्त हरित

4 प्रोफेसर्स लॉज,
सिविल लाईन्स, बिजनौर

पुरोवाक्

डॉ0 ज्ञानेश दत्त हरित एक सुमधुर गीतकार और प्रेरक शिक्षक के रुप में प्रख्यात हैं। जब उनकी ख्याति विभिन्न कोणों से मुझ तक पहुँचती है, तो मैं भी गर्व की अनुभूति में अवगाहन करता हूँ। शैक्षिक असंगतियाँ कितनी ही चिन्तनीय और भयावह क्यों न हो गई हों, एक अन्तः सूत्र है जो शिक्षक और शिक्षार्थी को बाँधे रखता है। ज्ञानेश जी मेरे विद्यार्थी रहे हैं शोधार्थी भी। जिस समय उन्होंने नागार्जुन के व्यक्तित्व–कृतित्व को अपने पी–एच0डी0 शोध कार्य के लिए चुना, उस समय तक नागार्जुन इतने महिमा मंडित नहीं हुए थे। उस समय कोई ढंग की पुस्तक भी उनके बारे में उपलब्ध नहीं थी। ज्ञानेश जी पूरी लगन और परिश्रम से नागार्जुन के साहित्य में पैठे और अपने सारगर्भित निष्कर्षो को प्रस्तुत किया। तब उनका तटस्थ समीक्षक का जो रुप समक्ष हुआ, वह मेरे लिए अप्रत्याशित था।

ज्ञानेश जी का शोध कार्य ही था कि मुझे भी नागार्जुन के साहित्य को समझने का अवसर उपलब्ध हुआ। बाद में 'सम्पर्क' का नागार्जुन अंक मैने सम्पादित–प्रकाशित किया जिसे स्वयं नागार्जुन ठीक ठिकाने की चीज़ मानते थे। पत्रिकाओं के दूसरे संस्करण भला कहाँ निकलते हैं ? नागार्जुन के पाठक उस अंक को अविस्मरणीय मानते हैं।

नागार्जुन से ज्ञानेश जी का व्यक्तिगत सम्पर्क भी विकसित हुआ और वह बाबा के स्नेह पात्र बने। एक संघर्षशील कवि–लेखक की आंतरिक कथा कोई लिख नहीं सकता। उसकी कुछ झलक उन व्यक्तियों के संस्मरणों में देखी जा सकती है जो उस कवि लेखक के निकट रहे हो–चाहे कुछ समय के लिए। नागार्जुन की रचना प्रक्रिया और उनके आंतरिक व्यक्तित्व की बनावट को जानने समझने का प्रयास ज्ञानेश जी जैसे लोग ही कर सकते हैं ओर उन्हें करना भी चाहिये। मुझे बहुत प्रसन्नता है कि नागार्जुन के कथा साहित्य पर ज्ञानेश जी की यह प्रस्तुत प्रकाश में आ रही है। 'बाबा' के देहावसान के पश्चात उनके कथा साहित्य की ही परख होनी आवश्यक है। डॉ0 ज्ञानेश दत्त हरित की इस पुस्तक से, सुधी पाठकों को इसके माध्यम से नागार्जुन को समझने में सहायता मिलेगी ऐसा मेरा विश्वास है।

20 जनवरी 1999

डॉ० सुरेश चन्द त्यागी
रीडर व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
महाराज सिंह कालेज, सहारनपुर।

अनुक्रमणिका

1.

प्रस्तावना

श्री वैद्यनाथ मिश्र, यात्री, नागार्जुन, संस्कृत, बंगला, मैथिली के प्रसिद्ध कवि और कथाकार थे। हिन्दी में 'बाबा' और नागार्जुन के नाम से विख्यात इस असाधारण व्यक्तित्व एवं कृतित्व वाले क्रान्तिकारी साहित्यकार को हिन्दी आलोचकों से न्याय नहीं मिल सका। जीवन को खुली आंखों से देखने वाले इस साहित्यकार ने अपने जीवन की समस्त उपलब्धियों को पचाकर साहित्य में विद्रोह का स्वर मुखरित किया। यह कहना अनुचित न होगा कि नागार्जुन ने अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को ही अपनी रचनाओं में उड़ेल दिया। संघर्षों से जूझते–जूझते उनका जीवन कंचन की भांति निखरता चला गया। कर्मकाण्डी परिवार में जन्मे बाबा नागार्जुन अपनी प्रतिभा के बल पर ही रचनाकारों में समादृत हुए हैं, किसी गुटबन्दी या प्रदर्शन मात्र के कारण नहीं। संस्कृत, मैथिली एवं हिन्दी में उन्होने समान गति से रचनायें की। ऐसे भाषाविद, जो किसी विश्वविद्यालय या महाविद्यालय से औपचारिक रूप से परीक्षा उत्त्तीर्ण करने का प्रमाण पत्र न प्राप्त कर सके हो, की अनोखी प्रतिभा का लोहा मानना पड़ता है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य नागार्जुन के जीवन, विचारधारा एवं कथा साहित्य की सम्यक् आलोचना करना है।

नागार्जुन का व्यक्तित्व सरलता और दृढ़ता का अद्भुत समन्वय था। अपने परिवेश के प्रति विद्रोह वृत्ति ने उन्हें रचनात्मक दिशाओं की ओर सक्रिय रखा। यही विद्रोह उनकी प्रेरक शक्ति भी बना। हिन्दी में नागार्जुन ने मुख्यतः दो विधाओं में रचनायें की हैं – कविता और उपन्यास। दोनों रूपों में ही उन्हें ख्याति

मिली। पिछले दो दशकों से उनकी रचनाओं में विशेषतः कविता के क्षेत्र में उनकी विशिष्ट पहचान बनी पर उपन्यासकार या कथाकार नागार्जुन को आलोचकों से सम्यक न्याय नहीं मिल सका। प्रेमचन्द परवर्ती लेखकों में उनकी परम्परा को प्रशस्त करने वालों में नागार्जुन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ग्राम्य जीवन और कृषक जीवन की समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण करने वाले कथाकारों में प्रेमचन्द के बाद नागार्जुन का अनन्यतम स्थान है। सच तो यह है कि प्रेमचन्द की संवेदना नागार्जुन की रचनाओं में समाजवादी चेतना में परिणित हो जाती है। नागार्जुन के उपन्यासों के प्रकाशन के बाद ही हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का विवाद उठ खड़ा हुआ है। मिथिला अंचल उनके उपन्यासों में अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ प्रतिबिम्बित हुआ है। सभी चरित्र मिथिला से सम्बद्ध हैं, जिनसे मिथिला का एक विशिष्ट व्यक्तित्व उभर कर आया है। स्पष्ट है कि कथाकार नागार्जुन किसी भी दशा में कवि नागार्जुन से कम नही है। निम्न एवं मध्यम वर्ग के जीवन के जैसे यथार्थ चित्र मानवीय धरातल पर नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में अंकित किये हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं।

सामाजिक यथार्थ के प्रति वे जीवन भर जागरूक रहे। यही जागरूकता उनके उपन्यासों का मूल स्वर है और इसी कारण उनके उपन्यासों में एक विशिष्टता आ सकी। शताब्दी के पांचवे दशक से 5 नवम्बर 1998 तक उनका रचना काल फैला हुआ है। उनके निधन से हिन्दी जगत की अपूरणीय क्षति हुई है। हिन्दी आंचलिक उपन्यासों की परम्परा के वे आलोकित स्तम्भ हैं। समाज दर्शन की तल–स्पर्शिनी एवं मर्मभेदी दृष्टि तथा सामान्य एवं साधारण चरित्र को उसकी साधरणता में अंकित करने की कला एवं साहस हिन्दी में नागार्जुन के पास ही था। कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उनका कथा साहित्य सशक्त एवं पठनीय है। संस्कृत,बंगला, मैथिली तथा हिन्दी चारों भाषाओं में उन्होने रचनायें की हैं पर मैथिली और हिन्दी में लिखी गयी उनकी कृतियों को सर्वत्र प्रशंसा मिली है। उनका कृतित्व विशाल है अतः केवल उपन्यासकार के रूप में नागार्जुन की रचनाओं की व्यापक समीक्षा की जा रहीं है।

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में यह बात बहुत खटकती है कि उसमें किसान मजदूर वर्ग के जीवन एवं ग्राम्य परिवेश का बहुत कम चित्रण हुआ है। प्रेमचंद के बाद बहुत कम ऐसे उपन्यासकार हैं, जो इन वर्गो के जीवन की विषमताओं का व्यापक और विशद चित्रण कर सके हैं। आज के अधिकांश उपन्यासों में प्रायः

नगर–बोध अथवा महानगरीय चेतना ही आधोपान्त परिव्याप्त है। नागार्जुन अकेले ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होने इस अभाव की पूर्ति करने का सफल प्रयास किया है। उन्होने ग्राम्य समाज और संस्कृति के चित्रण को ही अपने उपन्यासों का मूल वर्ण्य और विवेच्य विषय के रूप में चुना। प्रेमचंद की प्रतिष्ठा का यदि सबसे बड़ा आधार 'गोदान' है तो 'बलचनमा' भी नागार्जुन की प्रतिष्ठा का उतना ही मजबूत आधार है। भारत के निम्न वर्गीय जीवन का स्पन्दन, उसका सन्त्रास, जीवन–व्यापी संघर्ष नागार्जुन के उपन्यासों में मुखरित हुआ है। यदि उनके उपन्यासों को भारतीय ग्रामांचल की क्रान्ति–चेतना के विकास का प्रमाणिक दस्तावेज कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उपन्यासकार के रूप में उनके 'कथाकार' का सही मूल्यांकन तभी संभव है जब उनके व्यक्तित्व का भी सही मूल्यांकन हो।

युगीन परिस्थितियां -

साहित्यकार शून्य में रचना नहीं करता। युग की परिस्थितियां उसको प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित अवश्य करती हैं। नागार्जुन सच्चे अर्थों में जन–साहित्यकार थे और भारत की विराट जनता उनका प्रेरणा स्रोत रही है। युगीन परिस्थितियों की विवेचना किये बिना ही नागार्जुन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सही मूल्यांकन संभव नहीं है। अतः तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की यहां विवेचना की जा रही है।

सामाजिक परिस्थितियां - नागार्जुन ने हिंदी में स्फुट–रूप से 1930–35 में लिखना प्रारंभ किया।[1] इस समय राष्ट्र महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वातंत्र्य युद्ध में रत था। गांधी जी जहां एक और राजनीतिक संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे तो दूसरी ओर समाज उत्थान के लिए वे रचनात्मक कार्यों का भी नेतृत्व कर रहे थे। उन्होने मानवता–विरोधिनी सामाजिक रूढ़ियों को महा–व्याधि माना और उन्हें जड़ से उखाड़ फेंकने का संकल्प किया। भारतीय समाज में इस समय बाल–विवाह, अनमेल–विवाह, पर्दाप्रथा, दहेज, अशिक्षा, विधवा–विवाह, छुआछूत, जाति प्रथा आदि अनेक व्याधियां व्याप्त थीं। महात्मा गांधी इस समय अछूतोद्धार, ग्राम सगठन, पीड़ितों की सेवा, किसान–मजदूरों का उन्नयन आदि

सभी समाज सुधारों के कार्य में लगे हुए थे।

इस समय सामन्तशाही, जमींदारी प्रथा तथा पूंजीवादी व्यापार के द्वारा जन सामान्य का अबाध शोषण चल रहा था। राजा महाराजा, जमींदार और व्यापारी जनता पर नाना प्रकार के उचित–अनुचित कर लगाकर उनके साथ धोखा कर रहे थे तथा स्वंय विलास का जीवन व्यतीत कर रहे थे। धर्म के ठेकेदार–महन्त, पंडे–पुजारी, पादरी, मुल्ला–मौलवी आदि ईश्वर के नाम पर जनता में भाग्यवाद, कर्मवाद आदि का प्रचार कर, स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित करते हुए जनता से धन वसूल कर रहे थे तथा पुरानी रूढ़िवादी समाज–व्यवस्था को यथावत कायम रखना चाहते थे। ये लोग प्रत्यक्ष रूप से महाराजाओं, जमींदारों तथा सरकार के प्रति स्वामिभक्ति की भावना का प्रचार कर इनके संरक्षक तथा समर्थक बने हुए थे। ये लोग पुराण–शास्त्रों की अपनी स्वार्थ–पूर्ति के निमित्त, मनमानी व्याख्या कर धर्म के नाम पर जनता की विद्रोह–भावना का शमन करते रहते थे।

भारतीय समाज में मानव विषमता और वैषम्यजन्य उत्पीड़न के प्रति आदर–शक्ति समाप्त होती जा रही थी। सम्पत्ति की प्रचुरता मानव की सच्ची गरिमा है – इस पर से लोक विश्वास उठता जा रहा था। नैतिकता और बुद्धि वैभव से सम्पन्न मध्यवर्ग अपनी आर्थिक न्यूनता के कारण अपने को छोटा मानने में संदिग्ध ही नहीं विद्रोही हो उठा था। उसे अपने महत्व का ज्ञान होने लगा था। इस प्रकार इस समय मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग की शक्ति समाज में अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक हो गई थी। 1927 ई0 के बाद की पूंजीवादी व्यवस्था के भीषण परिणाम इस समय प्रकट हो रहे थे। मजदूर तथा किसानों का वह वर्ग जो उत्पादन में लगा था शोषण एवं दरिद्रता से कराह रहा था। नागार्जुन के अपने राज्य बिहार की स्थिति तो और भी अधिक शोचनीय थी। शोषण और दरिद्रता की मार के साथ प्राकृतिक प्रकोपों में यहां की जनता तड़प रही थी। अवसरवादी नेता तथा कथित समाजसेवी कार्यों में भी अपने स्वार्थों की पूर्ति में लिप्त थे। नागार्जुन की आरंभिक कृतियों में इस प्रकार के सामाजिक चित्र देखने को मिलते हैं।

राजनीतिक परिस्थितियां - सन् 1935–36 तक भारतीय क्षितिज से राजनीतिक निराशा का कोहरा छंटना आरंभ हो गया था। गांधीवादी –समझौतों

का युग बीत चला था। देश में कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इस समय कांग्रेस में भी परस्पर दो विचारधाराएं विद्यमान थीं और दोनों विरोधी विचारधाराओं में संघर्ष चल रहा था। एक वर्ग का नेतृत्व सुभाषचन्द्र बोस कर रहे थे और दूसरे वर्ग का महात्मा गांधी। जवाहर लाल नेहरू इन दोनों वर्गों के मध्य मिलनसेतु का सा भाग अदा कर रहे थे। कांग्रेस की युवा–पीढ़ी जन–आंदोलन को व्यापक रूप प्रदान कर आज़ादी की लड़ाई लड़ने के पक्ष में थी। युवा–पीढ़ी कांग्रेस पर देशी पूंजीपतियों के बढ़ते प्रभाव से अप्रसन्न थी। विचारधाराओं की इस टकराहट के परिणामस्वरूप देश में एक नवीन समाजवादी जन चेतना का उदय और प्रसार हो रहा था। कांग्रेस का युवा वर्ग गांधी जी की अहिंसावादी नीति का विरोधकर सशस्त्र संघर्ष द्वारा भारत को अंग्रजों की दासता से मुक्त कराने का नारा लगाने लगा। किन्तु कांग्रेस के बुजुर्ग नेताओं के आगे युवा वर्ग की एक न चली परिणामस्वरूप सुभाषचन्द्र बोस जैसे नेताओं को कांग्रेस से त्यागपत्र देकर अलग हो जाना पड़ा। विचारधाराओं के इसी संघर्ष के कारण सुभाषचन्द्र बोस ने विदेशों में रहकर "आजाद हिन्द फौज" को जन्म दिया तथा सन् 1942 का उग्र जन–आंदोलन खड़ा कर दिया।

अतः यह कहा जा सकता है कि सन् 1935–40 से देश में गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव क्षीण होने लगा था तथा समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा था। राष्ट् को इस नवीन उग्रवादी विचारधारा के तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विषम परिस्थितियों के कारण आजादी प्राप्त करने में सहायता मिली। यूरोप में भी साम्राज्यवादी–पूंजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं का संघर्ष चल रहा था। स्पेन का गृह–युद्ध, फ्रांस, जर्मनी तथा इटली में समाजवादी आंदोलन तथा उनका दमन इसका प्रमाण हैं। भारत में भी दोनों विचारधाराएं अपना प्रभाव डाल रही थीं।

किसानों तथा मजदूरों ने अपने हितों की रक्षा के लिए इस समय संगठित होकर अनेक व्यापक आंदोलन किए। सन् 1937 के चुनावों के बाद देश में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। उन्होने किसानों तथा मजदूरों की समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, यद्यपि अपने चुनाव घोषणा पत्र में कांग्रेस ने मजदूरों तथा किसानों से बड़े–बड़े वायदे किये थे। किसानों ने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना की तथा अनेक किसान अभियान भी किए गए। इस प्रकार किसान एक उभरती हुई शक्ति के रूप में साम्राज्यवादी शासकों के विरूद्ध मोर्चा लेने के लिए डट

गया। किसानों की ही भांति श्रमिकों में भी नवीन चेतना और गति आ गई। "अखिल भारतीय ट्रेड–यूनियन कांग्रेस" की स्थापना भारतीय श्रमिक–आंदोलन के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है।

किसान–मजदूरों की इस राष्ट्र–व्यापी नई चेतना को साहित्य के क्षेत्र में भी पूरी अभिव्यक्ति मिली। मजदूरों और किसानों को लक्ष्य करके अनेक कवियों ने अपनी रचनायें की। नागार्जुन, रांगेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह 'सुमन', निराला, पंत आदि कवियों की कविताएं इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय हैं।[2]

1 सितम्बर, 1939 को द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ था। भारतीय नेताओं से बिना परामर्श किए ही ब्रिटिश सरकार ने भारत को युद्ध में झोंक दिया। भारतीय जनता ने इसकी निंदा की। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इसके विरोध में त्यागपत्र दे दिए। चूंकि यह युद्ध फासिज्म के विरूद्ध था और उसमें रूस के अस्तित्व का प्रश्न था अतः भारत में भी फासिज्म तथा नाज़ीवाद के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। जनता ने व्यापक प्रदर्शन किए। साहित्यकारों ने अपनी सामयिक तथा हृदयस्पर्शी रचनाओं के माध्यम से अपना विरोध व्यक्त किया। युद्ध के दौरान रूस की लाल सेना की वीरता तथा शौर्य ने हिंदी साहित्यकारों के प्रगतिशील वर्ग को सबसे अधिक प्रभावित किया।

1942 का आंदोलन, पाकिस्तान की मांग, 1943 का बंगाल का अकाल, 18 फरवरी 1946 को प्रारंभ हुआ नौ–सैनिकों का विद्रोह, 1946–47 में हुए नोआखली तथा बिहार के सांप्रदायिक दंगे, 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रा की प्राप्ति, शरणार्थी समस्या, 30 जनवरी 1948 को महात्मा गांधी की मृत्यु, भारतीय सरकार की स्वातंत्र्योत्तर नई आर्थिक नीति ऐसी घटनाएं हैं जिनको साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति प्रदान की है। नागार्जुन की तत्कालीन रचनाओं पर इन सबका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

साहित्यिक परिस्थितियां - देश तथा विश्व में घटित विभिन्न राजनीतिक आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने साहित्य जगत में भी भारी उथल–पुथल मचा दी। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अथवा सामाजिक दर्शन का प्रस्फुटन साहित्यिक धारा के रूप में हुआ। हिंदी साहित्य में इस धारा को प्रगतिवादी के नाम से जाना जाता है। "छायाववाद के गर्भ से सन् 1930 के

आस–पास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्यधारा का जन्म हुआ उसे सन् 1936 में प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई और तब से इस नाम के औचित्य–अनौचित्य को लेकर काफी वाद–विवाद होने के बावजूद छायावाद के बाद की प्रधान–साहित्यधारा को प्रगतिवाद के नाम से ही पुकारा जाता है।''[3]

सन् 1935 ई0 में यूरोप के अनेक प्रमुख लेखकों तथा साहित्यकारों ने पेरिस में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था "प्रगतिशील लेखक संघ" को जन्म दिया तथा उनका प्रथम अधिवेशन भी पेरिस में किया गया। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक तथा उपन्यासकार श्री ई0 एम0 फार्स्टर ने इस अधिवेशन की अध्यक्षता की। इस संस्था से प्रभावित होकर कतिपय भारतीय लेखकों ने जिनमें डा0 मुल्कराज आनंद, सज्जाद जहीर, भवानी भटटाचार्य आदि प्रमुख हैं, लन्दन में "भारतीय प्रगतिशील लेखक–संघ" नामक संस्था की नींव रखी। इस संस्था का प्रथम अधिवेशन मुंशी प्रेमचंद के सभापतित्व में सन् 1936 में लखनऊ में हुआ। सभापति पद से भाषण देते हुए मुंशी प्रेमचंद ने साहित्य के उद्देश्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला। उन्होने कहा– "हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनमें संसार की नश्वरता का अधिपत्य हमारे ह्रदय पर और दृढ़ हो जाए, जिनसे हमारे ह्रदयों में नैराश्य छा जाए। हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का संदेश हो। अतः हमारे पथ में हमें अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रध ाानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला की आवश्यकता हमारे लिए न व्यक्ति रूप में उपयोगी है, न समुदाय रूप में। हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, जो सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, हम में गति संघर्ष और बैचेनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[4]

"प्रगतिशील लेखक संघ" का द्वितीय अधिवेशन सन् 1938 में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन की अध्यक्षता गुरूदेव टैगोर को करनी थी किंतु अस्वस्थता के कारण उनके न आ सकने पर उनका संदेश पढ़कर सुनाया गया। अपने संदेश में गुरूदेव ने तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए लेखकों से कहा कि वे देश के प्रति पूर्ण सजग होकर अपने साहित्य का सृजन करें।[5] आगे भी प्रगतिशील संघ के

अनेक अधिवेशन हुए जिनसे देश के प्रगतिवादी विचार वाले लेखकों को नयी प्रेरणाएं मिली।

अपने प्रादुर्भाव–काल में ही प्रगतिवाद एक ऐसी जीवन दृष्टि बन गया जिस ने कविता, उपन्यास, आलोचना सभी क्षेत्रों में नवीन दिशाओं और मान्यताओं को जन्म दिया। छायावादी जीवन–दृष्टि जहां अधिकांशतः कविता के क्षेत्र में ही व्यक्त होकर रह गयी, वहां प्रगतिवादी जीवन दृष्टि साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में अपनी अभिव्यंजना करने लगी।[6] "प्रगतिवाद" युगीन अर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों और इनके प्रभावों से उत्पन्न विषाक्त जड़ तथा कुण्ठित वातावरण की उपज है। प्रगतिवाद ने व्यक्ति के स्थान पर समाज और जन–कल्याण की, निराशा और पराजय के स्थान पर आशा और उत्साह एवं स्वस्थ प्रेम की दिशाओं में साहित्य को गतिशील किया।[7]

देश के बुद्धिजीवियों ने प्रगतिवादी आंदोलन के उद्‌भव के समय से ही बड़े उत्साह से स्वागत किया। अनेक मान्य साहित्यकारों जिनमें गुरूदेव टैगोर,शरतचन्द् चटर्जी, प्रेमचंद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, नन्द दुलारे वाजपेयी, सुदर्शन आदि प्रमुख हैं, ने प्रगतिवादी विचारधारा को युग की आवश्यकता मानकर उसे स्वीकार किया। इतने साहित्यकारों द्वारा इस साहित्यिक प्रवृत्ति को स्वीकार किया जाना इस बात को प्रमाणित करता है कि प्रगतिवादी आंदोलन अभारतीय या बाहर से ढोने वाली वह वस्तु नहीं माना जा सकता। "मार्क्सवाद–समाजवाद" से प्रभावित होने के बावजूद भी वह भारतीय मिट्‌टी की ही उपज है, हिंदी की गौरवशाली और प्रगतिशील साहित्यिक परंपरा का प्रारंभ से ही चला आता हुआ क्रम–विकास है।[8] नागार्जुन स्वयं निर्धन परिवार में जन्मे और अभावों में पले हैं। 1938 में बिहार कृषक क्रान्ति के नेता भी रहे और इस कृषक क्रान्ति का नेता होने के कारण उन्होंने इसी समय जेल यात्रा भी की। बिहार में प्राकृतिक प्रकोपों से जूझती जनता ने नागार्जुन को बहुत अधिक द्रवित कर दिया। देश की बदलती परिस्थितियों में काग्रेस की असफलता ने नागार्जुन को मार्क्सवादी विचारधारा की ओर उन्मुख कर दिया जो उनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। साहित्यिक क्षेत्र में शतरचन्द्र चटर्जी, राहुल जी, प्रेमचन्द और महा प्राण निराला ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया है और यही उनके आरंभिक प्रेरणास्रोत रहे हैं।

नागार्जुन का व्यक्तित्व -

साहित्यकार का जीवन वृत्त उसके व्यक्तित्व निर्माण का बाह्य उपादान है और जीवन दर्शन आभ्यंतर उपादान। साहित्यकार द्वारा प्रणीत साहित्य में उसका संपूर्ण व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है– उसकी अनुभूति, कल्पना, धारणा, विचारधारा आदि। अतः जीवनी तथा जीवन–दर्शन का उसके साहित्य के मूल्यांकन के लिए विशिष्ट महत्व है। जीवनी, व्यक्तित्व एवं जीवन–दर्शन एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, पर तीनों का साहित्य–साधना में महत्वपूर्ण योग भी है, इसीलिए साहित्यकार के क्रियात्मक जीवन, मानसिक संकल्प–विकल्प तथा स्वभाव आदि का अध्ययन किया जाना भी आवश्यक है। नागार्जुन का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुमुखी था तथा एक आश्रमवासिनी पवित्रता लिए हुए था। उसमें सरलता और स्पष्टता थी, मनोग्रंथियां कम।

नागार्जुन ने अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में रखने के लिए कोई डायरी, दैनंदिनी और पत्रों की फाइल आदि नहीं बनाई। उन्होने न तो प्रमुख घटनाओं का विवरण लिखा और न ही कोई आत्मकथा। उनके निकट संबंधियों ने भी उनकी जीवनी उपस्थित नहीं की। अतः प्रकीर्ण सामग्री के आधार पर तथा साहित्यकार और उसके परिजनों के उल्लेखों, पत्रों तथा वार्तालापों को ही जीवनी के विवरण का आधार बनाया गया है।

जन्म-स्थान - नागार्जुन का जन्म अपनी ननिहाल सतलखा नामक ग्राम में हुआ था। सतलखा, मधुबनी कस्बे के पास है, जो दरभंगा जिले के अन्तर्गत आता है। बिहार प्रदेश के उत्तरी अंचल में स्थित दरभंगा जिला है तथा इसके समीप के जिलों में मुजफ्फरपुर, सहरसा आदि जिले हैं। बिहार के ये जिले नेपाल की तराई के अन्तर्गत आते हैं। प्राचीनकाल में यह अंचल मिथिला अंचल के नाम से जाना जाता था। यह पवित्र अंचल सीता जी की जन्म भूमि है। मिथिला अंचल का उत्तरी भाग नेपाल के अन्तर्गत आता है और दक्षिणी भाग भारत के अन्तर्गत है।

नागार्जुन के पिता–पितामह तरौनी ग्राम के रहने वाले थे। तरौनी दरभंगा शहर से लगभग 20 किलोमीटर पूर्वोत्तर में स्थित है। तरौनी पंडितों का प्रसिद्ध ग्राम रहा है। तरौनी पहले संस्कृत अध्ययन का सुप्रसिद्ध केन्द्र था किन्तु आजकल

उसका स्वरूप बदलकर आधुनिक हो गया है। सस्कृत के बदले अब अंग्रेजी और हिंदी शिक्षा का माध्यम बन गया है। यद्यपि नागार्जुन का जन्म अपनी ननिहाल सतलखा में हुआ था किंतु पितृग्राम होने के नाते उनका जन्म–स्थान तरौनी ही लिखा जाने लगा।

जाति गोत्र तथा वंश परिचय - नागार्जुन मैथिल ब्राह्मण थे। इनका गोत्र 'वत्स' था और कुल की शाखा 'पालिबाड़ समोल' कहलाती थी। करणाट वंशीय राजा हरि सिंह देव ने चौदहवीं शताब्दी में मिथिला के समस्त ब्राह्मणों की वंश–पंजिका बनवाई थी। तब से लेकर आज तक के समस्त मैथिल ब्राह्मणों का मुकम्मल रिकार्ड इस पंजिका में मौजूद है। किसका संबंध किससे पड़ता है यह पता लगाना यहां बहुत सरल है। इन वंश–पंजिकाओं की लम्बी फहरिस्तों को पंजीकार सुरक्षित रखते हैं। इसी से नागार्जुन की वंश–परंपरा का पता लगाने में सुविधा हुई। चौदहवीं शताब्दी से लेकर आज तक नागार्जुन के 'मिश्रवंश' में अनेक महामहोपाध्याय विद्वानों का उल्लेख मिलता है। इन विद्वानों को अपने समकालीन राजा–महाराजाओं से वृत्ति के तौर काफी धन–सम्पदा तथा भू–सम्पत्ति मिलती रही है। वृत्ति की सुविधा के लिए ही नागार्जुन के पूर्वज तरौनी तथा आस–पास के अंचल में आकर बसे थे। कुल शाखा 'पालिबाड़ समोल' से यह ज्ञात होता है कि लगभग दो सौ वर्ष पूर्व तक पूर्वजों का निवास स्थान 'सिमोल' नामक ग्राम रहा है।

नागार्जुन परिवार सयुक्त गृहस्थ प्रथा का सुन्दर उदाहरण रहा है। नागार्जुन के पूर्वज पिता'पितामह तथा प्रपितामह घर में छोटा होने के कारण अधिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके और अपने अग्रजों के परिवार के पालन पोषण में जुटे रहे। वृत्ति के तौर पर मिली भूमि पर खेती बाड़ी करके ये लोग मस्ती में अपना समय गुजारते थे। विद्या से दूर रहकर भूमि से ही उनका सपर्क बना रहा। नागार्जुन परिवार की पिछली चार–पांच पीढ़ियों मे इस प्रकार का सिलसिला चलता रहा।

जन्म-तिथि, नाम - नागार्जुन का जन्म जून 1911 में किसी तिथि को एक रूढ़िवादी मैथिल ब्राह्मण परिवार में हुआ था। स्वयं कवि को भी अपनी जन्म तिथि का सही ज्ञान नहीं है क्योंकि तिथि तथा वर्ष का कोई लिखित प्रमाण

उपलब्ध नहीं है। हां, इतना ज्ञात हुआ है कि जन्म की तिथि संभवतः ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा थी। इस तिथि के बारे में कवि को जानकारी अपनी नानी से मिली। कवि की मां की अल्पायु में मृत्यु तथा पिता का मनमौजी एवं लापरवाही का जीवन, अदि ऐसी बाते हैं जिनके कारण कवि की जन्म तिथि का सही–सही पता नहीं चल पाया। वर्ष और मास की दृष्टि से यह तिथि सही है। नागार्जुन अपने पिता की पांचवी सन्तान थे। कवि के जन्म से पूर्व उनके चारों सहोदर काल के गाल में समा चुके थे। संभव है इसी कारण माता–पिता ने जन्म–कुण्डली तैयार कराना अशुभ माना हो।

एक के बाद एक चारों संतानों की मृत्यु ने माता–पिता को झकझोर दिया। नागार्जुन के जन्म से पूर्व उनके पिता ने वैद्यनाथ धाम देवधर जिला संथाल परगना में जाकर अपनी संतान के दीर्घजीवी होने की कामना से एक मास का अनुष्ठान किया। इसी साधना के पश्चात जब नागार्जुन का जन्म हुआ तो वैद्यनाथ धाम के पवित्र नाम पर ही उनका नाम वैद्यनाथ रखा गया। घर की बड़ी–बूढ़ी महिलाओं को इतना सुन्दर नाम रखे जाने पर बड़ी चिन्ता हुई कि कहीं नाम के कारण यह सन्तान भी माता–पिता को ठगकर न चली जाए। अतः बड़े–बूढ़ों ने वैद्यनाथ के बजाय 'ठक्कन' कहना प्रारंभ कर दिया। 'ठक्कन' का अर्थ है 'ठगने वाला'। जन्म के चार वर्ष बाद ही मां की मृत्यु हो गयी। नागार्जुन का पूरा नाम वैद्यनाथ मिश्र है। मैथिली में वे 'यात्री' उपनाम से रचनायें करते रहे। बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद उन्होने 'नागार्जुन' उपनाम रखा और हिंदी में वे नागार्जुन उपनाम से ही जाने जाते हैं।

पिता और पितृव्य - नागार्जुन के पिता का नाम गोकुल नाथ मिश्र था। उनके पितामह का नाम छत्रमणि मिश्र तथा प्रपितामह का नाम परसमणि मिश्र था। नागार्जुन के पिता अल्पपठित, रूढ़िवादी, दरिद्र किंतु साहसी , ईमानदार किंतु कठोर प्रवृत्ति वाले एवं घुमक्कड़ी प्रवृत्ति के थे। दायित्वहीनता और लापरवाही लगता है उनकी प्रकृति में समा गई थी। उनके स्वभाव से बहुत उग्र होने के कारण अनेक बार नागार्जुन को कष्ट भोगना पड़ा।

नागार्जुन की मां श्रीमती उमा देवी एक सरल ग्रामीण महिला थीं। लगभग 40 वर्ष की आयु में उमा देवी का देहान्त हो गया। उन्होने छः संतानों को जन्म दिया जिनमें एक श्री नागार्जुन को छोड़कर सभी सन्तानें शैशव–काल में ही

मृत्यु को प्राप्त हो गई। अपने पति के उग्र स्वभाव के कारण उमा देवी बड़ी दुखी रहीं। नागार्जुन की स्मृति में वह दृश्य अक्सर नाचने लगता है जिसमें उन्होने अपने पिता गोकुल मिश्र को मां की छाती पर चढ़कर गर्दन रेतता हुआ देखा था। पिता के उग्र स्वभाव के कारण बालक वैद्यनाथ के मन में प्रतिहिंसा की आग कभी–कभी सुलग उठती थी। मां के प्रति पिता के व्यवहार के कारण कवि अपने पिता को अन्त तक खुली क्षमा नहीं दे पाया।

नागार्जुन के पिता को अपने श्वसुर से कुछ जमीन मिली थी और वे अपनी ससुराल 'महिषी ग्राम' में रहकर उसकी देख–रेख करते थे। 'महिषी ग्राम' कोसी नदी की एक छोटी सी शाखा जो घेमुड़ा नदी कहलाती है, पर बसा हुआ है। यहां की जमीन बड़ी उपजाऊ है। नागार्जुन के बाल्यकाल के कई वर्ष अपने पिता के साथ महिषी ग्राम में व्यतीत हुए। गोकुल मिश्र घुमक्कड़ी प्रवृत्ति के थे अतः इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने किसी एक स्थान पर जमकर कोई खेती बाड़ी की हो। मातृहीन बालक वैद्यनाथ नागार्जुन अपने पिता की विचार धारा और कार्य–कलापों से कभी सतुष्ट नहीं रहे। पिता के कठोर नियंत्रण और उग्र स्वभाव के कारण बड़ी घुटन सी उनके मन में बनी रही। सच तो यह है कि अच्छे पिता का कर्तव्य पूरा करने में गोकुल मिश्र पूर्ण रूपेण असफल सिद्ध हुए। वे केवल अपनी मस्ती के लिए ही चिंतित थे। बेटे के भविष्य पर उन्होने कभी भी गंभीरता से विचार नहीं किया। नागार्जुन के प्रथम उपन्यास "रतिनाथ की चाची" के पात्र जयनाथ में गोकुल मिश्र की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है।

शिक्षा - नागार्जुन का ग्राम तरौनी संस्कृत शिक्षा का एक लघु केन्द्र था। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार उनके पिता अंग्रेजी शिक्षा के महत्व को समझते थे और उनकी यह इच्छा कभी–कभी प्रबल हो उठती कि वैद्यनाथ को वे किसी अंग्रेजी स्कूल में प्रवेश दिलायें। मिथिला अंचल में उस समय अंग्रेजी स्कूल भी थे किंतु उनमें शुल्क अधिक देना पड़ता था। अतः पुस्तकों और फ़ीस के खर्चे को देखकर गोकुल मिश्र ने निश्चय किया कि वे मलेच्छ भाषा का अध्ययन अपने पुत्र को नहीं करायेंगे। अपने पूर्वजों की कीर्ति रक्षा के लिए पिता के आदेशानुसार नागार्जुन ने संस्कृत पढ़ना स्वीकार तो कर लिया किंतु पिता के इस आदेश पर उनका हृदय रो रहा था।

नागार्जुन अपने अन्य सहपाठियों में सदैव अग्रणी रहे। वे कुशाग्र बुद्धि थे और अंग्रेजी पढ़ने की उनकी तीव्र इच्छा थी। उनके सभी साथी जो लोअर प्राइमरी में उनके साथ रहे, अपर प्राइमरी स्कूल में चले गए किंतु नागार्जुन पिता के डर के मारे मुंह भी न खोल सके। मुंह खोलने का अर्थ होता पिटाई जो जरा–जरा सी बात पर उन्हें मिलती थी। बाल सुलभ चंचलता का उनमें मानों लोप हो गया था। पिता के भय के कारण वे कभी अपनी मर्जी के साथ बच्चों के साथ खेल भी नहीं सके। खिलखिलाकर खूब हंसना उनके लिए स्वप्न की वस्तु थी।

उस समय मिथिला में अनेक ऐसे परिवार थे जो कुशाग्र बुद्धि ब्राह्मण कुमारों के अध्ययन के लिए पूरी छात्रवृत्ति देते थे। गोकुल मिश्र ने भी नागार्जुन को बिना किसी झमेले में पड़े संस्कृत का पंडित बनाने का संकल्प किया। वे बिना धन खर्च किए पुत्र के अध्ययन करने पर बड़े प्रसन्न थे। वे प्रायः कहते थे "सेंत मेंत में लड़का पढ़कर तैयार हो जाएगा, अपनी तो कौड़ी भी नहीं लगेगी", नागार्जुन ने गांव में रहकर ही लगभग तेरह वर्ष की आयु में प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद 'गौनौली' के संस्कृत विद्यालय में दो वर्ष रहकर उन्होने व्याकरण मध्यमा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात उनका अध्ययन स्थान जिला सहरसा में पछगछिया रहा। यहां लगभग एक वर्ष तक उन्होने संस्कृत का अध्यन किया और इसके पश्चात आगे अध्ययन के लिए काशी चले गए।

नागार्जुन ने काशी में चार वर्ष रहकर संस्कृत का अध्ययन किया। संस्कृत में उन्होने साहित्य शास्त्र में आचार्य की परीक्षा उर्त्तीण की। काशी का पण्डिताई वातावरण नागार्जुन की रागात्मक वृत्तियों को सचेष्ट नहीं कर पा रहा था और यहां के वातावरण में वे अजीब सी घुटन का अनुभव करते रहे। काशी में रहकर ही उन्होने संस्कृत के साथ–साथ हिंदी और मैथिली भाषाओं का अध्ययन किया वहां प्राकृत, पाली और मागधी की ओर भी उनकी रूचि जाग्रत हुई। आर्थिक कष्ट और काशी के अरूचिकर वातावरण से ऊबकर नागार्जुन काशी से भागकर कलकत्ता आ गए। कलकत्ता में रहकर लगभग एक वर्ष तक उन्होने बंगला आदि का अध्ययन किया। शरद् चन्द्र चटर्जी के बंगला उपन्यासों ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। नागार्जुन की प्रथम औपन्यासिक कृति "रतिनाथ की चाची" पर शरत् चन्द्र की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है।

काव्य संस्कार- नागार्जुन में काव्योचित संस्कार काशी पहुंचने से पूर्व ही जागृत हो चुके थे किंतु काशी प्रवास में उन्हें श्री अनिरूद्ध मिश्र के संपर्क में आकर और अधिक पुष्पित और पल्लवित होने का अवसर मिला। नागार्जुन श्री अनिरूद्ध मिश्र को अपना प्रथम काव्यगुरू मानते थे। काशी पहुंचने से पूर्व अनेक संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन कर उन्हें अनुष्टप, वसन्त–तिलका, पृथ्वी, शिखरिणी आदि छन्दों का अच्छा ज्ञान हो गया था। काव्य गुरू अनिरूद्ध मिश्र के आशीर्वाद से उन्होने समस्या पूर्ति शैली में भावों को छंदोबद्ध करना सीख लिया। काशी में कविरत्न सीताराम झा से इनका संपर्क हुआ जिनसे कविता की भाषा, छंद आदि की शिक्षा इन्होने ग्रहण की। श्री सीताराम झा का नागार्जुन की काव्य प्रतिभा को निखारने में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा।

काशी प्रवास (1930–44) के मध्य नागार्जुन ने हिंदी और मैथिली में रचनाएं प्रारंभ करदी थीं। वे कविताएं स्वयं कवि के पास भी उपलब्ध नहीं थी क्योंकि वे इस ओर से प्रायः उदासीन ही थे। यह ज्ञात हुआ है कि कवि के किसी मित्र के परिवार में वे रचनाएं आज भी सुरक्षित हैं। अपने अध्ययन काल में नागार्जुन ने विद्यालय में आयोजित संस्कृत कविता की समस्या पूर्ति प्रतियोगिता में भाग लिया जिसके लिए वे अनेक बार वे पुरस्कृत भी हुए।

नागार्जुन के काव्योचित संस्कार को काशी में उनके गुरूजनों ने अच्छी दृष्टि से नहीं देखा। नागार्जुन का कविता करना उन्हें अच्छा नहीं लगता था और प्रायः कहा करते थे कि लड़का बिगड़ गया है। रात दिन "रजनी–सजनी" की रट लगाए रहता है। किंतु नागार्जुन ने गुरूजनों की सलाह की उपेक्षा की और काव्य–सृजन में लगे रहे। गुरूजनों की इच्छा थी कि नागार्जुन व्याकरण और न्यायशास्त्र के प्रकांड पंडित बने। यह अच्छा ही हुआ कि गुरूजनों का कोई कड़ा अनुशासन नहीं चल पाया नहीं तो एक प्रखर व्यंग्यकार और उपन्यासकार से हिंदी और मैथिली साहित्य वंचित रह जाता।

वैवाहिक जीवन- औपचारिक शिक्षा का अन्तिम वर्ष नागार्जुन ने कलकत्ता में व्यतीत किया और इसी बीच 1932 में लगभग 20 वर्ष की आयु में सम्पन्न परिवार में जन्मी अपराजिता देवी से उनका विवाह हो गया। पत्नी के सानिध्य में नागार्जुन ने तीन–चार मास ही व्यतीत किए थे कि उनका मन गृहस्थी से कुछ विरक्त सा हो गया और 1934 में ही वे अपने यायावरी जीवन में प्रवेश कर गए। लगभग सात

वर्ष के इस घुमक्कड़ी जीवन में उन्होने अनेक स्थानों की देश और विदेश में यात्रा पूरी की और 1942 में पुनः गृहस्थ आश्रम में लौट आए।

गृहस्थी में नागार्जुन फिर से लौटने को उत्सुक नहीं थे क्योंकि मार्क्सवादी विचारधारा के अपनाने के बाद देश की विषम समस्याओं के कारण उनका मस्तिष्क कुछ स्थिर नहीं हो पा रहा था। जब 1940–41 में वे किसान आंदोलन में भागलपुर सैन्ट्ल जेल में आठ मास की सजा काट रहे थे तभी उनके वृद्ध पिता को उनकी जेल में उपस्थिति का सूचना मिली। वृद्ध पिता ने जेलर से विनय की कि जब सजा पूरी हो जाए तो वे तार देकर रिहा होने से पूर्व उन्हें सूचना दे दें ताकि वे अपने पुत्र को आकर ले जाएं। नागार्जुन के जेल से रिहा होने के दिन वे सचमुच भागलपुर सैन्ट्रल जेल के फाटक पर उपस्थित थे और वहीं से वे उन्हें फिर से तरौनी अपने साथ ले गए। इस प्रकार विवश होकर नागार्जुन को पुनः गृहस्थ आश्रम में आना पड़ा।

इस बार नागार्जुन ने अपने सामाजिक दायित्वों को संभालने का संकल्प किया। अपनी पत्नी श्रीमती अपराजिता देवी के प्रति उनके ह्रदय में प्रेम और करूणा थी और साथ ही अपने कर्तव्य के प्रति उपेक्षा के कारण उनके ह्रदय में शायद कुछ पीड़ा भी थी। उग्र और कोधी पिता के प्रति उनके मन में जो कोप था, इस समय तक वह भी समाप्त सा हो गया था। बौद्ध धर्म की दीक्षा के कारण जहां उनके ह्रदय में बुद्ध के विचार छिपे थे वहां आंदोलनों में भाग लेने के कारण मार्क्सवादी विचारधारा भी उनपर अपना प्रभाव डाले हुए थी। यह बुद्ध और मार्क्स का अनोखा संगम था।

नागार्जुन के गृहस्थ आश्रम में लौट आने का अपराजिता देवी के घर वालों ने बड़ी धूम–धाम से स्वागत किया। नागार्जुन कई मास तक अपनी ससुराल में रहे वे जहां भी जाते कोई न कोई सुरक्षा प्रहरी उनके साथ कर दिया जाता ताकि वे फिर कहीं भाग न जाएं। किंतु तरौनी के रूढ़िवादी पंडितों के गले यह बात नहीं उतरी कि सन्यास ग्रहण करने, समुद्रपार जाने तथा बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के बाद भी भला कोई ब्राह्मण रह सकता है। बौद्ध को वे आधा ईसाई और आधा मुसलमान मानते थे क्योंकि बौद्ध मांसाहारी होते हैं और सभी प्रकार के जानवरों का मांस खाते हैं। अतः नागार्जुन को फिर से ब्राह्मण समाज में लिया जाना इन दकियानूसी पंडितों को स्वीकार नहीं था। नागार्जुन के अनेक सम–व्यस्क पंडितों ने इन बूढ़े दकियानूसी पंडितों की एक न चलने दी और

ब्राह्मण समाज में नागार्जुन की वापसी का खुलकर समर्थन किया।

नागार्जुन इसके बाद भी जमकर कभी गृहस्थी में नहीं रह सके। कभी कहीं चले जाते तो कई–कई वर्षों तक परिवार का कोई ख्याल ही नहीं रहता। वे अपने यायावरी जीवन में इतने मस्त हो जाते कि परिवार का दायित्व ही वे भूल जाते। नागार्जुन ने छः संतानों को जन्म दिया किंतु संतानों के पालन–पोषण का दायित्व उन्होने पूरी तरह निभाया नहीं। उनके चार पुत्र और दो पुत्रियां हैं। उनकी सबसे छोटी पुत्री का जून 1974 में ही विवाह हुआ था। बड़े पुत्र शोभाकान्त मिश्र और पत्नी अपराजिता देवी ही इस गृहस्थ की नैया को खेते रहे हैं। नागार्जुन भी यदा–कदा इस और अपना योगदान देते रहते थे। सच तो यह है कि वे गृहस्थी को चलाने में पूरी तरह असमर्थ रहे तभी तो उनके संबंधियों और मित्रों का कहना था कि "ऐसे गृहस्थी से तो सन्यासी ही अच्छा।" नागार्जुन ने स्वयं स्वीकार किया है – "सही अर्थों में न कभी अच्छा पति साबित हो सका, न अच्छा पिता। स्वयं अपने बचपन में पिता को छोड़कर घर से भाग गया था, लगभग पन्द्रह साल उन लोगों की निगाहों से ओझल रह। अब मैं स्वयं छह बालक–बालिकाओं का फूहड़ पिता हूं। फूहड़ इस मामले में कि इन के प्रति कर्तव्यों का पालन नहीं कर पाया।" [९]

यायावरी जीवन- विवाह के तीन–चार मास बाद ही नागार्जुन सन् 1934 में घर छोड़कर निरूद्देश्य यात्रा पर चल पड़े। 1934–35 में लगभग दो–ढाई वर्ष तक वे भारत में ही पंजाब, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, गुजरात, काठियावाड़ आदि प्रदेशों में घूमते रहे। इसके बाद सन् 1936 से 1938 तक वे श्रीलंका में रहे। 1938 के आरंभ में महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की प्रेरणा से तत्कालीन बिहार सरकार ने उन्हें एक प्रतिनिधि मंडल में ल्हासा तिब्बत भेजने का निश्चय किया। अतः नागार्जुन भारत वापस लौट आए।

बौद्ध धर्म में दीक्षित होना - श्रीलंका में केलानिया में 'विद्यालंकार परिवेण' नाम का एक प्राचीन विद्यापीठ है। यह विद्यापीठ कोलम्बो के समीप ही है। "विद्यालंकार परिवेण" विद्यापीठ बौद्ध जगत के प्रसिद्ध विद्यापीठों में से एक है। अनेक भारतीय विद्वानों ने जिनमें महापंडित राहुल सांकृत्यायन , भदन्त आनन्द कौशल्यायन, आचार्य जगदीश कश्यप, भदन्त शान्ति भिक्षु आदि प्रमुख हैं, इस

'विद्यालंकार परिवेण' विद्यापीठ में बौद्ध–धर्म की दीक्षा ग्रहण की। वैद्यनाथ मिश्र ने इसी मंडली में सम्मिलित होकर बौद्ध–धर्म की दीक्षा ली। यह घटना सन् 1936 की है। यहीं वैद्यनाथ मिश्र का नाम 'भिक्षु नागार्जुन' हो गया। हिंदी साहित्य में उन्होंने 'नागार्जुन' नाम से ही रचनाएं की हैं।

संस्कृत भाषा का ज्ञान नागार्जुन को सिंहल द्वीप के प्रवास में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। 'विद्यालंकार परिवेण' विद्यापीठ में नागार्जुन ने संस्कृत के माध्यम से बौद्ध सन्यासियों को व्याकरण और दर्शन आदि की शिक्षा दी। विद्यापीठ के आचार्यों से उन्होने स्वंय भी पालि भाषा के माध्यम से बौद्ध दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया। लगभग दो वर्षों का लंका प्रवास का समय नागार्जुन ने बौद्ध दर्शन के अध्ययन और अध्यापन में व्यतीत किया। यहां रहकर अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी उन्होने प्राप्त किया क्योंकि अंग्रेजी की जानकारी यहां आवश्यक अनुभव हो रही थी।

काशी में अपने अध्ययनकाल में ही नागार्जुन को बौद्धों का 'समता वाला सिद्धान्त' ज्ञात हो चुका था। साथ ही अध्ययन के अगले वर्षों में उन्हें पालि भाषा से अनुदित बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करने का अवसर मिला। इन ग्रंथों की सामग्री उन्हें बड़ी रूचिकर लगी। अतः पालि का उन्हें श्री लंका जाते–जाते अच्छा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो गया था। 'विद्यालंकार परिवेण' विद्यापीठ में उनके अध्यापन की अच्छी धाक जम गई थी क्योंकि संस्कृत के माध्यम से शिक्षा देने वाले भारतीय विद्वानों की बौद्ध देशों में बड़ी प्रतिष्ठा थी। आज भी लंका, बर्मा तथा इण्डोचीन आदि देशों में ऐसे भारतीय विद्वानों का बड़ा सम्मान किया जाता है। अने भाषाओं का ज्ञान होने के कारण नागार्जुन अपने छात्रों एवं साथियों के मध्य बहुत ही लोकप्रिय हुए। 1938 में जब वे भारत लौटने लगे तो विद्यापीठ के आचार्य, अध्यापकों तथा छात्रों को बड़ा दुख हुआ क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि नागार्जुन जैसे विद्वान उन्हें छोड़कर चले जाएं।

जैनमुनियों से भी अपनी निरूद्देश्य यात्रा के मध्य ही नागार्जुन का संपर्क स्थापित हुआ। प्राकृत भाषा का ज्ञान यहां उनके लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ।

श्रीलंका जाने से पूर्व श्री रत्नचन्द्र जी उनके संपर्क में आए और उन्होंने नागार्जुन को तरूण जैनमुनियों के अध्यापनार्थ मौखी काठियावाड़ भेज दिया। मौखी का पानी और जलवायु नागार्जुन के स्वास्थ्य के लिए प्रतिकूल सिद्ध हुआ।

अतः स्वास्थ्य गिरने लगा। मजबूर होकर नागार्जुन काठियावाड़ छोड़कर श्रीलंका की यात्रा पर चले गए।

किसान आंदोलन और राजनीति- श्रीलंका में व्यतीत हुए दो वर्षो ने नागार्जुन की विचारधारा में परिवर्तन कर दिया। उनका झुकाव वामपंथ की ओर हो गया। "लंका सम–समाज" के क्रांतिकारी नेताओं के संपके में आना उनके इस झुकाव का प्रमुख कारण था। भारत में बिहार प्रान्त में इस समय किसानों के महान नेता स्वामी सहजानन्द के नेतृत्व में किसान आंदोलन चल रहा था। नागार्जुन का उनसे बराबर संपर्क बना हुआ था और पत्रों के माध्यम से नागार्जुन को बिहार के इस किसान आंदोलन की पूरी जानकारी बनी रहती थी। 1938 में श्रीलंका से लौटकर इस आंदोलन में कूद पड़े और यहां से उनके जीवन में सक्रिय राजनीति का श्री गणेश हुआ।

बिहार में जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण तथा तत्कालीन सरकार द्वारा किसानों की उपेक्षा से नागार्जुन को शासक वर्ग से घृणा सी होने लगी। देश की बदलती हुई राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों तथा जन–साधारण के प्रति अपने कर्तव्य में असफल रहने के कारण नागार्जुन का झुकाव अब मार्क्सवाद की ओर हो गया। उन्हें किसानों और मजदूरों से सच्ची सहानुभूति थी अतः स्वामी सहजानन्द के नेतृत्व में चल रहे किसान–आंदोलन में नागार्जुन पूरे जोश से कूद पड़े और एक कृषक नेता के रूप में कुछ ही समय में लोकप्रिय हो गए। अपनी लोकप्रियता और सक्रियता के कारण 1938 में जेल यात्रा भी करनी पड़ी।

अमबारी जिला छपरा के जमींदारों के शोषण के विरूद्ध वहां के खेतिहर मजदूर तथा किसान एकजुट होकर खड़े हो गए थे। महापण्डित राहुल भी अपनी द्वितीय रूस यात्रा से लौटकर किसानों का नेतृत्व करने लगे लेकिन जमींदार के गुंडों द्वारा उनकी जमकर पिटाई की गई। अनेक घाव उनके शरीर पर हो गए थे किंतु वाह री सरकार! पुलिस ने उल्टे राहुल जी को ही गिरफ्तार कर लिया। राहुल जी के बाद नागार्जुन के नेतृत्व में यह आंदोलन और भी अधिक उग्र हो गया और परिणाम नागार्जुन की गिरफ्तारी के रूप में निकला। लगभग 10 माास तक नागार्जुन छपरा तथा हजारी बाग सैन्ट्रल जेल में रहे। यह उनकी प्रथम जेल यात्रा थी।

विश्व में द्वितीय विश्व युद्ध चल रहा था। महान क्रान्तिकारी नेता सुभाषचन्द्र बोस के संपर्क में आने का भी नागार्जुन को सौभाग्य मिला किंतु यह संपर्क बहुत थोड़े दिन के लिए ही था। भारत के इस महान नेता के साथ नागार्जुन का पत्र व्यवहार भी कुछ समय तक चला। भारतीय नेता और जनता इस युद्ध से अपने आपको दूर रखना चाहती थी किंतु ब्रिटिश सरकार इसकी परवाह न कर जनशक्ति और प्रचुर मात्रा में धन को द्वितीय विश्व युद्ध में झोंके जा रही थी। राष्ट्रवादी और वामपंथी विचारधारा के लोग डटकर ब्रिटिश सरकार का विरोध कर रहे थें उनका नारा था – " न एक पाई न एक भाई" । नागार्जुन ने पूरी शक्ति से इस आंदोलन में भाग लिया। स्वंय सेवकों के अनेक शिविरों का आयोजन, किसान–संघर्ष का नेतृत्व तथा प्रचार सामग्री का प्रकाशन नागार्जुन के प्रमुख कार्य थे। आंदोलन में भाग लेने वाले कार्यकर्ताओं के निर्वाह की व्यवस्था की ओर भी उन्होने ध्यान दिया और इस व्यवस्था में वे जुट गए। फारवर्ड ब्लाक ने एक युद्ध विरोधी पोस्टर जारी किया। नागार्जुन इसमें अपना पूरा योगदान दे रहे थे जिसके कारण उन्हें 1940 में दूंसरी बार जेल यात्रा करनी पड़ी और इस बार उन्होने भागलपुर सैन्ट्रल जेल में 8 मास की सजा काटी।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भी नागार्जुन ने शोषितों और सर्वहारा वर्ग के प्रति कार्य करना जारी रखा। वे मृत्यु–पर्यन्त देश में घटित होने वाली प्रत्येक घटना पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते रहे चाहे वह बेलछी कांड हो या चीन का आक्रमण, कांग्रेस के बंटवारे की बात हो या सत्ता परिवर्तन की, उन्होंने अपने विचारों को बिना लाग लपेट के अभिव्यक्त किया। सन् 1975 में तत्कालीन कांग्रेस शासन के विरूद्ध लोकनायक जय प्रकाश ने अपना आंदोलन चलाया। "संपूर्ण क्रांति" वाले इस आंदोलन के समर्थन में नुक्कड़ों पर काव्य पाठ किया। कांग्रेस शासन को नागा बाबा का यह रूप अप्रिय लगा फलस्वरूप उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इस बार वे 1 जून 1975 से 26 अप्रैल 1976 तक कारावास में रहे। इस कारा–जीवन में उन्हें अब तक पिछली दो जेल यात्रओं की तुलना में अधिक समय रहना पड़ा। 10 मास की इस लम्बी अवधि में वे सिवान, छपरा तथा केन्द्रीय कारागार बक्सर में रहे। "संपूर्ण क्रांति" का यह आंदोलन क्योंकि आर्थिक मुद्दों पर आधारित नहीं था।[10] अतः नागा बाबा का जो मोह इस आंदोलन के बारे में था वह भंग हो गया। इस प्रकार बिना किसी पार्टी का सदस्य बने, नागार्जुन राजनीति से स्वंय को अलग नहीं रख पाए और वे चाहते थे कि जैसे भी सर्वहारा

वर्ग के कल्याण के लिए शासन ठोस कार्य करके दिखाए। इसके लिए उन्होने अनेक बार जेल यात्राएं की।

मसि जीवी - ब्रिटिश शासन काल में नागार्जुन की जेल यात्रओं के बाद उनकी उग्र विचारधारा के कारण अनेक गुप्तचर उनके पीछे लगे रहते थे। गृहस्थाश्रम में फिर से लौटने पर उनके पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई किंतु साथ ही उन्हें यह भी क्षोभ हुआ कि पुत्र ने अपने जीवन के अनेक वर्ष व्यर्थ में गंवा दिए। दो बार जेल यात्रा करने के बाद सरकारी नौकरी मिलने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। अतः पुत्र के भविष्य के बारे में गोकुल मिश्र को बड़ी चिंता थी। अकेले पुत्र की ही बात होती तो इतनी चिंता न होती पर विवाह के बाद बाल–बच्चों के पोषण की भी विकट समस्या थी।

पिता की इस चिंता का समाधान करने के लिए नागार्जुन ने एक नया ही हल खेज निकाला। उन्होने आठ–आठ पृष्ठों वाली दो 'कितबिया' मैथिली की लोकप्रिय शैली में लिखकर छपवाई। वे सुबह ही घर से निकल जाते। अपने साथ दोनों 'कितबियों' का बण्डल संभाले हुए कभी ट्रेन में तो कभी बस में और कई–कई दिन बाद लौटते। इन आठ पृष्ठों वाली किताबों की बिक्री खूब हुई। नागार्जुन जब घर वापिस लौटते तो रेजगारी का एक ढ़ेर पिता के आगे उलट देते। गोकुल मिश्र अपने पुत्र की इस नई खूबी से चकित रह गए और बोले "यह काम तो मैं भी कर सकता हूं, हाट बाजार में दस–बीस कितबिया जरूर बेच आउंगा। अपना तम्बाकू और घर की सब्जी का खर्च चलेगा। बहू यहीं रहेगी। तुम बाहर चले जाओ। अच्छी–भली नौकरी ढूंढ लो।" पर नागार्जुन के भाग्य में नौकरी पाना कहां बदा था? और नौकरी भी बिहार सरकार ऐसे युवक को देती जो कई बार जेल जा चुका हो?

पिता के अनेक बार कहने पर नागार्जुन अपनी आजीविका की तलाश में बिहार राज्य को छोड़कर पंजाब आ गए। इस बार उन्होने अपना केन्द्र लुधियाना को बनाया। कुछ समय बाद वह अपनी पत्नी अपराजिता देवी को भी अपने साथ ले आए। लुधियाना में जैनमुनि आत्माराम जी महाराज ने नागार्जुन को अपने साहित्यिक कार्यों के लिए रख लिया। जैन दर्शन को समझने और समझाने में इस बार भी प्राकृत भाषा का ज्ञान उनके लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। पर नागार्जुन अधिक समय तक यहां न रह सके। शायद एक स्थान पर

जमकर रहना उनकी जन्म–कुण्डली में नहीं लिखा। लुधियाना के बाद वे सहारनपुर उ0प्र0 में आए और एक संस्कृत पाठशाला में कुछ समय तक अध्यापन कार्य किया।

1943 में अपने पिता गोकुल मिश्र के स्वर्गवास के पश्चात नागार्जुन पुनः अपने पैतृक ग्राम तरौनी लौट आए। घर पर सम्पत्ति के नाम पर कुल मिलाकर इस समय 10 कटठा ज़मीन उनके पास थी। ज़मीन की देखभाल का दायित्व इस बार उनकी पत्नी श्रीमती अपराजिता देवी ने संभाला। 10 कटठा भूमि यद्यपि जीवन–यापन करने के लिए अपर्याप्त थी किंतु सामाजिक दृष्टि से अनेकानेक सुविधाएं उन्हें ग्राम में रहकर ही प्राप्त हो सकती थीं। अतः अपराजिता देवी ने तरौनी में ही रहने का निश्चय कर लिया। नागार्जुन अपने मैथिली नाम 'यात्री' को सार्थक करते हुए अपनी यात्रा पर पुनः निकल पड़े। अब उन्होने साहित्य जगत में उपन्यासकार के रूप में प्रवेश करने का निश्चय किया। उनकी प्रथम औपन्यासिक कृति "रतिनाथ की चाची" का प्रकाशन 1948 ई0 में हुआ।

अनेक प्रकाशकों ने नागार्जुन को जी भरकर लूटा है। पाण्डुलिपि लेकर जो मर्जी में आया उन्हें थमा दिया। कभी कापीराइट के और कभी कमीशन के नाम पर उन्हें ठगा। इससे दुःखी होकर कवि ने 'यात्री प्रकाशन' के नाम से अपना प्रकाशन संस्थान खोला जिसमें अपने काव्य संकलन उन्होंने प्रकाशित किए। किंतु वही हुआ, जिसका डर था नागार्जुन जैसा यायावर भला प्रकाशन का धंधा कैसे संभालता? प्रकाशन कुछ ही वर्षों में बन्द हो गया। उनके बड़े पुत्र शोभा कान्त मिश्र ने भी 1974–75 में 'अनामिका प्रकाशन' के नाम से एक अन्य संस्थान चालू किया किंतु 'अनामिका प्रकाशन' का हाल भी 'यात्री प्रकाशन' जैसा ही हुआ।

व्यक्तित्व स्वरूप- व्यक्तित्व का बाह्य पक्ष आकृति, वेशभूषा, रहन–सहन, खान–पान, व्यसन–व्यवहार, हास–परिहास, बोलचाल आदि से संबंध रखता है। उसका आन्तरिक पक्ष स्नेह–सद्भाव, विविध मनोवृत्तियों तथा स्वभाव आदि से संबद्ध होता है। मन पर व्यक्तित्व की जो छाप समग्र रूप में पड़ती थी, वह प्रायः अविभाज्य होती थी। नागार्जुन की कविताएं और उपन्यास आदि पढ़कर पाठक के मन में उनके साहित्यकार रूप की जो कल्पना होती होगी, प्रत्यक्ष दर्शन में उन्हें उससे बिल्कुल भिन्न पाते थे। प्रायः ऐसा होता था कि प्रथम

परिचय पर पाठक सहसा विश्वास ही नहीं कर पाता कि यही व्यक्ति नागार्जुन है। नाम बड़े दर्शन थोड़े की कहावत मुझे भी उनके प्रथम दर्शन पर चरितार्थ लगी। यह सत्य है कि नागार्जुन ने दर्शन को थोड़ा रखकर ही अपना नाम बड़ा किया है। अपने चारों ओर की दर्शनीयता को उन्होने नहीं बटोरा। रूप भी उन्होने आकर्षक नहीं पाया। इतने से ही मानों नागार्जुन संतुष्ट नहीं थे। शायद उन्होने यह भी ध्यान रखा कि उनका बाह्य रूप किसी तरह आकर्षक न बन जाए। दुबला पतला औसत कद का शरीर, मोटा खद्दर का कुर्ता, पाजामा, आंखों पर साधारण फ्रेम का चश्मा, बढ़ी हुई सी बेतरतीब दाढ़ी, कंधे पर लटकता हुआ थैला मानों घोषित करना चाहते हों कि मैं सम्भ्रम के योग्य प्राणी नहीं हूं। वे स्वयं को साधारण से साधारण समझते थे। जो हैं, सो हैं। न अधिक मानते थे, न दीखते थे। नागार्जुन के बाह्य दर्शन में ऐसा कुछ नहीं था जो उन्हें असाधारण सिद्ध कर सके। अपने रूप और वेश में वे सच्चे भारतीय प्रतीत होते थे।

नागार्जुन का जीवन सादा था, क्या खान–पान में, क्या रहन–सहन में, क्या मेल मिलाप, क्या घर और क्या बाहर। उनके स्वभाव में ऋजुता और आचरण की सरलता थी। उनकी महानता उनके सहज आचरण, सरल व्यवहार तथा सादी वेशभूषा में सिमट नहीं पाती थी। खानपान में नागार्जुन सरल थे पर सुस्वादु पदार्थों के प्रशंसक भी। भोजन में वे संयम रखते थे और प्रायः सादा भोजन करते थे। उनके यायावरी जीवन में कुछ निश्चित कार्यक्रम भोजन के लिए नहीं बन पाता। जहां जब जैसा मिला वे सहज भाव से स्वीकार कर लेते थे। संध्या का अधिकांश समय यदि सुलभ हो तो प्रायः काफी हाउस में ही अपने प्रशंसकों और मित्रों के साथ व्यतीत करने में उन्हें आनंद आता था।

उन्हें सिगरेट या हुक्का का व्यसन नहीं था, हां पान के सेवन से उन्हें परहेज नहीं था। आज के युग में जबकि चाय का अत्यधिक प्रचलन है वे इसके भी आदी नहीं थे पर कोई परहेज भी नहीं था।

नागार्जुन अपने व्यवहार में हार्दिक थे। वे व्यवहार में त्रुटि कर सकते थे। सभ्यता के कृत्रिम नियमों को तोड़ सकते थें, पर न अपनी हार्दिकता को छोड़ सकते थे, न दूसरों का प्रेम विस्मृत कर सकते थे। अपने भावों को दबाकर वे कोई भी आचार–व्यवहार नहीं कर पाते थे। छोटा हो या बड़ा, युवक हो या वृद्ध सभी श्रेणियों और वर्गो के लोगों के साथ सरलतापूर्वक अपनत्व स्थापित कर लेते थे जो उनके प्रेम, वात्सल्य अथवा करूणा के पात्र थे, उनकी यथोचित

सहायता किए बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। अकेले रह सकना उनके लिए संभव नहीं था अतः प्रायः दो चार व्यक्तियों से वे घिरे रहते। मिलने के लिए उनके पास कोई न कोई आता ही रहता था क्योंकि उनका कोई निश्चित पता ठिकाना नहीं रहता अतः कब कहां मिलेंगे यह मालूम करना बड़ा कठिन होता था। उनके अनेक मित्र भारत भर के प्रमुख नगरों और कस्बों में बिखरें हैं अतः जहां भी जाते थे किसी मित्र के घर पर ही ठहरते।

नागार्जुन सच्चे और निष्कपट व्यक्ति थे। नागरिकता के आधुनिक कुप्रभाव से वे अछूते रहे। छल–छद्म उनके पास था ही नहीं। ग्राम्यत्व उनके व्यक्तित्व का आभूषण था और सच्चरित्रा उनके सरल जीवन का सौष्ठव। स्पष्टवादिता का गुण उनके व्यक्तित्व का प्रमुख आकर्षण था। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' नागार्जुन की काव्यकला तथा स्पष्टवादिता के प्रशंसक थे। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को उन्होने एक पत्र में लिखा था – "नागार्जुन की गरीबी अब देखी नहीं जाती। परसों प्रण किया है कि उसके लिए कुछ न कुछ व्यवस्था करूंगा। किंतु वह निर्धन और साधनहीन प्रण जिसका पूरा होना ईश्वरीय कृपा पर निर्भर है। रांची में उसने जवाहरलाल जी पर एक कविता सुनाई जो उत्तम कोटि की थी। उत्तम से नीचे तो वह लिखता ही नहीं और कितना सरल, निःस्पृह तथा निश्छल है नागार्जुन!" [11]

नागार्जुन विनोद प्रिय थे। उनका विनोद भी सहृदयता भरा होता था, उसमें तीखापन नहीं हाता था यद्यपि वे साहित्यिक रूप से एक प्रखर व्यंग्यकार थे। साहित्य–चर्चा उनकी दिनचर्या का प्रमुख अंग थी। नए लेखकों से मिलने पर वे उन की रचनाओं को रूचिपूर्वक सुनकर प्रेरणा भी देते थे और अगर मूड बन जाए तो जमकर अपनी नवीनतम रचनाएं सुनाते थे। उनमें आत्मविश्वास इतना गहरा था कि वे कभी निराश नहीं होते। रचनाकार के रूप में न तो वे किसी सीमा से बंधे और न ही व्यक्ति के रूप में। उन जैसा जीवन जीना हर किसी के बूते की बात नहीं।

भारतीय ग्राम्य जीवन की विशेषताओं से सम्पन्न होते हुए भी कतिपय वैयक्तिक गुणों से विभूषित थे। निर्धन ब्राह्मण परिवार में जन्मे इस साहित्यकार ने बचपन से ही अभावों का ठेठ आसव पिया था जो उसकी अभिव्यक्ति के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ। उनके हृदय में निम्नवर्गीय करोड़ों भारतीयों के लिए दुःख दर्द छिपा हुआ था। उनके व्यवहार में स्पष्ट रूप से इस की छाप देखी जा

सकती थी। नागार्जुन का व्यक्तित्व उनकी साधारणता में ही असाधारण दिखाई देता था। वे वास्तव में बौद्ध नहीं, करूणा द्रवित मनुष्य थे। वे कम्युनिस्ट नहीं प्रगतिशील थे तथा लोकांक्षा के सहचर थे सच्चे आधुनिक कबीर।

विचारधारा - श्रीलंका प्रवास में ही नागार्जुन की विचारधारा का झुकाव वामपन्थ की ओर हो गया था क्योंकि भारत की निर्धन जनता के कल्याण के लिए नागार्जुन के मत से वामपन्थी विचारधारा को अपनाया जाना आवश्यक था। सोवियत रूस की प्रगति का उदाहरण विश्व के सामने है। अतः नागार्जुन अन्य समकालीन कवियों की रचनाओं में साम्यवाद का समर्थन तथा रूस तथा चीन के प्रति प्रशंसा के भाव देखने को मिलते हैं। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार और अन्तरिम कांग्रेसी सरकार के कार्यकलापों ने कवि की वामपंथी विचारधारा को और अधिक दृढ़ कर दिया।

नागार्जुन पहले भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। 1962 में जब चीन ने भारत पार आक्रमण किया और कम्युनिस्ट पार्टी में इस आक्रमण की जो प्रतिक्रिया हुई, उसे देखकर उन्होने पार्टी से तटस्थ हो जाने का निर्णय लिया। भारत में जब कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन हुआ तो उनका झुकाव दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों में से किसी की ओर भी नहीं रहा। किसी भी पार्टी का समर्थन नागार्जुन उसके कार्यकलापों को देखकर ही करते थे। किसी पार्टी से उन्होने स्वयं को बांधा ही नहीं। सिद्धान्तः वे मार्क्सवादी थे। अतः शोषित समाज की पीड़ा और वर्ग संघर्ष उनकी रचनाओं में पूरी तरह उभरकर सामने आया है।

नागार्जुन को भारत भूमि से असीम प्रेम था। कोई भी देश चाहे वह चीन हो या रूस भरत पर आक्रमण करे या भारत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करे यह उन्हें सहन नहीं होता था। चीनी आक्रमण से पूर्व जहां वे चीन के प्रशंसक थे वहां बाद में चीन की विस्तारवादी नीतियों के प्रति उन्होने तीखा व्यंग्य किया। कवि ने स्वंय भी राइफल लेकर युद्ध में जाने की घेषणा की। रूस की साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध भी उन्होने किया। चेकोस्लाविया में रूसी हस्तक्षेप की उन्होने निंदा की तथा नेता दुबचेक और चेकोस्लाविया के समर्थन में रचनाएं लिखीं। इसी प्रकार पाकिस्तानी आक्रमण पर भी उन्होने जनता के मनोबल को ऊंचा रखने के लिए रचनाएं कीं। स्पष्ट है कि वे भारत भूमि पर किसी का हस्तक्षेप सहन नहीं करते थे चाहे वह कम्युनिस्ट देश हो या कोई अन्य।

1975 में जयप्रकाश नारायाण के 'समग्र क्रांति' के आंदोलन में वे कूद पड़े क्योंकि उन्होने सोचा था कि जयप्रकाश के नेतृत्व में सही अर्थों में भारत में क्रांति आ जाएगी और उन्होने अपना पूरा योग दिया। बाद में इस आंदोलन से उन्हें निराशा ही हाथ लगी और उन्होने इसके खोखलेपन पर अपनी रचनाओं में तीखा व्यंग्य किया। एक भेंटवार्ता में उन्होने कहा – "मेरी भावुकता बीमारी की हद तक पहुंच जाती है। भावुकता के दौरे आते रहे हैं। संपूर्ण विश्व में रचनाकारों पर ये दौर आते रहे हैं। परंतु इसे भ्रांति समझकर सही राह की ओर वापस जाना मेरे लिए इसी वजह से संभव हुआ कि किसी निकृष्ट स्वार्थ से मैं परिचालित नहीं था। बंगाल के वामपंथी दलों से प्रभावित बुद्धिजीवियों का जे0 पी0 आंदोलन के प्रति जो झुकाव रहा है, उसकी छाया कहीं न कहीं मेरे अवचेतन पर अवश्य पड़ी है। गनीमत है कि मैने कारा जीवन के एकांत में अपनी इस बहक को महसूस किया।——–'संपूर्ण क्रांति' वाले इस आंदोलन पर दक्षिण पंथी, संप्रदायवादियों और प्रतिक्रियावादियों का कब्जा हो गया था। बाहर नुक्कड़ों पर काव्यपाठ के समय यह कड़वी सच्चाई बिल्कुल सामने नहीं आई थी।"[12]

नागार्जुन ने एक दशक पूर्व भी क्रांति नायक जयप्रकाश के संबंध में एक मैथिल कविता में लिखा था कि नए युग के महामुनि की विशेषता यह है कि उसकी पीठ तो वियतनाम की तरह हो कई है और चेहरा तिब्बत की तरह। फिर भी यह स्पष्ट है कि नागार्जुन एक लज्जित लेकिन अकड़ू वामपंथी कभी नहीं रहे – उन्होने आत्मस्वीकृति और आत्मलोचन को सदैव स्वीकारा। उनके इस वाक्य से ही उनकी इस विचारधारा का पता जगता है जो जयप्रकाश जी के आंदोलन के बारे में उन्होने कहा था – "मैं वैश्या की गली में जाकर लौट आया – और तमाशा घुस के देखा।"[13]

नागार्जुन सामाजिक चेतना के गायक थे। भारत की जनता के दुःख–दर्द को वे जितना अच्छा समझ सकते थे उतना शायद बिरले ही साहित्यकार समझ पाते हैं। कारण यही कि उन्होने उन समस्त दुःख–दर्दों को स्वयं झेला। इसी लिए इस विद्रोही कवि ने जनजीवन को उन्नत बनाने के लिए जागरण का मंत्र फूंका, जनजीवन को यातना एवं प्रताड़ना से बचाने के लिए क्रांति का आह्वान किया, जनजीवन की सुख–सुविधायें प्रदान करने के लिए अन्याय और अत्याचार का विरोध किया। निस्संदेह ऐसा ही साहित्यकार भारत की विराट निम्नवर्गीय जनता का सच्चा सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व कर सकता था।

मार्च 1977 में कांग्रेस शासन की समाप्ति से उन्हें प्रसन्नता हुई किंतु जनता सरकार के 10 मास के कार्यकलापों से उन्हें निराशा हुई। वे जनता सरकार की गलत नीतियों पर भी तीव्र प्रहार करने से नहीं चूके। मार्च 1977 में वोट द्वारा सत्ता परिवर्तन को वे 'वोट क्रांति' की संज्ञा देते हैं। उन्होने कहा कि यह गलत हुआ क्योंकि समग्र क्रांति के आने से पहले ही यह 'वोट क्रांति' महान क्रांति के गुब्बारे के लिए 'सेफ्टी वाल्ब' का काम कर गई।[14] वे ऐसे राज्य की कल्पना करते थे जो शोषण मुक्त हो और जिसमें सर्वहारा वर्ग को उचित स्थान मिले। कोई भी सरकार जो श्रमिक और किसानों की भलाई करने में असमर्थ रहती, नागार्जुन उसे व्यंग्यबाण का निशाना बनाते थे और अपने संदेश को जनसाधारण तक पहुंचाना चाहते थे जिससे लोगों में अपने अधिकारों के प्रति सजगता आये। वे सही अर्थों में श्रमिकों तथा किसानों का समर्थन करते थे।

नागार्जुन की रचनाओं में तीखे व्यंग्य के लिए जब उनसे पूछा गया तो उन्होंने कहा – "मुझमें तुम सुगंधित शब्दावली की आशा मत करना। ------ देश में अशांति और अराजकता की मौजूदा स्थिति देखकर मैं उद्विग्न नहीं हूं। मुझे तो परम प्रसन्नता होती है कि यह सब गूंगेपन का निशान नहीं है। हमारी सामूहिक बेचैनियों का महालक्षण है यह। लगता है समूचा देश, समूचा राष्ट्र कोढ़ के महारोग से आक्रांत हो उठा है। देश के विभिन्न क्षेत्रें में चल रहे इन आंदोलनों के रूप में हमारी न केवल आधुनिक बल्कि पुरातन काल से चली आ रही माहव्याधियां गलित कुष्ठ के रूप में फूट रही हैं। मैं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में आस्था रखता हूं तदानुसार "मर्ज का हद से गुजरना है दवा हो जाना।" नागार्जुन के इस कथन से उनकी विचारधारा का पता चलता है। जो बात उन्होने वर्षों पूर्व कही थी आज भी सत्ता परिवर्तन के बाद वही स्थिति बनी हुई है।

डा0 रमेश कुन्तल मेघ ने नागार्जुन के बारे में लिखा है – "मूलतः निम्न–बुर्जुआ चेतना से नागा बाबा आज तक मुक्त नहीं हो सके। ऐसी स्थिति में व्यवहार और अनुभववाद का ही बोलबाला प्रगतिवादी अमल की सज्ञा पा गया और क्रांतिकारी अमल उग्रपंथी राजनीतिक खतरे के रूप में तिरस्कृत कर दिया गया। नागार्जुन ने भी ऐसे अमल से विचार को भी पंगु और बौना बनाकर लुंज पुंज कर दिया।[16] हो सकता है डा0 मेघ का आरोप कुछ अंशों में सही हो क्योंकि नागा बाबा की विचारधारा समय–समय पर बदलती रही है। उन्होने स्वीकार किंया है कि "हिंदी का स्वंयभू साहित्यकार यदि इस बात का आग्रह रखेगा कि

वह शासन की 'हां' में 'हां' नहीं मिलायेगा तो उसकी कैसी स्थिति होगी, बहुत हद तक इस कटु सत्य का अनुभव मुझे होता आया है। मगर मेरा भी पल्ला कहीं कोई खींच लेता है और मैं जुल्मों और अन्यायों के खिलाफ उतना मुखर नहीं हो पाता, जितनी नई पीढी को मेरे जैसे बुजुर्ग से आशा रहती होगी। लगता है हर कुएं में भंग घोल दी गई है और मुझे भी इन कुओं का पानी पीना पड़ता है। ------ यह ऐसा युग है जिसमें कथन और आचरण में सामंजस्य रख पाना पागल के लिए ही संभव है।[17] स्पष्ट है साहित्यकार की भी कुछ सीमाएं होती हैं जिनमें रहकर उसे कार्य करना होता है और आर्थिक स्थिति इसके लिए प्रमुख रूप में उत्तरदायी है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नागार्जुन मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभवित थे तथा उन्होने इस विचारधारा को त्रिपथगा की संज्ञा दी थी। वे व्यक्ति नहीं समूचा जन चरित्र थे। बहुत से तथाकथित बड़े साहित्यकार कभी दबी और कभी खुले तौर पर भी नागार्जुन की धुरी हीनता पर आसान टिप्पणी कर देते थे कि वे कभी इधर और कभी उधर की बात करने लगते हैं। नागार्जुन की मृत्यु से पूर्व भारतीय जनता पार्टी पर की गई टिप्पणी पर कि उसे भी प्रशासन चलाने का मौका दिया जाना चाहिये, इतना हंगामा खड़ा हो गया कि उनके पुत्र शोभाकान्त मिश्र को इस बयान का खण्डन करना पड़ा। वे जड भरत वामपंथी कभी नहीं रहे समय के साथ–साथ अपना रास्ता भी बदल देते थे। जब उन्हें लगता कि उनका रास्ता सही नहीं है और इससे आम जनता की स्थिति में कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है तो तुरन्त ही उन्होने रास्ता बदल दिया। यह उनकी जन प्रतिबद्धता की ही निशानी थी। हिन्दी में संभवतः अन्तिम कवि व्यक्तित्व थे जिन पर निराला की छाप थी पर कई अर्थों में निराला से भिन्न भी थे। आपात काल में इंदिरा गांधी पर कविताओं के कड़े प्रहार उन्होने किये फिर भी उ0प्र0 हिन्दी संस्थान से पुरस्कार भी पाया। यह नागार्जुन जैसा कवि व्यक्तित्व ही कर सकता था। उस समय उन्होने कहा था कि पुरस्कार पाने के बाद मैं चारण बन जाऊं और मेरी कविता की दिशा ही बदल जाये तब तो खतरा है वरना पुरस्कार से क्या बैर? वे भारत की जनता की राजनीतिक जागरूकता के प्रति बड़े आशावान रहे।

हिंदी साहित्य में अवतरण - हिंदी साहित्य में नागार्जुन की रूचि छात्र–जीवन से ही रही है। हिंदी में उनकी सर्वप्रथम रचना "राम के प्रति" कविता थी जो

लाहौर से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक पत्र विश्वबंधु में सन 1935 में प्रकाशित हुई। हिंदी में इस रचना के लिखने से पूर्व उनकी प्रथम मैथिली रचना सन् 1930 में लहेरिया सराय से प्रकाशित होने वाले पत्र में प्रकाशित हुई। मैथिली और संस्कृत दोनों भाषाओं में नागार्जुन ने रचनाएं की। हिंदी में उनके प्रथम काव्य संकलन 'युगधारा' (1953) के प्रकाशन से पूर्व अनेक प्रमुख हिंदी पत्र–पत्रिकाओं में उनकी रचनाएं प्रकाशित हो चुकीं थीं। 'रजनीगंधा' (1939), 'चातकी' (1939) जैसी कविताओं के प्रकाशित होते ही नागार्जुन की गणना देश के प्रमुख प्रगतिववादी कवियों में होने लगी थी। इस संकलन के प्रकाशित होने से पूर्व 'चना जोर गरम' जैसी लघु पुस्तिका के प्रकाशन ने नागार्जुन को और भी अधिक लोकप्रिय बना दिया। बाद में 'सतरंगे पंखों वाली' (1959) तथा 'प्यासी पथराई आंखें' (1962), भस्मांकुर (1971) खण्ड काव्य उनके प्रमुख काव्य संकलन हैं जिनमें 1939 से लेकर 1962 तक की उनकी स्फुट रचनाएं संगृहित हैं।

उपन्यास के क्षेत्र में उनको ख्याति 'बलचनमा' (1952) से मिली यद्यपि उससे पूर्व 'रतिनाथ की चाची' (1948) का प्रकाशन हो चुका था। आंचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में वे बेजोड़ हैं। 'बाबा बटेसरनाथ', 'नई पौध', 'उग्रतारा', 'दुखमोचन', 'कुंभीपाक', 'इमरतिया', 'हीरक जयन्ती', उनकी प्रसिद्ध औपन्यासिक रचनाएं हैं। नागार्जुन बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। काव्य, उपन्यास, बाल साहित्य निबंध तथा अनुवाद सभी में उन्हें निपुणता प्राप्त थी। एक अच्छे सम्पादके के रूप में सन 1935 में साहित्य सदन, अबोहर पंजाब से निकलने वाले मासिक पत्र 'दीपक' का सम्पादन कर, अपनी धाक पहले ही जमा चुके थे। इसके अतिरिक्त लाहौर से निकलने वाले साप्ताहिक पत्र 'विश्व बंधु', हैदराबाद सिंध से प्रकाशित होने वाले पत्र 'कौमी आवाज' का भी उन्होने 1942–43 में सम्पादन किया।

नागार्जुन की साहित्यिक कृतियां -

नागार्जुन जैसे फक्कड़ तथा घुमक्कड़ साहित्यकार ने अनेक भाषाओं में रचना की है। संस्कृत, मैथिली, तथा हिंदी में लिखी कई उनकी रचनाएं बड़ी लोकप्रिय हुई हैं। उनके द्वारा रचित ग्रंथों का विवरण इस प्रकार है –

(क) संस्कृत ग्रंथ - 'धर्मालोक शतकम्' नागार्जुन द्वारा रचित संस्कृत भाषा का लघु प्रबंध काव्य है जो सिंहली लिपि में प्रकाशित हुआ है। 'देश-दशकम्', 'कृषक दशकम्' तथा 'श्रमिक दशकम्' संस्कृत कविताओं के सुन्दर संग्रह हैं।

(ख) मैथिली ग्रंथ - नागार्जुन ने मैथिली भाषा में 'यात्री' उपनाम से रचनाएं की हैं। वे मैथिली के श्रेष्ठ उपन्यासकार तथा कवि हैं। कवि के रूप में उनकी लोकप्रियता का यह प्रमाण है कि साहित्य अकादमी द्वारा उनके मैथिली काव्य संकलन 'पत्रहीन नग्न गाछ' को 1969 में पुरस्कृत किया गया। हिंदी की भांति मैथिली में भी दोनों विधाओं – उपन्यास तथा काव्य में समान सफलता मिली है।
काव्य संगह – 'चित्र' तथा 'पत्रहीन नग्न गाछ'
उपन्यास – 'पारो', 'नवतुरिया' तथा 'बलचनमा',

(ग) हिंदी ग्रंथ - मैथिली तथा संस्कृत की अपेक्षा नागार्जुन ने हिंदी में अधिक लिखा है। अब तक उनके ग्यारह उपन्यास, चार काव्य संकलन तथा अनेक लघु काव्य पुस्तिकाएं, निराला पर एक लघु प्रबंध, बालजीवन तथा जयदेव का 'गीत–गोविंद' तथा विद्यापति के गीतों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। बंगला, गुजराती, संस्कृत आदि भाषाओं की दर्जनों कृतियों का हिंदी रूपान्तर नागार्जुन ने किया है। बच्चों के लिए भी उन्होने कथा साहित्य लिखा है। हिंदी में लिखी उनकी अनेक रचनाएं अब अनुपलब्ध हैं। कृतियों का विवरण इस प्रकार है –

काव्य – 'युगधारा' (1953), सतरंगे पंखों वाली (1959), प्यासी पथराई आंखें (1962), तालाब की मछलियां (1975) पुस्तकाकार कृतियां हैं। खून और शोले, शपथ, चना जोर गरम तथा प्रेत का बयान लघु काव्य पुस्तिकायें तथा भस्मांकुर (1971), खण्ड काव्य। पुरानी जूतियों का कोरस (1983), खिचड़ी विलप्व देखा हमने (1980) तुमने कहा था (1980), हजार हजार बाहों वाली (1981)।
उपन्यास – रतिनाथ की चाची, (1948), बलचनमा (1952), नई पौध (1953), बाबा बटेसरनाथ (1954), वरूण के बेटे (1957), दुखमोचन (1957), कुंभीपाक (1960) हीरक जयन्ती (1962), उग्रतारा (1963), इमरतिया तथा जमनिया का बाबा (1968)।

उपन्यासकार और कवि के रूप के अतिरिक्त एक संस्मरण लेखक के

रूप में भी नागार्जुन सफल रहे हैं। महाप्राण निराला पर भी एक लघु प्रबन्ध 'एक व्यक्ति : एक युग' (1963) नागार्जुन ने लिखा था। इस लघु प्रबंध में लेखक ने निराला के प्रति बरती कई उपेक्षा की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। प्रथम अध्याय में उन्होने लिखा है "वह हमें अपने स्वरूप का ज्ञान करा गये। साहित्यिक–पूर्ण और शुद्ध साहित्यिक आज भी अर्थात स्वाधीनता – प्राप्ति के इतने वर्षो के बाद भी कितना अनाथ है, कितना असहाय है, किस प्रकार अवहेलित है। अगर साहित्यकार राजनीतिज्ञों का अनुगमन करने से हिचकता है तो भौतिक तौर पर उसका भविष्य अंधकारपूर्ण है।" [18]

दस अध्यायों में लिखे गए इस लघु प्रबंध में नागार्जुन ने अपने लेखन कौशल का परिचय दिया है। सुन्दर शैली, सरस भाषा और राजनीतिज्ञों पर तीखे व्यंग्य इस पुस्तक के आकर्षण हैं। निराला के संबंध में अनेक अप्रकाशित तथ्यों का उदघाटन लेखक ने किया है। 'अन्नहीनम क्रियाहीनम' (1983) उनका पहला स्फुट गद्य संग्रह है।

बाल साहित्य- नागार्जुन ने बाल साहित्य भी लिखा है। 'रामायण की कथा', 'वीर विक्रम', 'अयोध्या का राजा' तथा 'प्रेमचन्द की जीवनी' उन्होंने 'बाल साहित्य माला' के अन्तर्गत लिखी हैं। उनकी बाल कहानियां भी अनेक बाल पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। इन कहानियों में – सैनिक की भिड़न्त यमराज से, नदी फिर जी उठी, पारितोषिक, ठहाका, दाढ़ियों वाला फसल का, अदभुत टापू, अभिनेता, डयूटी, बानर कुमारी, दया आती है, तुकों का खेल आदि उनकी कुछ प्रमुख कहानियां हैं जो सरल और सरस भाषा में रोचक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं।

अनूदित कृतियां - नागार्जुन एक सफल अनुवादक भी थे। कालीदास कृत 'मेघदूत' शरदचन्द्र कृत 'परिणीता', जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' का अनुवाद कर उन्होने स्वंय को सफल अनुवादक के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की है। विद्यापति के सौ गीतों का भी उन्होने हिंदी में अनुवाद किया।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन पर भी नागार्जुन ने एक संस्मरणात्मक लेख लिखा। [19] 'दो विभूतियां' [20] लेख में नागार्जुन ने प्रेमचंद और महाकवि तुलसी के महत्व पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार नागार्जुन ने कहानी, उपन्यास, कविता, अनुवाद आदि विभिन्न विधाओं में लेखनी चलाई है और उन्हें सभी क्षेत्रों

में सफलता भी मिली है।

नागार्जुन ने भरतेन्दु हरिश्चन्द्र और महाप्राण निराला की भांति जीवन के विष को निर्विकार भाव से ग्रहण किया और पचाया। स्वंय गरल का पान करके मानवता के हित में दोनों हाथों से साहित्य रूपी अमृत उलीचा है। प्रेमचन्द और मुक्तिबोध के साथ ही वे ऐसे साहित्यकार थे जिन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन की मलिन छाया अपने कृतित्व पर नहीं पड़ने दी। सर्वहारा वर्ग के उत्थान के लिए वे निन्तर प्रयत्नशील रहे। अनेक बार जेल यात्रा करने के बाद भी उन्होने लोक सभा, विधान सभा में जाने के लिए उस जेल यात्रा को हुण्डी के रूप में भुनाने की इच्छा नहीं की। यदि वे चाहते तो उनके लिए बहुत सरल था। 1977 में बिहार में जब जनता पार्टी की सरकार बनी तब मुख्यमंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर ने उन्हें हिंदी–मैथिली विषयक किसी काम पर रखा। नागार्जुन यहां भी तीन महीने से ऊपर जमकर कार्य नहीं कर सके। वेतनभोगी बनना उनकी वृत्ति में नहीं था। इससे पहले भी अनेक अवसर ऐसे आए जब उन्हें अच्छा से अच्छा कार्य सरकार में मिल सकता था। स्व0 ललित नाराण मिश्र उनके समीप के संबंधी थे पर वे उनसे भी मिलने कभी नहीं गए।

नागार्जुन जीवन भर उन सब बातों का विरोध करते रहे जो निर्धनों के हित के विरूद्ध उन्हें लगी। जहां कही खुरदरे पैर देखते, अन्याय की दुर्गन्ध उन्हें मिलती और वे बिदक जाते। नागार्जुन इसलिए नागार्जुन कहलाये कि वे जनता के विवेक का ही नहीं उसके आवेशों का भी, उसकी विशेषताओं का ही नहीं, कमजोरियों का भी, शाश्वता का ही नहीं तत्काल का भी, शोषण का ही नहीं, राग और सौन्दर्य का भी प्रतिनिधित्व करते थे। उनके पद्य और गद्य में कोई भेद नही है दोनों का एक दूसरे पर स्पष्ट प्रभाव है। गद्य लेखन या उपन्यास लेखन के लिए जो पूरी निश्चिंतता और तनाव मुक्ति उन्हें 1975 के बाद चाहिये थी नहीं मिली। यही कारण है कि पिछले 23–24 वर्षो में अपने स्वर्गवास के समय तक वे कुछ नया नहीं लिख पाए, गद्य के नाम पर दो उपन्यास जो उन्होने शुरू किये थे उनके थैले में ही सफर करते रहे। अत्यधिक घूमना, जरूरत से ज्यादा पत्राचार, समसामयिक घटना प्रधान पत्र–पत्रिकाओं का गहन अध्ययन सदा उनके मस्तिष्क को चंचल बनाए रखता था। संभवतः यही कारण था कि वे कविताओं का सृजन तो करते रहे पर गद्य लेखन नहीं हो सका।

1975–76 की 11 मास की जेल अवधि में उन्होने अनेक सुन्दर रचनायें

की। जनता सरकार के 1977 में सत्ता में आने के बाद उनकी लम्बी कविता 'ऐसा तो कभी नहीं हुआ' बेलछी काण्ड पर आधारित है। उनके बारे में यह कहना निश्चित नहीं था कि वे कब और कहां रहेंगे कितने दिन प्रवास करेंगे। पूरे भारत में उनके मित्रों और प्रशंसकों की एक लम्बी सूची है। जीवन के अन्तिम दिनों तक, जब उनके पैरों ने चलने से इंकार ही कर दिया, वे जीवन के ऊबड़–खाबड़ पथ पर 'यात्री' ही बनकर जिये। अनेक अधूरी काव्य और गद्य की पांडुलिपियां उन के जीवन काल में पूर्ण ही नहीं हो सकी। इतना बड़ा नाम होने पर भी आर्थिक रूप से वे अपने परिवार को कुछ सहायता नहीं दे पाये। महाप्राण निराला की बांटने की आदत उनमें भी आ गई थी, खुद अभाव झेल कर उन्होने असहाय और निर्धनों की सहायता की। अपने सत्तासी वर्ष के जीवन में उन्होने भारत की सीमाओं को लांघकर भी लोकप्रियता पाई। एक बार जो उनसे मिलता उनका होकर रह जाता। उनमें शिशु सी सरलता थी और निश्चल हास्य और पाण्डित्य भी था जो सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति पर अपनी छाप छोड़ता।

अपनी पचहत्तरवीं वर्षगांठ पर जून 1986 में 'जनसत्ता' के साथ बातचीत में उन्होने कहा था – " अगर विधाता हो तो सात या नौ वर्ष के लिए मांग लेंगे कि हम को स्त्री बनाओ। मुझे लगता है कि सबसे बड़ी हरिजन जो हैं, वे महिलाएं हैं। अनका दलितपना कब समाप्त होगा, ये हमको नजर नहीं आ रहा है। विदेशी रेडियो से हम सुनते हैं कि औरत को तेरह भार झेलने होते हैं। गर्भभार उसकी तुलना में बहुत कम है।" बाबा के ये विचार उनकी नारी विषयक धारणा बतलाते हैं। इतना सोचना कि स्वंय स्त्री बनकर उनके भार का अनुभव किया जाये यह नागार्जुन जैसा जन–जन से जुड़ा साहित्यकार ही कह सकता था।

वे सदैव आशावादी रहे। भारतीय जन ही उनकी प्रेरणा के स्रोत रहे। उन्होने आगे कहा था – "हम जनता से संपृक्त हैं। आम लोग, ऐसा नहीं होता कि हमेशा बारहों महीने उत्साह में ही रहें। इसका अर्थ यह हुआ की जनता हार नहीं मानती। एक व्यक्ति निराश होगा, एक व्यक्ति ऊटपटांग बात बोलेगा, पर सब ऐसे नहीं हो जायेंगे। जो हमारा एक उज्ज्वल आशावाद है उससे समाज को आगे बढ़ने में सहायता मिलती है।"

जनता को अपना गुरूकुल मानने वाले इस महान साहित्यकार को नवयुवकों से बड़ा स्नेह था। बूढ़ों को वे पाजी मानते थे और कहा करते थे कि इस समाज को कंटकित बनाने में बूढ़ों का बड़ा हाथ है। नागार्जुन वास्तविक

अर्थों में जन–साहित्यकार थे। जनता ही जैसे, उतने ही सरल, उतने ही सपाट, उतने ही अनगढ़, उतने ही औघड़ और उतने ही विराट। आत्मीय, भदेस, जीवन के लगावों से भरपूर, स्वाद लेकर खाने वाले और रस लेकर जीने वाले, कमर कसकर लड़ने वाले और नाराज होकर चल देने वाले। वे खुलकर लिखते थे और खिल कर जीते थे। जहां मन होता चल देते, जहां अच्छा लगता ठहर जाते। संभवतः इसी कारण से हिन्दी जगत में नागार्जुन 'बाबा' के नाम से पुकारे जाते हैं।

पांच नवम्बर उन्नीस सौ अट्ठानवे को प्रातः छः पच्चीस पर यह विराट व्यक्तित्व अपनी जीवन यात्रा स्थगित कर के लम्बी यात्रा पर निकल गया। लम्बी अचेतनावस्था के बाद सत्तासी वर्ष की आयु में उन्होने दरभंगाा में खाजा सराय स्थित अपने आवास पर दम तोड़दिया। उनकी रचनायें भारतीय समाज की आत्मा की तरह हैं जो जब तक पढ़ी जाती रहेंगी जब तक साधारण जनों का यह समाज बचा रहेगा। अपना सर्वस्व दान देकर भी उसे क्या मिला? श्री प्रभाकर माचवे ने अपनी एक कविता में, जिसका शीर्षक है "(अराजकतावादी) नागार्जुन के प्रति", लिखा है –

"'बलचनमा' दुःखमोचन, 'हीरकजयन्ती', 'इमरतिया'
'रतिनाथ की चाची' – इतना सब रचा
समाज को डांटा और डपटा
कलम के चाबुक और हंटर चलाये
क्या पाया – जमा बाकी, हिसाब में?
'शून्यवादी/जनवादी, क्या भारतीय जनता शून्य है?
या हमारी साहित्य व्यवस्था न्यून है?
मैं नहीं करूंगा तुम्हारी आलोचना
तुमने तो अमृत दिया, स्वंय फांकते रहे चना
नागार्जुन सच सच बतलाना
'बलचनमा' रोया था या तुम रोये थे।"

("नागार्जुन – सम्पा० सुरेशचन्द्र त्यागी, प्र० 3–4)

संदर्भ

1– डा0 बैचनः स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य, पृ0 244
2– डा0 शिव कुमार मिश्रः नया हिंदी काव्य, पृ0 17
3– नामवर सिंहः आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ0 79
4– साहित्य का उद्देश्य, पृ0 19
5– डा0 शिव कुमार मिश्रः नया हिंदी काव्य, पृ0 148
6– नामवर सिंहः आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ0 82
7– डा0 शिव कुमार मिश्रः नया हिंदी काव्य, पृ0 150
8– वही, पृ0 152
9– साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 4 फरवरी, 1973, पृ0 9
10 – कवि से भेंटवार्ता पर आधारित
11– ज्ञान तरंगिणी बक्सर, बिहार,श्रद्धांजलि अंक, पृ0 29
12– पहल/आठ जबलपुर, जुलाई 1976
13– कवि से वार्ता
14– वही
15– साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 5 फरवरी 1973, पृ0 9
16– क्योंकि समय एक शब्द है, पृ0 432
17– साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 4 फरवरी 1973, पृ0 9
18– एक व्यक्तिः एक युग, पृ0 12
19– सरिता– दीपावली अंक, नवम्बर 1962
20– जनशक्तिः पटना, 7 अगस्त 1960

2.

नागार्जुन के उपन्यासों की कथा–वस्तु

आधुनिक युग में उपन्यास मानव जीवन को समग्र रूप से चित्रित करने वाला सर्वाधिक सशक्त साहित्य–रूप है। मानव जीवन की अन्तरंग झांकी तथा चरित्र की विविध परिस्थितियों में प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं का जितना सफल उद्‌घाटन उपन्यास के माध्यम से हो रहा है, उतना किसी अन्य विधा के द्वारा नहीं है। उपन्यास एक ऐसा गद्यरूप है जिसमें लेखक खुलकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन की व्यापक झांकी प्रस्तुत करता है। "उपन्यास वैयक्तिक दृष्टि से वास्तवाभासी कल्पित कथापात्रों को लेकर जीवन के एकांगी या बहुरंगी गतिशील यथार्थ को अंकित करने में नित्य नवल रूपधारण करने में समर्थ, अपेक्षतया बड़े आकार का, रोचक वर्णनात्मक गद्यरूप है।"[1]

उपन्यास के तत्व -

उपन्यास का वर्तमानरूप पश्चिम की देन है। अतः उपन्यास के तत्वों के विवेचन का आधार पाश्चात्य–कथा साहित्य की कसौटी ही स्वीकार की गई है।[2] उपन्यास के छः तत्व माने गये हैं –

1 – कथानक
2 – चरित्र–चित्रण
3 – कथोपकथन
4 – देशकाल या वातावरण
5 – शैली
6 – उद्देश्य

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि आज के उपन्यास को क्या इन तत्वों के आधार पर आलोचना का आधार बनाया जा सकता है। आज गौण कथानक वाले उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं। "गिरती दीवारें" (अश्क), "शहर में घूमता आईना" (अश्क), "पाप के परे" (राजेन्द्र अवस्थी), "एक और अजनबी" (सुरेश सिन्हा) ऐसे उपन्यास हैं जिनमें कथानक की उपेक्षा की गई है। इसी प्रकार वातावरण, चरित्र–चित्रण भाषा आदि को लेकर आधुनिक उपन्यास में नित्य नए प्रयोग हो रहे हैं। इन प्रयोगों ने उपन्यास को एक नया स्वरूप प्रदान किया है और इस नए स्वरूप की तात्विक विवेचना करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। फिर भी पूर्व प्रतिष्ठापित तत्वों के आधार पर इस विघटित औपन्यासिक स्वरूप का आधार तैयार किया जा सकता है।

उपन्यास मानव जीवन की प्रतिकृति है, अतः उसका संबंध मानव व्यापारों, क्रियाकलापों और घटनाओं से है। घटनाओं की क्रमबद्ध और व्यवस्थित संयोजना "कथावस्तु" है। कथावस्तु की घटनाओं से सम्बद्ध व्यक्ति "चरित्र" है। इन चरित्रों का पारस्परिक वार्तालाप "कथोपकथन" या संवाद है। जीवन की ये घटनाएं किसी विशिष्ट स्थान और विशिष्ट समय पर घटित होती है। इस स्थान और समय को "देशकाल" या वातावरण कहते हैं। उपन्यासकार की अभिव्यक्ति के ढंग को "शैली" कहते हैं। उपन्यासकार द्वारा जीवन और उसकी समस्याओं की व्याख्या तथा आलोचना को "उद्देश्य" कह सकते हैं।

उपन्यास रचना में कथावस्तु का महत्व -

कथावस्तु उपन्यास का मूल है किंतु आधुनिक युग में कथावस्तु का महत्व कम समझा जाता है। कथावस्तु काल क्रमानुसार श्रृंखला–बद्ध वह व्यवस्थित घटनाक्रम है जो उपन्यास के नायक अथवा अन्य पात्रों के जीवन में घटित होता है। उपन्यास का समग्र रूप कथावस्तु के ढांचे पर विकसित होता है। कथावस्तु का चुनाव और निर्माण उपन्यास की रीढ़ है तथा लेखक के कौशल का संकेत इसमें मिल जाता है। कथावस्तु के समस्त अंगों का सुन्दर संगठन, घटनाओं का समुचित विन्यास उपन्यास को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक होता है। "यह धारणा भ्रान्त है कि उपन्यास में कथानक का कोई महत्व नहीं, या सामान्य कथानक को भी वर्णन कौशल के द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है क्योंकि यदि वर्णन–कौशल के साथ कथानक की उत्कृष्टता भी मिल जाए तो मणि–कांचन

योग होगा"।[3] कथावस्तु को विचारक उपन्यास में वही स्थान देते हैं जो शरीर में अस्थियों का होता है।

कुछ विचारक कथावस्तु को उपन्यास के लिए आवश्यक नहीं मानते हैं। हमारे जीवन का संचालन पूर्व निश्चित योजना से नहीं होता है, फिर उपन्यास में जो जीवन का प्रतिरूप मात्र है, कथावस्तु की आवश्यकता ही क्या है? यह सत्य है कि जीवन के अधिकांश अनुभव किसी निश्चित योजना से सम्बद्ध नहीं होते तथा जीवन के स्वच्छ प्रवाह में कोई निश्चित क्रम नहीं होता, तो भी लेखक का कर्तव्य है कि वही जीवन की इस विशृंखलता में कोई श्रृंखला ढूंढ निकाले। इस अनेक रूपात्मक वैचित्र्यपूर्ण जगत का सौन्दर्य स्पष्ट करने के लिए उसे किसी विशेष क्रम में रखना ही होगा।[4] कथावस्तु के अभाव में उपन्यास एक कथावृत्त नहीं बन सकता। आजकल उपन्यास में मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित जिस जीवन की व्याख्या कही जा रही है, उसके लिए तो एक विस्तृत कथावस्तु की पृष्ठभूमि और भी अधिक आवश्यक हो जाती है। कथावस्तु उपन्यास की भित्ति के समान है जिस पर उपन्यासकार रूपी चित्रकार मनचाहे रंगों से चित्र अंकित करता है।" उपन्यास कथानक–घटनाओं का संकलन मात्र नहीं है उनको कार्यकारण श्रृंखला में बंधे हुए रूप में उपस्थित करना होता है, जिससे कि कोई भी बुद्धिमान पुरूष घटनाओं के पारस्परिक संबंध का अध्ययन कर सके। यही श्रृंखलाबद्धता कथावस्तु के अंग्रेजी नाम प्लाट (Plot) को सार्थकता प्रदान करती है।"[5]

डबल्यू0 एच0 हडसन ने भी यह स्वीकार किया है कि उपन्यास में चाहे कुछ हो या नहीं कथा अवश्य है।[6] ई0 एम0 फास्टर ने कहानी को उपन्यास का मूल तत्व बतलाया है जिसके अभाव में उपन्यास को अस्तित्व संभव नहीं है।[7] अधिकांश विद्वानों ने कथावस्तु को उपन्यास का महत्वपूर्ण अंग माना है। "उपन्यास की सफलता का एक बड़ा अंश कथानक पर ही निर्भर करता है। कथानक कितना विशद्, महान, सशक्त और प्रखर है, इसी के आधार पर उपन्यास की सफलता निर्भर है। जीवन को जो जितनी गहराई से देखता है – उसमें भीतर पैठ सकता है, वह उतना ही श्रेष्ठ उपन्यासकार हो सकता है।"[8] निष्कंर्षतः कथावस्तु के अभाव में उपन्यास उपन्यास नहीं बन पायेगा। किसी अन्य तत्व की शिथिलता या कमी संभव है उपन्यास के स्वरूप को न बदल सके पर कथावस्तु के अभाव में उपन्यास पंगु सा हो जाएगा।

कथावस्तु की विशेषताएं -

अच्छी कथावस्तु की क्या विशेषताएं होनी चाहिए, इस बारे में विद्वानों की अलग–अलग राय है। "कथावस्तु जिन उपकरणों से मिलकर बनती है उनमें कथासूत्र (थीम), मुख्य कथानक (प्लाट), प्रासंगिक कथाएं या अन्तर्कथाएं (एपीसोड्स), उपकथानक (अण्डर प्लाट), पत्र, समाचार, प्रमाणिक लेख (डाक्यूमेन्टस), डायरी के पन्ने आदि हैं।[9] इन सभी उपकरणों को ध्यान में रखकर ही एक श्रेष्ठ कथावस्तु का निर्माण संभव हो सकता है। डॉ0 भगीरथ मिश्र के अनुसार कथावस्तु में मौलिकता, प्रबंध कौशल, संभवता, सुगठन तथा रोचकता आवश्यक है।[10] डॉ0 मिश्र के इस मानदंड के आधार पर हम कथावस्तु की विशेषताओं की विवेचना करेंगें–

(क) मौलिकता - कथावस्तु की मौलिकता से अभिप्राय, विषय की नवीनता, नवीन घटनाओं के संयोजन का ढंग, वर्णन तथा विन्यास की विशेषताओं से है। जिस कथावस्तु में पाठक को यह आभास न हो कि आगामी घटना क्या होगी, क्या परिणाम होगा, वह कथानक मौलिक कहा जायेगा। "एक समर्थ उपन्यासकार की दृष्टि की सूक्ष्मता का परिचय इस बात से मिलता है कि वह जीवन की गहनता से किस सीमा तक परिचित है तथा उसकी मूलभूत समस्याओं और उनसे संबंधित तथ्यों का उसने साक्षात्कार किया है अथवा नहीं।[11]

(ख) प्रबंध कौशल - प्रबंध कौशल से आशय है, कथावस्तु की मुख्य तथा गौण कथाओं को औचित्य तथा प्रभाव के साथ कलापूर्ण ढंग से नियोजन करना। प्रबंध कौशल में उपन्यासकार की प्रतिभा का वास्तविक परिचय मिल सकता है। एक सफल उपन्यास के लिए कथावस्तु का कलात्मक ढंग से संयोजन किया जाना अनिवार्य आवश्यकता है, इसके अभाव में कथावस्तु उखड़ी–उखड़ी सी रहेगी।

(ग) संभवता - संभवता का अभिप्राय है कि उपन्यासकार जो भी वर्णन कर रहा है, वह संभव लगे, असंभव नहीं। संभवता कथावस्तु का आवश्यक गुण है। उपन्यासकार कल्पना की उड़ान भले ही भरे किंतु उसकी सृष्टि विलक्षण होने पर भी सलक्षण और असंगत होने पर भी सुसंगत प्रतीत हो। उपन्यास की घटनाएं

कल्पना–प्रसूत होने के साथ–साथ यथार्थ की भाव–भूमि पर उतरती हुई प्रतीत हों। उपन्यास का सत्य, व्यक्ति का सत्य न होकर समाज का सत्य बन जाए। "संभवता और औचित्य का ध्यान हमें घटनाओं में नहीं, वार्तालाप, वेशभूषा, वर्णन सभी में रखना पड़ता है।" [12]

(घ) सुगठन - सुगठन कथावस्तु का वह गुण है जिससे उपन्यास की कलात्मक महत्ता में चार चांद लग जाते हैं। घटनाओं की श्रृंखला में पिरो देना उपन्यासकार के कौशल की अपेक्षा करता है। घटनाएं इस कौशल के साथ चुनी जाएं कि वे एक दूसरे पर आश्रित प्रतीत हों। "इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें अनावश्यक का त्याग और आवश्यक को ग्रहण किया है। कोई आवश्यक बात छूटी नहीं है।" [13]

(ङ) रोचकता - रोचकता कथावस्तु का एक महत्वपूर्ण अंग है। रोचकता के अभाव में उपन्यास की समस्त विशेषताएं प्रभावहीन हो जाती है। रोचकता कथावस्तु में मौलिकता संभवता, प्रबन्धकौशल और सुगठन से सम्बद्ध है। उपन्यासकार का कौशल इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने पाठकों से कोई बात छिपाता तो नहीं है जिसके कारण घटना क्रम में व्यवधान उपस्थित हो किंतु यह भी आवश्यक है कि सारी बात एक साथ ही न खोल दे जिससे उत्सुकता ही समाप्त हो जाए। "रोचकता के लिए न तो अधिक ब्यौरे की आवश्यकता है और न अधिक उपेक्षा की। विविधता में एकता का गुण शैली का ही प्राण नहीं, वरन रचनामात्र का जीवन–रस है।" [14]

नागार्जुन के उपन्यासों की कथावस्तु -

नागार्जुन प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों की कथा का आधार वे लोग हैं जो प्रायः उपेक्षित रहे हैं। खेतिहर मजदूर, मछुए, किसान तथा श्रमिकवर्ग उनके उपन्यासों में प्रमुख स्थान प्राप्त किए हुए हैं। आंचलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अन्य उपन्यासों में उन्होने विभिन्न सामाजिक समस्याओं को उठाया है। वर्ग–संघर्ष से लेकर विधवा तथा वेश्या–समस्या तक उनकी कथा के आधार हैं। कालक्रमानुसार अब हम नागार्जुन के उपन्यासों की कथावस्तु की विवेचना करेंगे।

1 – रतिनाथ की चाची (1948)

"रतिनाथ की चाची" नागार्जुन का यह प्रथम औपन्यासिक कृति है। उपन्यासकार ने एक उच्चकुलीन हिन्दू विधवा के असहाय, अपमानित तथा प्रताड़ित जीवन का चित्रण इस उपन्यास में किया है। मिथिला अंचल में फैले अंधविश्वासों, आडम्बरों, कुरीतियों तथा रूढ़िवादिता का सहज तथा स्वाभाविक चित्रण उपन्यास में किया गया है तथा इनके विरोध में अपना स्वर मुखरित किया है।

उपन्यास में मुख्य कथा गौरी की है जिसके चारों ओर छोटी–छोटी कथाएं घूमती हैं। इन कथाओं में रतिनाथ का छात्र जीवन, बागों से रतिनाथ का प्रेम, किसान संघर्ष, उमानाथ का कलकत्ता का जीवन आदि प्रमुख हैं। गौरी एक उच्च कुलीन ब्राह्मण घराने की विधवा है जो सारे सामाजिक नियन्त्रणों में बंधी है। गौरी की दो संतान हैं – पुत्रा उमानाथ और पुत्री प्रतिभामा। प्रतिभामा का विवाह हो गया है और वह अपनी ससुराल में है। उमानाथ कलकत्ता में ट्राम कम्पनी में नौकरी करता है। रतिनाथ गौरी के देवर जयनाथ का पुत्र है जिसे गौरी अत्यधिक स्नेह करती है। एक संपन्न मध्यवर्गीय परिवार में जन्मी गौरी का विवाह पिता ने कुलीनता के मोह में एक दरिद्र, रोगी ब्राह्मण से कर दिया। रोगी पति दो सन्तानों को छोड़कर असार संसार से विदा ले लेता है। गौरी जवानी में विधवा हो जाती है। इस अवसर का लाभ उसका देवर जयनाथ उठाता है और परिणामस्वरूप गौरी गर्भवती हो जाती है। शुभंकरपुर की महिलाएं इस घटना को लेकर गौरी को तरह–तरह से अपमानित करती हैं और उसका सामाजिक बहिष्कार कर देती हैं। ग्रामीण महिलाओं द्वारा उसके पुत्र उमानाथ के कान भरे जाने पर गौरी का जीवन नर्क बन जाता है। अपमानित और प्रताड़ित गौरी अपनी मां के घर जाकर गर्भपात करा लेती है।

कुछ दिन मां के यहां व्यतीत कर गौरी शुभंकरपुर लौटती है। किंतु इस काण्ड के बाद भी ग्रामीण और कुटुम्बियों के बीच उसे तिरस्कार ही मिलता है। उसका बेटा उसे घृणा की दृष्टि से देखता है। ऐसे वातावरण में गौरी आत्म–मुखी हो जाती है। सारे दिन सूत कातना तथा धर्माचरण उसके जीवन का ध्येय हो जाता है। गौरी का स्नेहपात्र रतिनाथ भी अध्ययन के लिए बाहर चला जाता है। गौरी का जीवन और एकाकी हो जाता है किंतु पुत्रवधू और पौत्रा का मुख देखने की लालसा बराबर बनी रहती है। विवाह के अवसर पर भी उमानाथ अपनी मां

गौरी को अपमानित करता है। गौरी अब अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगती है।

उमानाथ के गौने के बाद का वातावरण और अधिक कटुता लिए होता है। यह स्थिति गौरी के लिए बड़ी कष्टप्रद होती है। उमानाथ की पत्नी भी अपनी सास की उपेक्षा करती है। गौरी को पग–पग पर अपमान का कड़वा घूंट पीना पड़ता है। तभी अचानक सारा गांव मलेरिया की चपेट में आ जाता है। गौरी भी मलेरिया से ग्रस्त हो जाती है और इसे मृत्यु के लिए एक सुअवसर मानती है। रतिनाथ रोगिणी गौरी की बहुत सेवा करती है किंतु वह गौरी को मृत्यु के हाथों से बचा नहीं पाता। गौरी के पुत्र उमानाथ की अनुपस्थिति में रतिनाथ ही उसका दाह संस्कार करता है। गौरी की मृत्यु के पश्चात रतिनाथ भी गांव छोड़कर काशी जाने का निश्चय करता है। मातृहीन बालक रतिनाथ को गौरी से जो स्नेह मिलता है वह भी अब नहीं रहा। आषाढ़ की पूर्णिमा को मणिकर्णिका घाट पर रतिनाथ गौरी की अस्थियों को गंगा की धारा में प्रवाहित कर देता है किंतु यह बात उसे बराबर कचोटती रहती है कि चाची ने अमावस की रात में उसके बिस्तर की ओर बढ़ने वाली छाया का, जिसने उसके सिर पर सदा के लिए कलंक का टीका लगा दिया, नाम क्यों नहीं बतला दिया? यहीं आकर उपन्यास का अंत हो जाता है।

उपन्यास की कथावस्तु सरल है। उसमें कहीं कोई उलझाव नहीं है। उपन्यास में सामाजिक कुरीतियों तथा समस्याओं का लेखक ने स्पर्श किया है यही कारण है कि छोटी–छोटी घटनाएं मुख्य कथा के साथ–साथ चलती हैं, जैसे किसानों के संघर्ष की कथा, जयनाथ के इधर–उधर घूमने के साथ–साथ काशी में विधवाओं की कथा तथा रतिनाथ के छात्र–जीवन की कथा। कथावस्तु में जिज्ञासा की कमी खटकती है। आरंभ से अंत तक रोचकता का निर्वाह नहीं हो पाया है। गौरी के गर्भपात के साथ ही कथा की गति कुठित सी हो जाती है, फिर भी उसे गौरी की मृत्यु के पश्चात तक ढ़केला गया है। कुछ अनुपयोगी तथा नीरस वर्णनों ने भी कथावस्तु के प्रवाह को शिथिल कर दिया है, जैसे – सुपारी कतरने का ढंग, ट्राम और ट्रेन का वर्णन आदि। कहीं–कहीं इन वर्णनों से ऊब सी होने लगती है। इस उपन्यास की कथावस्तु का संगठन करने में नागार्जुन विशेष सफल नहीं रहे हैं। मोती सिंह का कथन है कि "कहीं कहीं कुछ वर्णन और प्रसंग अनावश्यक हैं जैसे – रतिनाथ के जीवन में अप्राकृतिक व्यभिचार की

चर्चा, इसी प्रकार अंत में चाची का कम्युनिस्ट हो जाना और रूस की विजय चाहने लगना।" [15] इसी प्रकार परिच्छेद चौदह में वर्णित मैथिल ब्राह्मण विधवा निवास की विधवा सुशीला की कथा का कथावस्तु के साथ कोई संबंध दूर–दूर तक दिखाई नहीं देता। इसे निकाल देने से भी कथा में कोई अन्तर नहीं आएगा। रतिनाथ का प्रेम प्रसंग जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है वह अस्वाभाविक लगता है। विशेष रूप से उस स्थान पर जब रतिनाथ बागो के अन्यत्र विवाह होने पर प्रसन्न दिखाया जाता है। उपन्यास की कथावस्तु का आधार नागार्जुन के जीवन की सत्य घटनाएं हैं। नागार्जुन के पिता और जयनाथ का स्वभाव मेल खाता है। गौरी का चरित्र और गर्भपात आदि घटनाएं नागार्जुन की चाची के साथ घटित सत्य घटनाएं हैं।

कथावस्तु में कुछ अस्वाभाविक और व्यर्थ की चर्चा होने पर भी वह एकदम नीरस नहीं है। विधवा समस्याओं पर लिखे गये अन्य उपन्यासों (प्रेमचंद का "निर्मला" तथा जैनेन्द्र का "परख") की तुलना में गौरी का चरित्र पाठकों के सम्मुख अपनी सम्पूर्ण संवेदनाएं, जिस प्रकार प्रस्तुत करता है वह नागार्जुन की सफलता ही कही जाएगी। अपने बचपन की यादों को कथावस्तु का मूल आधार बनाकर उसमें कुछ काल्पनिक प्रसंगों को भी उपन्यासकार ने जोड़ दिया है। उपन्यास का प्रारम्भिक भाग, रतिनाथ का शिक्षण, उपन्यास का अंत सत्य घटनाएं हैं तथा अन्य प्रसंग कल्पना–प्रसूत हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कथावस्तु में कुछ न्यूनताओं के विद्यमान होने पर भी वह ग्रामीण जीवन के संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने में सक्षम सिद्ध हुई है।

2 – बलचनमा (1952)

"बलचनमा" नागार्जुन का बहुचर्चित उपन्यास है। दरभंगा जिले के जन–जीवन पर आधारित इस उपन्यास का काल 1937 से पूर्व का है। उपन्यास में मिथिला अंचल के किसानों की दुर्दशा और उनके शोषण का करूण चित्रण किया गया है। बलचनमा (बालचंद राउत) खेतिहर देश की आबादी का प्रतिनिधित्व करता है। वह आधा किसान है और आधा खेतिहर मजदूर। इस उपन्यास में नागार्जुन ने प्रेमचन्द की परम्परा को फिर से स्थापित किया है और उसे आगे भी बढ़ाया है। "बलचनमा" इस अर्थ में प्रेमचन्द की भाव–भूमि पर जहां उठाई गई समस्याओं का ज्वलन्त निदान प्रस्तुत करने वाली रचना है, वहां

इसमें प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी की आंचलिक परम्परा का मूल स्वर भी मिलता है। इस परिप्रेक्ष्य में "बलचनमा को प्रेमचन्दोत्तर प्रेमचन्दीय परम्परा की सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक कृति के रूप में परिगणित किया जा सकता है।" [16]

यह उपन्यास आत्म कथात्मक शैली में लिखा गया है। उपन्यास का नायक बालचंद राउत अपने साथ घटित समस्याओं का यथार्थ रूप में वर्णन करता है। घटनाएं ऐसी हैं जो सहृदयजनों को संवेदित कर देती हैं। उपन्यास का आरंभ बलचनमा (बालचंद राउत) के पिता को मंझले जमींदारा द्वारा खम्बे से बांधकर पिटाई किए जाने से होता है। बलचनमा अपने पिता की पिटाई को प्रथम घटना के रूप में वर्णन करता है। दरभंगा जिले के साधन–हीन, निर्धन तथा अभावग्रस्त निम्नवर्ग किसान के पुत्र के रूप में बलचनमा संसार में आया है। बचपन से ही उसकी चेतना में एक विशेष प्रकार की प्रखरता देखने में आती है। जमींदार के बाग में से दो कच्चे आम तोडने के कसूर में बलचनमा के बाप को बांधकर पशु की तरह पीटा गया। नागार्जुन ने प्रारंभ से ही जमींदारों के अत्याचारों का सजीव चित्रण प्रस्तुत करके कथावस्तु को गतिशील बनाने का प्रयास किया है।

बलचनमा का बाप इस निर्मम पिटाई के पश्चात "चौथइया" ज्वर से पीड़ित होकर चल बसा। जमींदार से ही कुछ पैसे आदि लेकर बलचनमा के बाप का क्रिया–कर्म किया जा सका। मां और दादी की अनुनय विनय के बाद बलचनमा को जमींदारों के यहां दो आना मासिक पर नौकरी मिल सकी। यहां उसे रूखा–सूखा खाना और पहनने के लिए फटे–पुराने कपड़े भी मिल जाते थे। इस सब के साथ–साथ घर के अनेक कार्य उसके जिम्मे पड़ते थे और साथ में मिलती थी गाली और पिटाई। बाप की मृत्यु पर लिए गए बारह रूपए के ऋण के बदले में जमींदार ने सादे कागज पर उसकी मां और दादी से अंगूठा लगवा लिया था और बाद में बलचनमा का दस विसवांसी खेत हड़प लिया और बलचनमा का परिवार भूमिहीन हो गया।

दरभंगा जिला धान की खेती के लिए प्रसिद्ध है। धानरोपण तथा कटाई के दिनों में बलचनमा जैसे खेतिहर मजदूरों को पेट भरने का सहारा हो जाता था किंतु इसके अतिरिक्त अन्य अवसरों पर बीमारी में पथ्य के लिए किसी को एक सेर चावल का जुगाड़ करना कठिन हो जाता। इस खेतिहर मजदूर वर्ग का सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रण उपन्यासकार ने किया है जिससे कथावस्तु में स्वाभाविकता

आ गई है कथावस्तु के प्रारंभ में जमींदारों के निरंकुश व्यवहार तथा अत्याचारों के वर्णन के साथ–साथ बलचनमा की हीन परिस्थितियों का ज्ञान होता है।

बलचनमा के जीवन का दूसरा अध्याय फूल बाबू के साथ पटना जाने से आरंभ होता है। चौदह वर्ष की आयु से गालियां, तिरस्कार, दुत्कार तथा पिटाई के रास्ते पर जीवन व्यतीत करने वाला बलचनमा सत्रह वर्ष की आयु में पटना आकर एक नई दुनिया में पहुंच जाता है। महात्मा गांधी के अनुयायी फूल बाबू नमक सत्याग्रह में गिरफ्तार हो जाते हैं और बलचनमा को अब मोहन बाबू के यहां समय गुजारना पड़ता है। जेल से छूटने के बाद फूल बाबू बलचनमा की आवश्यकता नहीं रही और बलचनमा वापस गांव आ जाता है।

बलचनमा की बहिन रेवती जवान हो गई पर बलचनमा का परिवार धन के अभाव में उसका गौना नहीं कर पाया। जमींदार की पाप दृष्टि रेवती पर पड़ी। उसने पंखा झलने के बहाने उसे अपने पास बुलाया और पैसे देकर आत्म–समर्पण के लिए ललचाये पर रेवती इस चक्कर में नहीं आयी तो रेवती के साथ बलात्कार का प्रयास किया किंतु वह किसी तरह वहां से भाग निकली। छोटे जमींदार ने बलचनमा की मां की पिटाई कर उस पर अपनी बेटी के साथ सहवास कराने के लिए दवाब डाला, पर सफलता नहीं मिली। हारकर उसने चोरी के झूठे आरोप में बलचनमा को फंसा दिया। बलचनमा को जब पुलिस में रिपोर्ट दर्ज किए जाने की सूचना मिलती है तो भागकर फूलबाबू के पास मदद के लिए पटना पहुंच जाता है पर वहां उसे निराशा ही हाथ लगती है। राधा बाबू उसे आश्रम में बालेंटियर रखवा देते हैं। राधाबाबू के ही प्रयास से वह चोरी के आरोप से भी बच जाता है।

पटना से इस बार लौटकर बलचनमा अपना गौना करके लाता है। वह और उसकी पत्नी सुगनी मेहनत मजदूरी करते हुए इस तीन वर्ष के समय में गांव में भूचाल आया, बाढ़ का प्रकोप भी हुआ। भूचाल और बाढ से प्रभावित लोगों की सहायता के नाम पर फूलबाबू और जमींदारों ने खूब माल खींचा। इन सब कृत्यों का उपन्यासकार ने यथार्थ चित्र खींच दिया है। बलचनमा अपने परिश्रम से कुछ खेतों को बटाई पर लेकर कार्य करने लगता हैं इसी बीच जमींदारों की बेदखली से बचने के लिए किसान आन्दोलन उठ खड़ा होता है। बलचनमा इस आन्दोलन में सक्रिय भाग ही नहीं लेता उसका नेतृत्व भी करता है। वह किसानों को संगठित करता है और उनके अधिकरों की रक्षा के लिए जमींदारों

के विरूद्ध संघर्ष में जी–जान से जुट जाता हैं। जमींदारों को यह सहन नहीं होता है। किराये के लठैतों द्वारा जमींदार बलचनमा की निर्मम पिटाई कराते हैं। बलचनमा बेहोश होकर जमीन पर मिर जाता है और यहीं आकर उपन्यास समाप्त हो जाता है।

उपन्यास की कथावस्तु रोचक बन पड़ी है। उपन्यासकार ने साम्यवादी सिद्धान्तों की स्थापना के लिए सर्वहारा–वर्ग के प्रतिनिधियों को चुनाा है। जो घटनाएं उपन्यास में घटित हुई हैं, वे अपने स्वाभाविक तथा सजीव रूप में चित्रित की गई हैं। "मूलतः यह उपन्यास बलचनमा की आत्म–कथा है जिसे बूढ़ा लिचनमा मार्मिक, भोगे गए स्मृति खंडों को पिरोकर सुनाता है। आत्म–कथा में पात्र सर्वथा वर्तमान में रहता है, हर घटना के केन्द्र में वह रहता है तथा सारा कथासूत्र कथानक के साथ–साथ खुलता चलता है (बाण भट्ट की आत्मकथा)। "बलचनमा" जैसी आत्म–संस्मरण कथा में पात्र दोहरा गया है।"[17]

मुख्य कथा के साथ–साथ उपन्यास में खंडाशों तथा प्राकृतिक अंचलों का सविस्तार वर्णन देखने को मिलता है। "बलचनमा" में गांव और घर का वर्णन, भैंसों की देखभाल का ढंग, धान–रोपाई का चित्रण, रेलगाड़ी और स्टेशन का अंकन, पोखर का रेखाचित्र, गौने की रस्मों का वर्णन, पालकी यात्रा का वृतान्त, धान की कटाई और खलिहान का चित्रण, सीतल पट्टी के गांव का भौगौलिक वर्णन, वधू की आगवानी का शोभाचित्र, जनेऊ की प्रथा का विधान आदि सूक्ष्म और ग्रामीण अनुभवों पर आधारित विवरण यथार्थ को सार्थक और मूल्यवान बनाते हैं। कभी–कभी इन सब वर्णनों से कथावस्तु का प्रवाह शिथिल हो गया है तथापि अंचल से परिचयगत घनिष्ठता तथा लोक जीवन से जीवंत संपर्क इन्हें परिवेश की सच्चाई और प्रासंगिता से येन केन प्रकारेण जोड़े रखता है।[18]

बलचनमा द्वारा उपन्यास के प्रारम्भ में वर्णित घटनाएं मुख्य कथा का भाग नहीं हैं बल्कि प्रस्तावना है। इस प्रस्तावना में वे समस्त घटनाएं आ जाती हैं जो बलचनमा के फूलबाबू के साथ पटना जाने तक घटित होती हैं। बलचनमा का पटना से लौटकर गांव मं गौना कराने तक के समय की जो घटनाएं घटित होती हैं वे कथा–वस्तु का मध्य हैं। बलचनमा पर जमींदार के आदमियों द्वारा आक्रमण उपन्यास की चरम सीमा है। नागार्जुन की अन्य औपन्यासिक कृतियों की तुलना में "बलचनमा" का कथा–फलक कुछ वृहत है। बलचनमा का

चरित्र–चित्रण ही उपन्यास का केन्द्र है। अतः उपन्यासकार ने चरित्र को उभारने के लिए अनेक छुट–पुट घटनाएं तथा पात्र जोड़ दिए हैं जिससे उपन्यास का कलेवर तथा कथा–प्रवाह की तीव्रता में शिथिलता जान पड़ती है पर जिस उद्देश्य को लेकर उपन्यासकार चला है, उसकी प्राप्ति के लिए यह सब आवश्यक था।

उपन्यासकार ने बलचनमा के जिस रूप को प्रस्तुत किया है वह शारीरिक व चारित्रिक रूप से खरा उतरता है। बलचनमा एक ऐसा पात्र है जो अत्याचारों को सहता हुआ भी अपने पथ पर निर्बाध गति से अग्रसर होता है। किसानों की स्वत्व रक्षा के आंदोलन का भी वह सक्रिय अंग बन जाता है। उसकी चेतना प्रारंभ से ही प्रखर है, वह भाग्य में विश्वास न करके कर्म की साधना में विश्वास करता है और उसी की साधना में लीन रहता है। कथावस्तु के आवश्यक तत्वों की कसौटी पर खरा न उतरने पर भी उपन्यास की कथावस्तु प्रभावपूर्ण है। कथा की कला नागार्जुन में कभी नहीं रही! पर बिन कथा के भी वह कथा कहना जानते हैं। यह उनकी विशेषता है। प्रेमचंद की भाव–भूमिपर ही उपन्यासकार ने अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से उपन्यास क्षेत्र में नए सोपानों की स्थापना की है। इस परिप्रेक्ष्य में बलचनमा का महत्व नागार्जुन के उपन्यासों के बीच तो सर्वाधिक है ही, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों के बीच भी यह एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया जाएगा।[19]

3 – बाबा बटेसरनाथ (1954)

"बाबा बटेसरनाथ" एक ऐसी औपन्यासिक कृति है, जिसमें कई दृष्टि से नवीनता देखने को मिलती है। उपन्यास का नायक व्यक्ति नहीं, एक पुराना छतनार वटवृक्ष है, जिसे कथाकार की सृजनात्मक कल्पना ने एक जीवंत व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। ईस्ट–इण्डिया कम्पनी के समय में ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने भारत की आंचलिक आत्मा को अपने फंदे में फंसाने के लिए स्वार्थी देशद्रोहियों का एक नया वर्ग पैदा किया था – जमींदार वर्ग। यह वर्ग अंग्रेजी सरकार के प्रति वफादार था तथा खेतिहरों और छोटे किसानों को अपने नृशंस नियंत्रण में रखकर शोषण की चक्की में पीस रहा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ पर जमींदारों ने अपने दांव–पेंचों से भूमि का एक बडा भाग अपने कब्जे में ले ही लिया। सौ वर्षों से गांव के बीचो–बीच

खड़ा वटवृक्ष (बाबा बटेसरनाथ) यह सब देखता है और आत्मकथा के रूप में पाठकों को संप्रेषित करता है।

इस उपन्यासं में भी कथा का केन्द्र मिथिला अंचल को बनाया गया है। बिहार प्रांत के दरभंगा जनपद का रूपउली ग्राम उपन्यास का मुख्य स्थल है। रूपउली ग्राम में एक पुराना वटवृक्ष है जो इस जनपद में बाबा बटेसरनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस वटवृक्ष को जैकिसुन के परदादा द्वारा लगाया गया था, यही कारण है कि जैकिसुनको इस वटवृक्ष पर अपार श्रद्धा है। कथा का प्रारंभ थके–मांदे जैकिसुन के वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने से होता है। स्वप्न में वटवृक्ष मानव रूप धारण करके जैकिसुन को दरभंगा जनपद के ग्राम रूपउली की चार पीढ़ियों की कथा सुनाता है। बाबा बटेसरनाथ द्वारा कही गयी कथा का पूर्वार्द्ध रूपउली के विगत का इतिहास है, शेष इतिहास का वर्णन जिसका संबंध वर्तमान से है, जैकिसुन के मुख से कहा गया है।

बाबा बटेसरनाथ उपन्यास के पूर्वार्द्ध में जैकिसुन को विगत सौ वर्षों का इतिहास सुनाता है। इस इतिहास में विदेशी राज्य की स्वार्थपरता, जमींदारों के अत्याचार, देश में चल रहा राजनीतिक आंदोलन जमींदारी–उन्मूलन तथा तत्कालीन कांग्रेसी शासन का प्रसंग मुख्य है। सरकार द्वारा जमींदारी–उन्मूलन किए जाने के समय रूपउली के जमींदार ने वटवृक्ष वाली जमीन और उसके पास की पोखर टुनाई पाठक और जयनारायण को बेच दी। इस बात का पता जब ग्रामवासियों को हुआ तो उनका आक्रोश उबल पड़ा। जैकिसुन इससे अत्यंत दुखी और चिंतित हुआ। वह उसी वटवृक्ष के नीचे निद्रामग्न हो जाता है। स्वप्न में उसे बाबा सौ वर्षों का राजनीतिक तथा सामाजिक इतिहास सुनाते हैं। भूकंप, अकाल एवं बाढ़ पीड़ित जनता, जमींदारों द्वारा निर्धनों पर किए गए अत्याचार का वर्णन करते हैं। इसके साथ–साथ ग्रामीणों में व्याप्त अंधविश्वास, पूजा–पाठ, पशु–बलि आदि का रोमांचक वर्णन भी किया गया है। कम्पनी के शासन, चम्पारन का सत्याग्रह तथा अन्य आंदोलनों की चर्चा करके बाबा ने राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डाला है।

वटवृक्ष को खरीदने के बाद टुनाई पाठक तथा जैनारायण उसे काटना चाहते हैं। ग्रामवासियों के लिए वटवृक्ष श्रद्धा और स्नेह का पात्र है अतः वे लोग, जिनमें जैकिसुन, दयानाथ, जीवनाथ प्रमुख हैं, इस वृक्ष को काटे जाने का विरोध कारते हैं और संगठित होकर टुनाई पाठक तथा जमींदार आदि के अन्याय

के विरूद्ध संघर्ष के लिए तत्पर हो जाते हैं। तत्कालीन कांग्रेसी सरकार और सत्ता द्वारा इस संघर्ष करने वालों को सहायता मिलनी तो दूर, उल्टे जमींदार तथा सरकार का कोपभाजन होना पड़ता है। किसान आंदोलन तीव्र होता है। जैकिसुन इस का नेतृत्त्व करता है। जैकिसुन आदि इस संघर्ष में गिरफ्तार कर लिए जाते हैं। जनवादी नौजवान संघ के अध्यक्ष श्यामसुन्दर इस संघर्ष में जैकिसुन आदि की सहायता करते हैं। परिणामतः बेदखली के विरूद्ध जीवनाथ के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग, किसान का संयुक्त मोर्चा बनता है और ये लोग अपनी समस्याएं स्वयं हल करने की योजना बनाते हैं। हाजी करीम बख्श को सभापति, दयानाथ को उपसभापति तथा जीवनाथ को सैक्रेटरी बनाया जाता है। उपन्यास का अंत "स्वाधीनता, शांति तथा प्रगति" के नारों से होता है जो इस बात का संकेत है कि साम्यवादी प्रगतिवादी सामाजिक व्यवस्था ही वर्तमान समस्याओं का समाधान कर सकती है।

कथावस्तु के आरंभ से ही उपन्यासकार भावी संघर्ष का संकेत देता है। बाबा बटेसरनाथ द्वारा कही गई कथा का सूत्र लेखक द्वारा वर्णित कथावस्तु से जोड़ दिया जाता है। इस तरह कथावस्तु में भारी जोड़–तोड़ देखने को मिलता है किंतु यह जोड़–तोड़ उपन्यास में रोचकता लाने में सफल नहीं रहा। उपन्यासकार द्वारा अपनी विचारधारा का आरोपण इसका एक कारण है। "लेखक का दृष्टिकोण वर्तमान शासन के प्रति अनास्था तथा विद्रोह और समाजवादी व्यवस्था के प्रति आस्था झलकाता है।"[20]

कथावस्तु का ताना–बाना जिन छोटी–छोटी कथाओं से बुना गया है, वे स्वंय में स्वतंत्र न होकर आरोपित प्रतीत होती हैं। लेखक की विचारधारा का बंधन उन्हें बांधे रखता है। इस प्रकार कथावस्तु में रोचकता, सरसता और सुगठन का प्रभाव खटकता है। उपन्यास का अंत संघर्षरत जनता के भावी जीवन की झलक प्रस्तुत नहीं कर सका है तथा बिना चरमबिंदु पर पहुंचे ही समाप्त हो जाता है। लम्बे–लम्बे कथन कथावस्तु को बोझिल बनाते हैं और उसके स्वाभाविक विकास मे बाधा उत्पन्न करते हैं। बाबा बटेसरनाथ के मुख से कही गयी कविता "यज्ञ की हिंसा, हिंसा नहीं हुआ करती" [21] बाबा के स्वरूप को बिगाड़ती है। यदि उपन्यासकार कथावस्तु में दोनों पक्षों को तर्क–वितर्क के साथ प्रस्तुत करता तो एकांगी दृष्टिकोण के दोष से बचा जा सकता था और कथावस्तु को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता था। उपन्यास में संप्रेषणीयता के नयेपन और

संवेदनजन्य अनुभवों से पाठक अवश्य प्रभावित होता है।

4 – नई पौध (1957)

इस उपन्यास की पृष्ठभूमि भी पूर्व लिखित उपन्यासों की भांति मिथिला के ग्रामीण अंचल पर आधारित है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने बेमेल विवाह की समस्या को उठाया है तथा उसका रचनात्मक समाधान भी प्रस्तुत किया है। भारत में फैले अंधविश्वासों, कुरीतियों तथा अन्य सामाजिक समस्याओं का उन्मूलन आज के नयी चेतना प्राप्त नवयुवक ही कर सकते हैं। तरूण शक्ति राष्ट्र की वह शक्ति है, जिसके सम्मुख कोई समस्या नहीं ठहर सकती।

नौगछिया गांव के खोंखा पण्डित "सौराठ" में पं0 घटकराज के सहयोग से अपनी चौदह वर्षीय, पितृ–विहीन, सुन्दर धेवती विश्वेसरी के लिए वर के रूप में एक साठ वर्षीय जमींदार चतुरानन चौधरी को धन के लालच में तय कर के ले आते हैं। गांव के प्रगतिशील युवकों की "बमपाटी" को जब इस बात क' पता चलता है तो वे इस अनमेल विवाह को रोकने के लिए योजना बनाते हैं। गांव की पुरानी पीढ़ी के लोग इस मामले में खोंखा पण्डित का समर्थन तो करते हैं किंतु नवयुवकों की "बमपाटी" का विरोध मोल लेना नहीं चाहते हैं। दिगम्बर जी "बमपाटी" का नेता है, अपने साथियों से विचार–विमर्श के बाद मिलकर एक योजना बनाता है जिस को लागू करने के लिए "बमपाटी" के सदस्य कार्य प्रारंभ कर देते हैं।

लोभी और कंजूस खोंखा पण्डित का पेशा पंडिताई था। विसेसरी की मां रामेसरी के अतिरिक्त पण्डित जी अपनी छः रूपवती कन्याओं को अपात्रों के हाथ बेच चुके थे। चतुरानन चौधरी से भी उन्होने 900 रूपए में बिसेसरी का सौदा पक्का कर दिया। "बमपाटी" के सदस्यों के लिए इस विवाह का सम्पन्न होना मान–अपमान का प्रश्न बन गया। अतः उन्होने पहले वार्तालाप द्वारा समस्या का समाधान करना चाहा। चतुरानन चौधरी पर वार्तालाप का कोई असर न पड़ता देख, "बमपाटी" के युवकों ने खोंखा पण्डित को समझाने का भी असफल प्रयास किया। बिसेसरी की मां भी इस विवाह के पक्ष में न थी तथा खोंखा पण्डित के लड़के पितृभक्ति के कारण पिता के विरोध का साहस नहीं जुटा पा रहे थे। "बमपाटी" की योजनानुसार बिसेसरी से बीमार होने का अभिनय कराया गया, जिससे घर में शोक का वातावरण बनने लगा। दिगम्बर तथा अन्य नवयुवकों ने

लाठी आदि लेकर बलपूर्वक चतुरानन चौधरी को वहां से भगाने का निर्णय लिया। बूढ़े वर के सामने घोड़ा मंगवाकर खड़ा कर दिया गया और कहा कि यदि वे खैर चाहते हैं तो भाग जाएं। अनमेल विवाह के प्रति नवयुवकों में फैले आक्रोश को चौधरी ने भांप लिया और वे मन मसोस कर रह गए। लाचार वे वहां से घोड़े पर चढ़कर भाग गए। गांव के मुखिया तथा अन्य लोगों ने भी "बमपाटी" के भय से खोंखा पण्डित का साथ नहीं दिया। इस प्रकार अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध नई पीढ़ी के युक्तिसंगत विद्रोह को पहली सफलता मिली।

विवाह तो टल गया। अब "बमपाटी" के सामने दूसरी समस्या थी कि बिसेसरी के लिए उपयुक्त वर कैसे खोजा जाए। दिगम्बर को अपना पुराना सहपाठी वाचस्पति इसके लिए समझ में आया। वह खोंखा पण्डित के लड़के के साथ जाकर विवाह की बातचीत पक्की कर आया। वाचस्पति की इच्छा के अनुसार बिना किसी बाह्य आडम्बर और फिजूलखर्ची के वाचस्पति तथा बिसेसरी का विवाह सम्पन्न हो गया। वाचस्पति तथा बिसेसरी की सुहागरात के वर्णन पर आकर उपन्यास समाप्त हो जाता है।

उपन्यास की कथा पुरानी है किंतु उसका प्रस्तुतीकरण नवीन है। मुख्य कथा के साथ–साथ कुछ ऐसी घटनाओं को भी जोड़ दिया है जिनसे कथा का प्रवाह शिथिल हो गया है। ऐसी ही एक घटना है दुर्गानन्दन बाबू के अदालती दांव पेंच की जो निरर्थक प्रतीत होती है। सहूआइन की कथा की भी कथावस्तु में कोई उपयोगिता नहीं है क्योंकि कथा को आरम्भ करके छोड़ दिया गया है। कथावस्तु को चरम–सीमा तक लाने के लिए उपन्यासकार को पृष्ठ 115 पर दिगम्बर तथा वाचस्पति की मित्रता का वर्णन नहीं करना चाहिए था इससे आगे आने वाली घटना के बारे में पाठक अनुमान लगा लेता है। कथावस्तु का चुनाव वास्तविक जीवन से किया गया है और सामाजिक जीवन का सही रूप पाठकों के सम्मुख रखने में लेखक को सफलता मिली है। कुछ छोटी–मोटी कमियों को छोड़कर उपन्यास की कथावस्तु में रोचकता, सुगठन तथा मौलिकता का गुण विद्यमान है। नागार्जुन के पूर्व लिखित उपन्यासों की तरह इस उपन्यास में कोई भद्दापन या मतवादिता नहीं है। "कवि लेखक और कलाकार को जिस प्रकार क्षुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठकर जीवन में मुक्त हृदय होकर प्रवेश करके उसकी रसानुभूति करनी चाहिए वैसी दृष्टि नागार्जुन के इस नए उपन्यास में है।"[22] तत्कालीन प्रमुख सामाजिक समस्या "अनमेल–विवाह" को लेखक ने अपना

लक्ष्य बनाया है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कथावस्तु का गठन और विकास स्वाभाविक रूप से किया है। उपन्यास में मैथिल ब्राह्मणों के पारिवारिक जीवन व वैवाहिक कुरीतियों के उद्‌घाटन का सही स्वाभाविक संयोग मिल जाता है।"[23]

5 – वरूण के बेटे (1957)

इस उपन्यास में जल के ऊपर निर्भर रहने वाले मछुओं के जीवन–संघर्ष तथा जागरण की गाथा है। मछुओं के जीवन–संघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए लेखक ने उनके जीवन्त परिवेश की अवधारणा की है। नागार्जुन ने मछुओं के इस परिवेश को निकट से देखा है। यही कारण है कि वह उपन्यास में मछुओं के रीति–रिवाज, उनकी भाषा, लहजा, गीत आदि बातों व उनके जीवन–यथार्थ को सजीवता के साथ उभारने में सक्षम सिद्ध हुए हैं।

कथावस्तु में मुख्य कथा के साथ–साथ अनेक छोटी–छोटी घटनाओं का भी समावेश किया गया है। इस दृष्टि से उपन्यास की कथावस्तु सरल है। मुख्य कथा एक बड़े तालाब "गढ़–पोखर" की है जो अब "गरोखर" के नाम से जाना जाता है। इसी तालाब से कुछ दूरी पर मछुओं की दो बस्तियां हैं। छोटी–छोटी अन्य घटनाओं में बाढ़ आने की कथा, लोगों द्वारा मालगाड़ी के डिब्बों पर कब्जा करना और उसे ख़ाली न करना, मोहन मांझी आदि का बाढ़पीड़ितों के लिए शिविर चलाना, मंगलमधुरी प्रणय प्रसंग, मधुरी का ससुराल जाना, खुरखुन का ताड़ी पीकर बहकना, मगर का शिकार उल्लेखनीय हैं, जिन्हें सुन्दर ढंग से कथा सूत्र में पिरोया गया है।

कथा के प्रारंभ में प्रख्यात जलाशय "गरोखर" में कुछ मछुओं द्वारा मछली पकड़ने का वर्णन है। पचास एकड़ के क्षेत्र में फैला यह जलाशय 15 से 20 फुट तक गहरा तथा तीन सौ वर्ष पुराना है। "गरोखर" की मछलियों की बाजार में भारी मांग है अतः मलाही तथा गोंढ़ियारी दोनों बस्तियों के मछुओं के लिए इस जलाशय से मछली पकड़कर बेचना आजीविका का मुख्य साधन है। दोनों बस्तियों में अधिकांश मछुए अत्यंत निर्धनता में जीवन व्यतीत कर रहे हैं, कुछ ही घर खाते–पीते कहे जा सकते हैं। जमींदारी–उन्मूलन के बाद इस जलाशय के मालिक नए सिरे से इसका बन्दोबस्त कर इसे बेच देने का प्रयास करते हैं जो सफल नहीं होता। मछुओं के लिए "गरोखर" शरीर का लहू तथा जीवन का निचोड़ है। अतः जमींदारों के प्रयास को वे संगठित होकर विफल कर देते हैं।

इसके लिए जो संगठन उन्होने बनाया है, उसका नेतृत्व मोहन मांझी कर रहा है जो स्वतंत्रता–सेनानी रह चुका है। इस संगठन में सभी नर नारी सम्मिलित होकर नई विपत्तियों से जूझते हैं।

एक बार "गरोखर" में मछलियां पकड़ने के लिए महाजाल डाला जाता हैं जलाशय से लगभग दो सौ मन मछलियां पकड़ी जाती है जिनका सौदा बारह हजार में तय हो जाता है। इसी समय अंचलाधिकारी दरोगा आदि जमींदारों द्वारा भेजे जाने पर, वहां आते हैं। दरोगा सारी मछलियों को अपने कब्जे में लेने की धमकी देता है किंतु मोहन मांझी इसका प्रबल विरोध करता है। भोला "गरोखर" की बन्दोबस्ती के कागजात अंचल अधिकारी को दिखाता है जिससे इस बात का पता चलता है कि "गरोखर" से मछलियां निकालने का हक मलाही–गोढ़ियारी के मछुओं का है और वह कई पुश्तों से चला आ रहा है। अंचलाधिकारी संतुष्ट होकर लौट जाता है।

इसके बाद की कथा में बाढ़ और उससे पीड़ित लोगों की सहायता में सहायता शिविर चलाने का वर्णन है। बाढ़ पीड़ितों का अनाथ होकर स्टेशन पर खड़ी मालगाड़ी के डिब्बों में शरण लेना, रेलवे अधिकारी के कहने पर उसे खाली न करना, पुलिस का बुलाना तथा जिलाधीश का हस्तक्षेप आदि घटनाएं उल्लेखनीय हैं। सहायता शिविर में खुरखुन, भोला, मंगल मधुरी का कार्य प्रशंसनीय है। अन्तिम परिच्छेद में एक बार फिर से संघर्ष का वातावरण देखने को मिलता है। जमींदार एक मछुए गंगा सहनी को अपने पक्ष में कर लेते हैं। नए जमींदारों की शिकायत पर पुलिस तथा सेना वाले गांव में आते हैं और जलाशय में जाल डालने पर तब तक रोक लगा देते हैं, जब तक न्यायालय से कोई फैसला न हो जाए। मछुए इस प्रतिबंध को एक दिन के लिए भी मानने को तैयार नहीं हैं, वे धारा 144 की परवाह न करके मछली निकालते रहते हैं। गंगा सहनी द्वारा जमींदारों से इसकी शिकायत कर दी जाती है और पुलिस वाले वहां आ जाते हैं। डिप्टी मजिस्ट्रेट भी उनके साथ आता है लेकिन मछुए किसी प्रकार का कोई आश्वासन मजिस्ट्रेट को नहीं देते हैं तथा अपने आपको गिरफ्तार करवाने के लिए पुलिस की गाड़ी में जाकर बैठ जाते हैं। वातावरण में "इन्कलाब जिंदाबाद" तथा "मछुआ–संघ" जिंदाबाद आदि के नारे गूंजते रहते हैं। यहीं आकर कथा समाप्त हो जाती है।

कथावस्तु विषय की दृष्टि से नवीन है। मछुओं के जीवन पर लिखा गया,
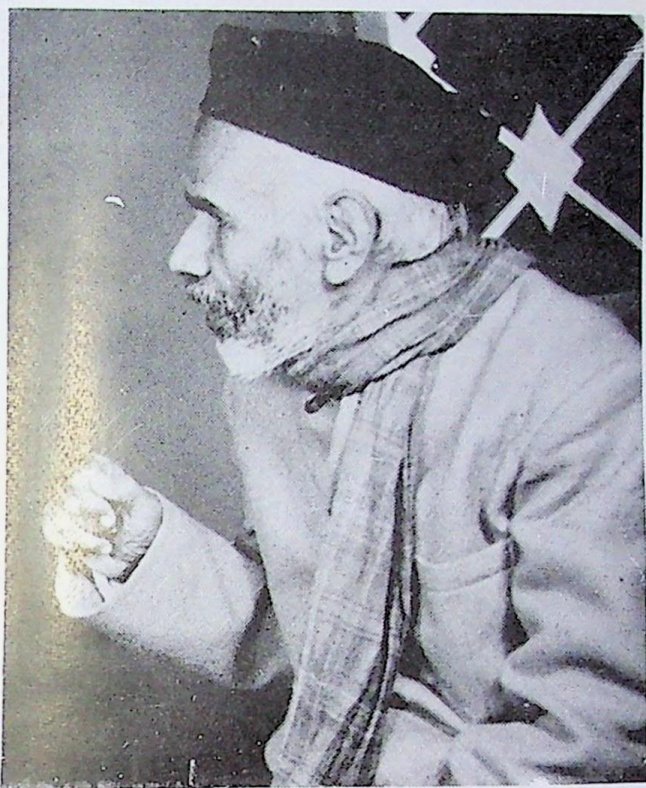
डॉ. ज्ञानेशदत्त हरित के परिवार के बीच बाबा नागार्जुन कुछ समझाते हुए

डॉ. ज्ञानेशदत्त हरित के साथ नागार्जुन (1978)

लेखक के परिवार के साथ नागार्जुन (1978)

डॉ. ज्ञानेशदत्त हरित, नागार्जुन और डॉ. रामस्वरूप आर्य

यह एक सशक्त उपन्यास है। कुछ पूर्वाग्रहों के कारण कहीं–कहीं कुछ घटनाएं और पात्र आरोपित प्रतीत होते हैं। कांग्रेसियों पर व्यंग्य करते हुए उन्हें भ्रष्टाचारी की संज्ञा दी गई है किंतु यह मान लेना श्रमिक वर्ग की भलाई केवल हंसिया–हथौड़ा वाले ही कर सकते हैं, एकांगी दृष्टिकोण का परिचायक है। यदि उपन्यासकार सक्रिय विरोध को भी तर्क के आधार पर प्रस्तुत करता तो कथावस्तु और सशक्त हो सकती थी। उपन्यास में जो विरोधी पक्ष है, वह बिल्कुल शक्तिहीन है। उपन्यास में वर्ग–संघर्ष की कथा तो यथार्थ है किंतु सभी पात्र यथार्थवादी नहीं हैं। कथावस्तु में अनेक स्थल ऐसे हैं जहां यह प्रतीत होता है कि लेखक वर्ग–संघर्ष को जबरदस्ती घसीट रहा है। मधुरी को जो प्रगतिशीलता का जामा पहनाया गया है वह स्वाभाविक नहीं लगता है। मधुरी–मंगल का प्रणय तो सहज रूप में स्वीकारा जा सकता है, पर मधुरी का मंगल को उपदेश देना गले नहीं उतरता है। मधुरी की विदाई का दृश्य मार्मिक बन पडा है। मैथिली लोक–गीतों को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, वह प्रभावपूर्ण है। "जिनगी भेल पहाड़, उमिर भेल कासन ——————" [24] गीत मन को गुदगुदा देता है। इसी प्रकार कुछ गीत राजनीतिक हलचलों के साथ–साथ मन की पीड़ा के चित्र भी अंकित करते चलते हैं।

हिंदी कथा–साहित्य में मछुओं के जीवन पर बहुत कम लिखा गया है। उपन्यासकार ने वर्णनात्मक शिल्प विधि द्वारा मछुओं के यथार्थ जीवन के सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं। मछओं के जीवन का आधार "गरोखर" को जमींदारों द्वारा हथियाने की "समस्या से छुटकारा पाने के निमित्त नागार्जुन ने इस रचना में भी राजनीतिक गतिविधि का सन्निवेश जुटा दिया है तथा किसान सभा आदि का वर्णन किया है।" [25] उपन्यासकार का साम्यवाद के प्रति झुकाव, विरोधियों को निर्बल रूप में प्रस्तुत करना तथा निर्धन वर्ग में एकदम राजनीतिक चेतना का सूंत्रपात करने से कथावस्तु विश्रृंखल प्रतीत होती है। इतना होते हुए भी उपन्यास पाठक को प्रभावित करता है। लेखक ने मछुओं के जीवन की, जो अंतरंग झांकी प्रस्तुत की है, वह अपने आप में विशिष्ट ही कही जाएगी। डा0 रामदरश मिश्र ने लिखा हैं – "नागार्जुन की दृष्टि यथार्थवादी है अतः वे इन पिछड़ी जातियों का चित्र खींचकर आदिम रस की तृप्ति नहीं करते वरन उन्हें आधुनिक चेतना, जागरण और शक्ति से सम्पन्न कर उनके मानवीय अधिकारों से उन्हें जोड़ते हैं, इसलिए मधुरी अपने शराबी ससुर का घर छोड़ देती है और बाप के घर जाकर

राजनीतिक आंदोलनों में भाग लेती हुई गिरफ्तार होती है।"[26]

6 – दुखमोचन (1957)

नागार्जुन की अन्य औपन्यासिक कृतियों की भांति इस उपन्यास की मूल समस्या भी वर्ग संघर्ष की भावना ही है। उपन्यास का नायक सर्वथा आशावादी, कुछ हद तक गांधीवादी तथा यथार्थवादी है। नागार्जुन की औपन्यासिक परंपरा इस उपन्यास में आकर बिल्कुल बदल गई है। साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव इसमें नगण्य ही है सामाजिक असमानता, शोषण, वर्ग–वैषम्य के चित्रण के साथ–साथ भारत के ग्रामों में हो रहे नव–निर्माण की झलक भी इसमें मिलती है। 1956 में आकाशवाणी के लखनऊ–इलाहाबाद केन्द्र से तेरह किश्तों में "दुखमोचन" का प्रसारण भी हो चुका है।

दुखमोचन की कथावस्तु सरल है। घटनाओं की जटिलता इसमें नहीं हैं कथा का केन्द्र "टमका–कोइली" ग्राम है। पांच हजार से अधिक आबादी वाले गांव में कई छोटी–छोटी बस्तियों का समूह है। गांव के उत्तर–पूरब में एक नदी बहती है। एक अदद पक्की सड़क और मीटर–गेज की रेलवे लाइन गांव से होकर जाती है। कथा के प्रारंभ में गांव में लगातार सत्तर घंटे से चल रही वर्षा का वर्णन है जिसक कारण सभी ग्रामवासी बड़े परेशान से हो रहे हैं। इसी मौसम में गांव में रामसागर की मां का देहान्त हो गया। सूखी लकड़ियां न मिलने पर घर पर तख्त बनाने के लिए रखे तख्तों को दाह–संस्कार के लिए दे देता है। इसके बाद दुखमोचन के परिवार की चर्चा होती है। दुखमोचन की पत्नी दो पुत्रियों को छोड़कर कई वर्ष पहले स्वर्गवासी हो गई थी अब दुखमोचन के पास उसकी मामी शशिकला रह रही है। कथा के विकास के साथ ग्रामीण सुषमा अंकन भी उपन्यासकार करता चलता है।

दूसरे परिच्छेद में गांव में फैली बीमारी की चर्चा है। बाढ़ आने के बाद गांव में विचित्र प्रकार की बीमारी फैल जाती है। दुखमोचन अधिकारियों और डाक्टरों तक भाग दौड़ करके गांव वालों के लिए दवा आदि का प्रबंध करता है किंतु अपने परिवार के लिए वह इन दवाओं से कुछ नहीं लेता है। दुखमोचन के प्रखर आलोचक नित्याबाबू और रामसरन आदि राहत सामग्री के कुछ भाग को अपने लिए लेना चाहते हैं किंतु दुखमोचन गांव वालों को उनकी पारिवारिक स्थिति के अनुसार गेहूं आदि का वितरण कराता है। नित्याबाबू गेहूं न मिलने पर

तरह–तरह की अफवाहें फैलाने का प्रयास करते हैं।

उपन्यास में विधवा–विवाह के प्रति भी एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। विधुर कपिल और विधवा माया को दाम्पत्य–सूत्र में बांधने के दुखमोचन के निश्चय का पता नित्याबाबू जैसे लोगों को पता चलता है तो वे इसे सहन नहीं कर पाते। पं0 ललित नारायण तो इस बात पर दुखमोचन की पिटाई तक कर देते हैं। माया का परिवार चाहता है कि विवाह हो जाए और कपिल के घरवाले भी तैयार हैं। प्रारंभ में कुछ लोगों के विष–वमन के बाद स्थिति सामान्य हो जाती है।

अगले परिच्छेद में टमका कोइली गांव के समीप बसे सिमरीन गांव में एक किसीन की खड़ी फसल जला देने की चर्चा है। पांच गांवों की पंचायत के सदस्य दुखमोचन के सुझाव पर रक्षा–समिति का गठन करना स्वीकार कर लेते हें जिससे सामाजिक विकृतियों को दूर किया जा सके। बाढ़ में चौपट हो गई टमका–कोइली के दक्षिण वाली सड़क पर दुखमोचन के प्रयासों से , नई–पीढ़ी के युवक–युवतियां श्रमदान करते हैं। गांव के स्वार्थी तत्व अधिकारियों को गुमनाम पत्र भेजकर शिकायत करते हैं कि सड़क में उनकी जमीन हड़पी जा रही है। अधिकारियों द्वारा निरीक्षण किए जाने पर सब कुछ ठीक उतरता है। दुखमोचन इस शिकायत पर बड़ा दुखी होता है फिर भी वह निमार्ण कार्य में लगा रहता है और सड़क का निर्माण समय से पहिले ही हो जाता है।

इसके बाद की कथा गांव में आग लगने और पुर्ननिर्माण की है। हरखू की मां की हुक्के से निकली चिंगारी से उसके झोपड़े में तो आग लगती ही है साथ ही गांव का एक पूरा भाग आग की लपेट में आ जाता है। अग्निकांड में बेघरबार लोगों की मदद के लिए दुखमोचन प्रयास करता है। कुछ सहायता सरकार से मिलती है, कुछ समाज सेवी संस्थाओं द्वारा। दुखमोचन औरों के लिए प्राप्त सहायता सामग्री का उपयोग कर रखने की व्यवस्था करता है किंतु स्वंय कुछ नहीं लेता है। वह चाहता है कि गांव के सभी मकान पक्के बन जायें ताकि ऐसे अग्निकांडों की पुनरावृत्ति न हो। अग्निकांड में मास्टर टेकनाथ के बैल जलकर मर जाने से गांव वाले उसका बहिष्कार करते हैं पर दुखमोचन के प्रयास से सब ठीक हो जाता है। नव निर्माण कार्य पूर्ण होने तक पूर्णिमा के दिन गांव में झण्डा फहराने का कार्यक्रम बनता है। तीन विधायक, दरोगा, अंचल अधिकारियों की उपस्थिति में दुखमोचन गांव के वयोवृद्ध चमार बोधू से झंडा फहरवाने का कार्य

सम्पन्न कराता है और यहीं पर उपन्यास का अन्त हो जाता है।

पूरी कथावस्तु का केन्द्र दुखमोचन है। कथावस्तु में कोई उलझाव न होने के कारण लेखक अपने लक्ष्य पर सहज ही पहुंच जाता है। कथावस्तु में कौतूहल और रोचकता का अन्त तक निर्वाह नहीं हो सका है। दुखमोचन का विरोध करने वाले पात्र भी कोई संघर्षपूर्ण मोड़ उपस्थित नहीं कर सके हैं। तथा एक के बाद एक दुखमोचन के सामने हथियार डाल देते हैं। छठे परिच्छेद में माया और कपिल की चर्चा से ही भावी घटना का आभास हो जाता है कि अब इन दोनों का विवाह होगा। इससे पाठक की जिज्ञासा अंत तक नहीं बनी रह पाती। मुंशी पुलकितदास आदि पात्रों द्वारा भी कोई ठोस विरोध नहीं किया गया अन्यथा संघर्षपूर्ण स्थिति में कौतूहल के क्षण आ जाते । दुखमोचन को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है वह आज की स्थिति में असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है।

कथावस्तु आंचलिक स्पर्श लिए हुए है। गांव की आर्थिक और प्राकृतिक स्थिति का चित्रण करने में लेखक को सफलता मिली है। बाढ़ पीड़ित गांव में अकाल सी अन्नाभाव की स्थिति, सरकार द्वारा राहत कार्य, मलेरिया आदि रोगों से पीड़ित ग्रामवासियों का चित्रण, विधवा विवाह, अग्निकांड और पुर्ननिर्माण। श्रमदान द्वारा सड़क का निर्माण, आदि अनेक घटनाओं को कथासूत्र में पिरोया गया है। "इस उपन्यास की रचना संभवतः आज सरकार की ओर से हो रहे निर्माण संबंधी प्रचार कार्यों के लिए की गई है।" [27] लेखक अपने इस उद्देश्य में सफल भी हुआ है।

7 – कुंभीपाक (1960)

नागार्जुन के उपन्यास लेखन के द्वितीय चरण का यह प्रथम उपन्यास है। कथावस्तु का केन्द्र ग्रामीण अंचल से हटकर शहरी वातावरण पर आ गया है। हिन्दू धर्म में अनेक प्रकार के नर्कों की कलपना की गई है। कुंभीपाक भी इनमें से एक नर्क है जहां पापियों को आग में जलाया जाता है। समाज में तथाकथित समाज सेवी, भोली–भाली युवतियों को अपने जाल में फंसाकर उन्हें जीवित ही कुंभीपाक में झोंक देते हैं। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार, गलनशीलता को "कुंभीपाक " में उपन्यासकार ने उभारा है।

कथावस्तु का केन्द्र दो नारियां हैं। एक का नाम इन्दिरा है और दूसरी

का चम्पा। चम्पा जीते जी कुंभीपाक में फंस गई और अब वह इस नर्क में इन्दिरा जैसी युवतियों को फंसाने में "समाज सेवियों" के साथ सहयोग कर रही है। कथा के प्रारंभ में शहर में स्थित एक मकान की चर्चा होती है जो एक नर्क के समान है, जिसमें विभिन्न व्यवसायों वाले छः परिवारों के चालीस प्राणी रहते हैं। उपन्यासकार ने घटने वाली प्रत्येक छोटी से छोटी घटना का सविस्तार वर्णन किया है। डॉ0 सिंहा के अनुसार – " यह उपन्यास गाल्जवर्दी आदि से प्रभावित है, जहां वर्णन का विस्तार देखने को मिलता है। ऐसे उपन्यासों में छोटी से छोटी वस्तु का भी वर्णन होता है।" [28]

समाज सेवी के रूप में प्रसिद्ध बी0 एन0 शर्मा लड़कियों के बेचने का धंधा करते हैं। चम्पा इस कार्य में उनकी सहायता करती है। चम्पा और शर्मा जी इन दिनों पटना के इसी छः परिवार वाले मकान में जमे हुए हैं और एक युवती भुवन (इन्दिरा) को बेचने की योजना में संलग्न है। चम्पा एक भ्रष्ट औरत है जो सत्तर घाट का पानी पिए हुए है। पति की मृत्यु के बाद जीजा के विवाह न करने पर चम्पा एक खटीक नौजवान के साथ पूर्वी पाकिस्तान चली गई। वहां कुछ समय रही। अपने पति के साथ भारत लौटते समय कटिहार स्टेशन पर वह फिर एक बार पति और दो बच्चों को छोड़कर भाग जाती है। इस बार वह सरदारों के पल्ले पड़ती है। सरदारों के साथ वह षड्यंत्र में पकड़ी जाती है। और छः मास की सजा काटती है। जेल से छूटने के बाद बी0 एन0 शर्मा उसके आश्रयदाता बने हुए हैं और लड़कियों के विक्रय का धंधा सफलता पूर्वक चला रहे हैं। उनका नया शिकार भुवन (इन्दिरा) पति की मृत्यु के बाद, समाज में बलात्कार का शिकार बनी। भुवन का एक संबंधी गर्भ से छुटकारा दिलाने के बहाने उसे आसनसोल की एक धर्मशाला में छोड़कर भाग गया। भुवन अब बी0 एन0 शर्मा के चंगुल में आ फंसी है।

चम्पा और भुवन जिस मकान में रहती हैं उसी में एक कम्पाउण्डर की पत्नी निर्मला रहती है। निर्मला को भुवन के विक्रय का आभास पाकर उसे अपने भैया के पास बनारस भिजवा देती है। बनारस आकर भुवन का नया जीवन आरंभ हो जाता है। इधर भुवन के गायब हो जाने से शर्मा जी की योजना पर पानी फिर जाता है। एक दूसरी शिकार नेपालियन युवती के साथ चम्पा संजीवन–आश्रम पटना आती है। संजीवन–आश्रम सपरिवार ठहरने का स्थान और भोजनालय है जिसे अनाथ महिलाएं संचालित करती हैं। आश्रम में व्याप्त

भ्रष्टाचार पर तीव्र व्यंग्य लेखक ने किए हैं। चम्पा इस प्रकार जीवन से ऊबकर "शिल्प–कुटीर" की एक दुकान खोलती है और इसी में टाइप आदि का कार्य भी करने लगती है। वह भुवन को बार–बार याद करती है कि उसने अच्छा किया जो इस कुंभीपाक से निकल गई। चम्पा अंत तक भुवन से मिलने या उसकी कोई पत्र पाने के लिए तरसती रहती है।

कथावस्तु में चम्पा और भुवन की कथा आधिकारिक कथा है। मामी और महिम की कथा, दिवाकर शास्त्री तथा मुंशी मनबोधन लाल की कथा, प्रासंगिक कथाएं हैं, जिनके माध्यम से उपन्यासकार ने समाज के उस यथार्थ का चित्रण किया है जो कम ही साहित्यकार कर पाते हैं। कथा का प्रत्येक पात्र स्वंय में अपनी विशिष्टता समेटे हुए है और समाज की गलन और सड़ंध को वास्तविक रूप में पाठक के सामने उजागर करता है। समाज सेवा के नाम पर अबलाओं को अत्याचार की चक्की में पीसने वाले अनेक बी0 एन0 शर्मा हमारे इर्द गिर्द देखे जा सकते हैं। इन बगुला–भगतों ने न जाने कितनी निराश्रित युवतियों को जिन्दा ही "कुंभीपाक" में ढ़केल दिया है।

कथावस्तु का सुगठन में उपन्यासकार को सफलता मिली। घटनाओं और प्रसंगों का गुम्फन बड़ी कुशलता के साथ किया है। यह भी ध्यान रखा गया है कि कोई भी प्रसंग या घटना अनावश्यक विस्तार न पा जाए। ऐसी कथाओं में मुंशी मनबोधनलाल की कथा, कम्पाउण्डर मंगेरीलाल की कथा, सम्पादक दिवाकर की कथा है। चम्पा तथा भुवन के शिल्प को अपनाया है, वह आकर्षक है। कथावस्तु में रोचकता का निर्वाह आदि से अंत तक हुआ है। घटनाओं की जानकारी एक–एक करके दी गई है। चम्पा का रहस्य उसके मन में उमड़ते हुए भावों द्वारा खोला गया है। तो निर्मला के पत्र द्वारा भुवन के पूर्व जीवन पर प्रकाश डाला गया है, इससे कथावस्तु रोचक बन पड़ी है। "उपन्यास के हर पृष्ठ से समाज की गलन शीलता, सड़ांध, वर्ग–वैषम्य, सामाजिक अत्याचार एवं शोषण की बू आती है, जिससे घबराहट होती है, पर नई दृष्टि मिलती है। सामाजिक यथार्थ का यथा तथ्य चित्रण करने में लेखक ने कोई कसर शेष नहीं रखी है।" [29]

कथावस्तु में कई स्थलों पर अपूर्णता खटकती है। भुवन का आगे क्या हुआ? प्रश्न पाठक के मन में स्वाभाविक रूप से उठ जाता है। उपन्यासकार ने निर्मला के परिवार के नागेसर का जिक्र तो किया है पर उसे भुवन (इन्दिरा) से मिलवाया नहीं। भुवन और नागेसर को दाम्पत्य सूत्र में बंधा दिखाया जाने से

कथावस्तु में पूर्णता आ जाती। कहीं–कहीं कुछ असंगतियां भी हो गई हैं जैसे चम्पा का शरीर आरंभ में बीमारियों के कारण ढांचा भर रह जाता है तो बाद में "सुडौल देह, गेहुंआ सूरत और चांद सा मुखड़ा – कमल पत्री आंखें, नुकीली नाक, पतले होंठ, सांचे में ढले हुए गाल" के वर्णन से उसकी आकृति का दूसरा ही चित्र बनता है। निष्कर्ष रूप में "कुंभीपाक" कथावस्तु की दृष्टि से सफल उपन्यासों में है।

8 – हीरक जयन्ती (1962)

इस उपन्यास में उपन्यासकार ने "नेतावर्ग" को अपना लक्ष्य बनाया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में जो प्रगति तथा सामाजिक परिवर्तन की उम्मीद थी, वह पूरी न हो सकी। स्वतंत्रता का लाभ नेताओं और उनके चमचों तक ही सिमट कर रह गया। प्रखर व्यंग्यों के द्वारा नेताओं और उनके भक्तों के कार्य–कलापों का भंडाफोड़ किया है।

कविवर मृगांक कलकत्ता में एक केन्द्रीय मंत्री के अभिनंदन समारोह में सम्मिलित होते हैं। समारोह की भव्यता और थैली में भेंट की गई रकम को देखकर, कविवर मृगांक बिहार सरकार के मालमंत्री बाबू नरपत सिंह की हीरक जयन्ती मनाने की योजना मन ही मन बनाते हैं। इस आयोजन के पीछे दस–पांच हजार कमाने की लालसी भी अनके मन में है। बाबू नरपत सिंह के चमचों को वे इस योजना को बताकर मंत्री महोदय की स्वीकृति ले लेते हैं। अभिनंदन समारोह के लिए समिति का गठन हो जाता है। कवि मृगांक अभिनंदन ग्रंथ के संपादन का भार अपने ऊपर लेते हैं। एक कार्यालय तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था के उपरांत, अभिनंदन ग्रंथ का कार्य आरंभ हो जाता है।

द्वितीय परिच्छेद में अभिनंदन समिति के पंद्रह सदस्यों सविस्तार व्यंग्यात्मक परिचय दिया गया है जो इन राजनीतिक नेताओं की वास्तविक तस्वीर पेश करता है। समिति के सभी सदस्य "चोर–चोर मौसेरे भाई" की कहावत चरितार्थ करते हैं। तीसरे परिच्छेद में "समारोह समिति की बैठकें" शीर्षक के अन्तर्गत बैठकों का ब्यौरा व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है। पंद्रह सदस्यीय समिति की कई उप समितियां बनाकर डेढ़ लाख रूपए एकत्र करने का लक्ष्य बनाया जाता है। अर्थ समिति के सदस्य कलकत्ता के पास की खानों से यह रकम चंदे में वसूल कर लाते हैं और दौड़भाग के बाद "रायल अठपेजी साइज में

414 पृष्ठ का अभिनंदन ग्रंथ" तैयार हो जाता है।

अभिनंदन समारोह की तारीख तय हो जाती है। अभिनंदन समारोह की अध्यक्षता के लिए एक केन्द्रीय मंत्री को बुलाया जाता है। "पांच बजे शाम" शीर्षक के अन्तर्गत उपन्यासकार ने ऐसे समारोहों का कच्चा चिट्ठा खेलकर रख दिया है। बड़े भव्य ढंग से समारोह सम्पन्न होता है। समारोह की समाप्ति के बाद रात्रि के-भोज का आयोजन डुमरिया के राजा द्वारा किया जाता है। प्रीति–भोज के बाद हास–परिहास के वातावरण में अचानक ही विषाद की पर्तें चढ़ जाती है क्योंकि अवैध तम्बाकू और गांजा लाते हुए माननीय मालमंत्री के पुत्र को पुलिस अपनी कस्टडी में ले लेती है। रामसागर राय एम0 पी0 बड़ी चतुराई से इस समस्या को रफा–दफा करा देते हैं। इसी रात एक और विस्फोटक कार्य सम्पन्न होता है जब मालमंत्री की पुत्री अपने प्रेमी के साथ नकदी और आभूषण लेकर बम्बई भाग जाती है और पिता को लिखती है – "आपकी हीरक जयंती हुई, मेरी यह ताम्र जयंती सही।" [30]

अगले दिन प्रांत भर के समाचार पत्र जहां मालमंत्री के अभिनंदन समारोह का सचित्र विवरण प्रकाशित करते हैं वहां सस्ते स्थानीय समाचार पत्र "बिगुल" ने अपने मुख पृष्ठ पर छापा – "बेटी ने बाप की नाक काट ली ...... बाप ने अपनी हीरक जयंती मनाई तो बेटी ने अपनी तांबा जयंती ...." [31] चिथड़ा सा वह सड़ियल अखबार धड़ा–धड़ बिक रहा था। भद्र लोग भी उसे उत्सुकता के मारे खरीद रहे थे। यहीं आकर कथा समाप्त हो जाती है।

नागार्जुन के इस उपन्यास का कथा–संगठन अत्यंत ढ़ीला–ढ़ाला है। कथावस्तु संक्षिप्त है। उपन्यास में कुल 147 पृष्ठ हैं किंतु प्रारंभ से लेकर 122 पृष्ठ तक कथा का प्रवाह रूका सा प्रतीत होता है। आरंभ के इन पृष्ठों में तत्कालीन कांग्रेसी नेताओं, साहित्यकारों, जमींदारों तथा व्यापारियों का घिनौना रूप पाठकों के सम्मुख रखा जाता है। सम्पूर्ण उपन्यास में कथावस्तु कहीं भी अपनी स्वाभाविक गति तक नहीं पहुंच सकी है। उपन्यास में नौ परिच्छेद हैं किंतु इनको एक सूत्र में नहीं पिरोया जा सका है। कथावस्तु में सुगठन और परस्पर सम्बद्धता का अभाव खलता है।

उपन्यास में कथोपकथनों की भरमार है जिससे पाठक को नाटक होने का भ्रम भी हो सकता है। पात्र और समस्त प्रसंगों पर उपन्यासकार की विचारधारा हावी हो गई है। सारे पात्र और प्रसंग को पाठक लेखक के दृष्टिकोण

से देखने को विवश हो जाता है। हीरक जयन्ती के आयोजको के जीवन का कच्चा चिट्ठा "परिचय पत्रिका" में खोला गया है किंतु यहां कथा, कथा न होकर विवरण बनकर रह गई है।

कथावस्तु का जितना तीव्र विकास उपन्यास के अंतिम पृष्ठों में देखने को मिलता है प्रारंभ में उतना ही मंद। कथावस्तु में कहीं–कहीं रोचकता तथा कौतूहल के क्षण भी आ गए है जिनसे नीरसता में सरसता आ गई है। उपन्यास का अंत अपने चरम बिंदु पर पहुंचकर ही होता है। अंतर्द्वन्दों के माध्यम से पात्रों के चरित्र चित्रण को प्रभावशाली रूप में अंकित किया गया है। शिल्प और स्वरूप की दृष्टि से जहां उपन्यास में विशिष्टता आ गई है, वहां अपने उद्देश्य में लेखक को आंशिक सफलता ही मिल सकी है।

9 – उग्रतारा (1963)

"उग्रतारा" ऐसा उपन्यास है जो भारतीय समाज में नारी की यथार्थ स्थिति का अंकन करता है। उपन्यास में भारतीय परिवेश में उगी प्रगतिशीलता का नूतन स्वर गुंजित हुआ है। उपन्यासकार की वामपंथी विचारधारा का प्रचार–प्रसार इसमें नगण्य है।

उपन्यास में कथा का केन्द्र उग्रतारा नामक युवती है जिस का पति एक दुर्घटना का शिकार हो जाता है सुन्दरपुर–मढ़िया गांव के युवक इस आकस्मिकता में भी गांव के लिए कोई भारी अपशगुन ढूंढते हैं। उगनी (उग्रतारा) का जीवन और कंटकाकीर्ण हो जाता है। इसी गांव का एक नवयुवक कामेश्वर बीस वर्षीय विधुर है। उसकी पत्नी विवाह के छः मास बाद ही मर जाती है। प्रगतिशील विचारधारा की नर्मदेश्वर की मामी उगनी के प्रति कामेश्वर के मन में संकल्प का एक नन्हा सा बीज बो देती है। नर्मदेश्वर की मामी की प्रेरणा से कामेश्वर और उगनिया समीप आते हैं और एक दिन दोनों गांव से भाग जाते हैं। उनका भागना कानूनी जुर्म था, परिणामस्वरूप पकड़े जाने पर कामेश्वर को नौ मास तथा उग्रतारा को तीन मास की सजा हो जाती है। उगनी अपनी सजा के खत्म होने से पूर्व ही रिहा कर दी जाती है। अब उसके सामने यह समस्या थी कि कहां जाए? कामेश्वर जेल में था और गांव वापिस जाने की हिम्मत उसमें नहीं थी। जेल वार्डर भभीखन सिंह की दया से वह उसके घर में स्थान पा जाती है। पिता की बराबर उम्र वाले भभीखन सिंह से उसके फेरे पड़ जाते हैं किंतु उगनी उसे

पति के रूप में स्वीकार नहीं कर पाती है। एक दिन भांग की बर्फी खिलाकर भभीखन सिंह उसके शरीर पर कब्जा कर लेता है।

उगनी को भभीखन के घर में रहते हुए चार–पांच मास व्यतीत होते हैं कि एक दिन कामेश्वर फेरी वाले के रूप में जेल के क्वार्टस पर कपड़ा बेचने आता है। उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में कथा का प्रारंभ इसी घटना से होता है। पूर्व घटित घटनाओं का ज्ञान पात्रों के अन्तर्द्वन्द से पाठक को ज्ञात होता है। कामेश्वर को अचानक इस रूप में देखकर उगनी को सहसा विश्वास नहीं होता है क्योंकि उसके हिसाब से कामेश्वर को तीन मास बाद जेल से छूटना था किंतु कामेश्वर सजा की अवधि पूरा होने से पहले ही छोड़ दिया गया था। दोनों की भेंट होती है और अगली मुलाकात का दिन और स्थान तय कर लिया जाता है। दोनों में विचार–विमर्श होता है। उगनी को भय है कि उसके गर्भ में चार मास का भ्रूण होने के कारण कामेश्वर उसे स्वीकार नहीं करेगा किंतु कामेश्वर उसे अपनाने का आश्वासन देता है। कार्यक्रम बनाकर दोनों वहां से भागकर नर्मदेश्वर की भाभी की छोटी बहिन के पास पहुंच जाते हैं। इस सारी योजना में नर्मदेश्वर की भाभी की मुख्य भूमिका है। नर्मदेश्वर की भाभी तथ अन्य लोगों की उपस्थिति में कामेश्वर उगनी की मांग में सिंदूर भरता है। यहां से दोनों नया जीवन आरंभ करते हैं। कथा के अंत में उगनी भभीखन सिंह के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हुई लिखती है और समय आने पर उसके गर्भ में पल रही उसकी सन्तान को उसे सौंप देने का आश्वासन देती है।

नागार्जुन ने उपन्यास में जिस सामाजिक समस्या को उठाया है, उसका स्वस्थ एवं सात्विक समाधान भी प्रस्तुत किया है। उगनी की समस्या मात्र विधवा विवाह ही नहीं है उसके साथ अनेक सामाजिक समस्याएं भी जुड़ी हुई हैं। नर्मदेश्वर की भाभी द्वारा उन समस्याओं को उपन्यासकार ने उठाया है। समाज के नवजागरण के लिए ऐसा किया जाना आवश्यक भी है। कथावस्तु का विषय यद्यपि पुराना है फिर भी उसके प्रस्तुतीकरण में नवीनता तथा आकर्षण हैं। उपन्यास मे प्रस्तुत पात्रों को दिन–प्रतिदिन के ज़ीवन में पाठक उपने चारों ओर देख सकता है। जेल के जीवन की अंतरंग झांकी बहुत सजीव और वास्तविक है पर कुछ अनावश्यक विस्तार की शिकार हो गई है। कथा का प्रवाह यहां आकर मंद पड़ गया है। इसके अतिरिक्त उपन्यास में कथावस्तु में प्रवाह बराबर बना रहता है। कथा का सुगठन और रोचकता का निर्वाह कथावस्तु में हुआ है।

सांकेतिकता तथा संवेदनात्मक अनुभूति जिस रूप में प्रस्तुत की गई है, पाठक को प्रभावित करती है। उपन्यास शिल्प की दृष्टि से "उग्रतारा" नागार्जुन का सबसे सफल उपन्यास है।[32]

उपन्यास में मुख्य कथा कामेश्वर तथा उगनी की है और अन्य प्रसंग जिनमें भभीखन सिंह का जेल के अंदर का वार्तालाप, गीता परिवार का उगनी के साथ संबंध आदि प्रमुख है, कथावस्तु को गति देते हैं। उपन्यासकार ने रहस्यों पर से एक–एक करके पर्दा उठाया है जिससे पाठका को यह बराबर जिज्ञासा बनी रहती है कि आगे जाने क्या होगा? डा0 लक्ष्मीकान्त सिंहा ने "उग्रतारा" की समस्या को पुरानी माना है और लेखक के दृष्टिकोण को भावुकतापूर्ण और रूमानी कहा है।[33] किंतु "उग्रतारा" में नागार्जुन का दृष्टिकोण रूमानी नहीं कहा जा सकता है। युवक और युवतियों में भावुकता न हो यह कैसे संभव है? पर इस भावुकता को कैसे समाज के नव निर्माण में रत किया जाए? यही उपन्यासकार का अभीष्ठ है और इसमें वह सफल रहा है किसी दूसरे पुरूष द्वारा गर्भिणी स्त्री को समाज के सामने साहसपूर्वक अपनाने तथा प्राचीन रूढ़ियों और परंपराओं को तोड़ने के लिए आज के समाज में कामेश्वर जैसे नवयुवकों की आवश्यकता है। कथावस्तु की दृष्टि से "उग्रतारा" नागार्जुन का एक श्रेष्ठ उपन्यास है।

10 – इमरतिया (1968)

नागार्जुन का एक ही उपन्यास 1968 में दो भिन्न–भिन्न नामें से अलग–अलग प्रकाशित हुआ – "इमरतिया"[34] तथा "जमनिया का बाबा"[35] इस उपन्यास में उपन्यासकार ने साधु–संतों, ठगों और अपराधियों के दुश्चक्र में फंसी युवती का चित्रण किया है जो असहाय है। साथ ही तथाकथित "बाबाओं" के रहस्यों पर से पर्दा उठाकर उनका नग्न रूप पाठकों के सम्मुख रख दिया है।

"इमरतिया" एक मुखोदगरित उपन्यास है। कथावस्तु के चार मुख्य पात्र हैं – इमरतिया, बाबा, मस्तराम तथा भगौतिदास। उपन्यास में ये पात्र बारी–बारी से उपस्थित होकर अपनी कथा कहते हैं और कथा आगे बढ़ती रहती है। उपन्यास में कुल सात परिच्छेद हैं। "जमनिया का बाबा" में कथा का प्रारंभ "बाबा" द्वारा होता है और पात्रों का क्रम है – बाबा, मस्तराम, इमरतिया, भगौती, इमरतिया, मस्तराम, बाबा। "इमरतिया" में कथा का प्रारंभ इमरतिया के मुख से होता है और पात्रों के प्रस्तुतीकरण का क्रम है – इमरतिया, मस्तराम, बाबा, भगौती,

बाबा, मस्तराम, इमरतिया। इस प्रकारा दोनों उपन्यासों की कथावस्तु एक होते हुए भी दोनों में परिच्छेदों का क्रम बदल गया है। दोनों उपन्यासों में परिच्छेदों के क्रम में परिवर्तन से कथाप्रवाह में कोई अवरोध नहीं है।

भारत के उत्तर में पर्वतीय प्रदेश नेपाल की तराई से लगा हुआ बिहार प्रांत तथा उत्तर प्रदेश की सीमा कुछ समय पूर्व तक तस्करी का मुख्य केन्द्र बन गए थे। बिहार प्रांत के जमींदारों तथा व्यापारियों ने इस क्षेत्र में सरकार तथा जनता की आंखें में धूल झोंकने के लिए धर्म और साधना के अड्डे बना लिए थे। इन अडड़ों में हत्या, बलात्कार, तस्करी, जासूसी, जोर–जुल्म का कौन सा कार्य ऐसा था जो नहीं हुआ। "इमरतिया" की पृष्ठभूमि इन्हीं अडडों पर आधारित है।

कथा का केन्द्र एक मठ है जो "जमनिया का मठ"के नाम से प्रसिद्ध है। जमनिया बिहार–उत्तर प्रदेश राज्यों की सीमाओं पर नारायणी नदी के किनारे स्थित है। रेलवे स्टेशन तथा चीनी मिल भी यहां है। जमींदारी–प्रथा के उन्मूलन का कानून पारित होते ही जमनिया और खनौली के जमींदारों ने जमनिया के मठ की स्थापना रातों रात इसलिए कर दी ताकि वे इस कानून के बनने पर भी ज़मीन हड़प सकें। कछार भूमि से एक जटाधारी औघड़ बाबा को इस मठ का महंत बनाकर बिठा दिया जाता है। यह औघड़ बाबा वास्तव में करीम बख्श नाम का एक मुसलमान है, जो जवानी के दिनों में एक गंभीर अपराध करके नेपाल भाग गया था। बीस वर्ष तक करीम बख्श नेपाल में रहा और अपने दुष्कर्मों के कारण अनेक बार पिटा। अब यहां करीम बख्श "जमनिया का बाबा" के नाम से विख्यात है।

जमनिया का मठ में असंभव चमत्कारों का जाल बिछाकर भोली–भाली जनता को फंसाया जाता है। पिछड़ी जाति की बहू–बेटियां मठ में पल रहे इन गुंडों की वासना का शिकर बनती रहतीं हैं। मठ द्वारा मेले का आयोजन, अनुष्ठान आदि करके पैसा कमाया जाता है। मठ के बाबा के साथ–साथ औघड़ साधु मस्तराम, अवधूतिने इमरतिया, लक्ष्मी, गौरी आदि ऐसे वातावरण का निर्माण करते हैं जिसमें भोले–भाले धर्म–भीरू लोग फंसते रहते हैं। मठ के स्थापित करने में कई प्रमुख प्रभावशाली व्यक्तियों का हाथ रहा है किंतु वास्तविक मालिक भगौती प्रसाद है जो मठ से लाखों रूपए की कमाई कर रहा है। मठ की स्थापना करने वाले अन्य लोग ललता प्रसाद, सेठ विर्धीचन्द, ठाकुर शिवपूजन सिंह आदि जनता के पैसे से गुलछर्रे उड़ाते हैं। हत्या और वासना का नंगा नाच यहां

होता है। एक घटना ऐसी घटित हुई जिसने मठ की प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया। घटना यह हुई कि एक दिन स्वामी अभयानंद जमनिया के मठ में आते हैं, मठ का अवधूत मस्तराम बिना किसी दोष के अभयानंद को इतना पीटता है कि वह बेहोश हो जाता है। अभयानंद शिक्षित और पहुंच वाला व्यक्ति है। वह इस की रिपोर्ट पुलिस में कर देता है। डॉक्टरी निरीक्षण के साथ सारी घटना अखबार में प्रकाशित हो जाती है।

स्वामी अभयानंद वाली घटना मठ के पतन का कारण बनती है। बाबा, मस्तराम, इमरतिया को इस घटना के संबंध में गिरफ्तार कर लिया जाता है। जेल पहुंचकर बाबा किसी चमत्कार की उम्मीद में था किंतु उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है। बाबा को एक साधारण कैदी की तरह जेल में रहना पड़ता है। इमरतिया कुछ दिन बाद जमानत पर रिहा हो जाती है पर बाबा और मस्तराम नहीं छूट पाते हैं। भगौती, सेठ विर्धीचंद आदि अपना पल्ला झाड़कर अलग हो जाते हैं। बाबा को दो वर्ष की सजा हो जाती है। इमरतिया इस आडम्बरी जीवन को छोड़ने का निश्चय करती है और अपनी मुंह बोली बहन, जो कबीर पंथी सधुइन है, के पास हरिद्वार चली जाती है। यहीं आकर कथा समाप्त हो जाती है।

उपन्यासकार ने घटनाओं के चयन और उनके प्रस्तुतीकरण में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। प्रत्येक पात्र का पाठक के सामने आकर अपने को प्रस्तुत करना और साथ ही साथ कथा को गति मिलते जाना एक नवीनता लिए हुए है। प्रथम परिच्छेद में लक्ष्मी के पुत्र की बलि, मस्तराम द्वारा अभयानंद की पिटाई, बाबा की गिरफ्तारी, उसकी जटाओं का कर्तन, हरिजनों की समस्या आदि प्रसंग कथा को गति देते हैं और पृष्ठ भूमि पर प्रकाश डालते हैं। अन्य परिच्छेदों में बाबा के मुख से मठ की स्थापना का रहस्य अपने पूर्व जीवन का विवरण, हिंदू जाति की खोखली स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। भगौती का अपना पक्ष स्वयं प्रस्तुत करना, विर्धीचंद का किनारा करना आदि प्रसंगों के चयन में उपन्यासकार के कौशल का परिचय मिलता है। घटनाओं का सुगठन यहां देखा जा सकता है। किंतु लेखक का साम्यवादी दृष्टिकोण, फैक्टरी में हड़ताल की चर्चा, लाल झण्डे वालों की प्रशंसा आदि से प्रकट हो ही जाता है। इन घटनाओं की कथावस्तु में कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से यह कृति लेखक की एक उपलब्धि है।

दो उपन्यासों में एक कथा को अलग–अलग ढंग से प्रस्तुत करना कि कथाक्रम भंग न हो और घटनाओं का सुगुम्फन बना रहे, वास्तव में एक अनुपम शिल्पी का कार्य है। कथा में सरसता और रोचकता है। समस्त घटनाओं तथा परिच्छेदों में वर्णित ब्यौरों का लेखक ने अंत तक सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। उपन्यास की कथा एक सत्य घटना पर आधारित है । नागार्जुन के जीवन में घटित घटना स्वामी अभयानंद के साथ घटित घटना ही है। सामाजिक भ्रष्टाचार का नग्नरूप उपन्यास में चित्रित किया गया है। समाज के कोढ़ भगौती प्रसाद, विर्धीचंद, ललता प्रसाद जैसे न जाने कितने बगुला भगत हैं जो जनता को धर्म के नाम पर लूट रहे हैं। इमरतिया का चरित्र कहीं पर भी पाठकों को प्रभावित नहीं कर पाया है। उपन्यास में मार्मिकता तथा गहनता का अभाव है। "इमरतिया" तथा "जमनिया का बाबा" दोनों शीर्षकों में "जमनिया का बाबा" अधिक उपयुक्त है। इस उपन्यास में नागार्जुन " अपनी पिछली उपलब्धियों से आगे नहीं बढ़ पाये हैं।" [36]

संदर्भ

1 – डा0 सत्यपाल चुघ: प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ0 18

2 - W. H. Hudson : An Introduction To The Study of Literature, Page 130

3 – डा0 भागीरथ मिश्र : काव्यशास्त्र, पृ0 77

4 – शिवनारायण श्रीवास्तव : हिंदी उपन्यास, पृ0 9

5 – गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ0 156–157

6 - An Introduction To The Study of Literature, Page 136

7 - Aspect of The Novel, Page 31

8 – डॉ0 मक्खन लाल शर्मा : हिंदी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा, पृ0 46

9 – हिंदी साहित्य कोश, पृ0 142

10 – काव्यशास्त्र, पृ0 77–78

11 – प्रतापनारायण टंडन : हिंदी उपन्यासों में कथा–शिल्प का विकास, पृ0 77

12 – डॉ0 भगीरथ मिश्र : काव्य शास्त्र, पृ0 78, 13 – वही, पृ0 78

14 – गुलाबराय, काव्य के रूप, पृ0 161

15 – आलोचना, अंक 13, पृ0 209

16 – आलोचना : अंक 34 : (जुलाई 1965) कृष्णानंद पीयूष का लेख "बलचनमा" पृ0 199–200

17 – डॉ0 रमेश कुंतल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है, पृ0 283

18 – वही, , पृ0 284

19 – आलोचना : अंक 34 (जौलाई 1965) : कृष्णानंद पीयूष का लेख "बलचनमा", पृ0 198
20 – सुषमा धवन : हिंदी उपन्यास, पृ0 308
21 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 69
22 – आलोचना – अंक 13, पृ0 211
23 – ब्रजभूषण आदर्श : हिंदी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन, पृ0 415
24 – वरूण के बेटे, पृ0 25
25 – डॉ0 प्रेम भटनागर : हिंदी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ0 155
26 – हिंदी उपन्यास, पृ0 196
27 – नया पथ : (अप्रैल 1958) डॉ0 बेचन का लेख , पृ0 169
28 – डॉ0 लक्ष्मी कांत सिन्हा : हिंदी उपन्यास साहित्सय : उदभव और विकास, पृ0 310
29 – डॉ0 सुरेश सिन्हा : हिंदी उपन्यास : उद्भव और विकास, पृ0 514
30 – हीरक जयन्ती, पृ0 145, 31 – वही, पृ0 147
32 – डॉ0 सुरेश सिन्हा : हिंदी उपन्यास : उद्भव और विकास, पृ0 516
33 – डॉ0 लक्ष्मी कांत सिंह : हिंदी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास, पृ0 312
34 – इमरतिया : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
35 – जमनिया का बाबा : किताब महल, इलाहाबाद
36 – हिंदी साहित्यकोश (1968) : (जयनारायण मंडल), पृ0 205

3.
नागार्जुन के औपन्यासिक चरित्र

उपन्यास में उपन्यासकार एक काल्पनिक संसार का निर्माण करता है। औपन्यासिक पात्र ही इस काल्पनिक संसार के प्राणी होते हैं। ईश्वर ने सृष्टि में अनेकानेक जीवों की सृष्टि की है, किंतु मनुष्य उन सब में श्रेष्ठ है। सृष्टि का प्रधान प्राणी मनुष्य ही है। इसी प्रकार जब उपन्यासकार किसी काल्पनिक संसार का सृजन करता है तो उस संसार में पात्र ही प्रधान होते हैं। पात्रों का चरित्र–चित्रण उपन्यासकार का प्रमुख कार्य होता है। कथानक को अपना विशिष्ट रूप भी पात्रों के विशिष्ट चरित्र के कारण प्राप्त होता है। इन्हीं पात्रों को उपयुक्त पृष्ठभूमि में उपन्यासकार अपनी भाषा–शैली द्वारा चित्रित करता है। इस प्रकार चरित्र–चित्रण उपन्यास का मूल आधार बन जाता है। "यदि उपन्यास का विषय मनुष्य है तो चरित्र–चित्रण उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व उसके चरित्र में है। चरित्र के ही कारण हम एक मनुष्य को दूसरे से पृथक करते हैं।" [1]

उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने चरित्र–चित्रण को उपन्यास का मूल तत्व स्वीकार किया है – "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं। मानव–चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" [2] प्रेमचन्द का यह कथन सिद्ध करता है कि उपन्यास में मानव जीवन के चित्र एवं चरित्र क विशेष महत्व है। उपन्यास में घटित होने वाली घटनाएं पात्र या चरित्र से ही संबंधित होती हैं। "चरित्रों" के अभाव में न तो

संवादों की योजना की जा सकती है, न तो किसी पूरक की समस्या को उठाया जा सकता है, न तो कल्पना के ही भूमि मिल सकती है, न तो कथावस्तु का ही गठन हो सकता है और न तो उपन्यास के उद्देश्य की ही सिद्धि हो सकती है। चरित्र उपन्यास के सभी तत्वों को अस्तित्व प्रदान करताा है।"[3] कथा की कल्पना में ही पात्रों की विद्यमानता है।[4]

काल्पनिक संसार को उपन्यासकार किस सीमा तक यथार्थ के धरातल तक पहुंचाता है यह उसकी सफलता की कसौटी होती है। उपन्यास के चरित्र ऐसे हों जो पाठक को लगे कि ये हमारे बीच ही जी रहे हैं। चरित्र ही पाठक के मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ता है। "गोदान" का होरी हो या "बलचनमा" का बालचन्दराउत अथवा "झूठा–सच" की तारा, ये सभी पात्र ऐसे हैं जिन्होने उपन्यास तथा उपन्यासकार को अमर बना दिया है। उपन्यास–सम्राट प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है "भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम सत्य अधिक होगा, हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। भावी उपन्यास जीवन–चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई–बड़ाई का फैसला उन कठिनाईयों से लिया जाएगा जिन पर उसने विजय पायी हे। अभी हमें मूलाधार दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो या किस देशभक्त का या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर कम होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।" प्रेमचन्द जी की बात आज की परिस्थिति में सत्य सिद्ध हो रही है। उपन्यास एक ऐसी कलाकृति है जो कुछ नियमों में बंधकर चलती है। ये नियम दैनिक जीवन से भिन्न हैं। उपन्यास का पात्र तभी जीवित रह सकता है जब नियमों के अनुसार जीता है।

संसार में नाना प्रकार के प्राणी विद्यमान हैं। इन प्राणियों में कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें हम महान आदर्श के रूप में मान सकते हैं, अनेक ऐसे कुटिल हैं जिन्हें जन समाज में राक्षस के रूप में अभिहित किया गया है। वास्तव में इन सभी का हमारे लिए कोई न कोई उपयोग है। आदर्श पात्रों से जहां हम प्रत्यक्ष रूप में शिक्षा ग्रहण करते हैं वाहं कुटिल पात्रों को देखकर उनसे बचने का उपक्रम भी कर सकते हैं। यदि उपन्यासकार चरित्रों को सम्यक् एवं सजीव रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ होता है तो यह उसकी एक बड़ी उपलब्धि मानी जायेगी । "यदि

उपन्यास के पात्र उपन्यास के चरित्रों जैसे ही न लगकर जीवन में देखे–सुने और सम्पर्क में आये व्यक्तियों के समान लगते हैं और उनके साथ ममता, घृणा, द्वेष सौहार्द्र, कठवा आदि के भाव स्वतः जमने लगते हैं, तो समझिये कि उपन्यास में सफल चतरत्र–चित्रण हुआ है। अतः पात्रों की सजीवता अत्यन्त आवश्यक है। उपन्यास पढ़ चुकने के बाद भी पात्र हमारे भीतर अपना प्रभाव डाले रहते हैं और उन्हें हम भूल नहीं पाते।"[6] उपन्यासकार को जो भी चरित्र प्रस्तुत करे वह यथार्थ पर आधारित होना चाहिए। पात्र चाहे बुरे हों या अच्छे हों, उपन्यासकार की सफलता उसकी बुराई या अच्छाई को सही ढंग से प्रस्तुत करने में ही है।

बाबू गुलाबराय का कथन है – "उपन्यासकार जब एक बार पात्रों की सृष्टि कर लेता है तब वे अपनी चारित्रिक विशेषताओं के अनुकूल ही काम करते हैं। फिर यदि वह उनको अपनी इच्छाओं के अनुकूल चलाना चाहे तो उनकी सजीवता में अन्तर आ जायेगा। सजीव पात्र कठपुतली की भांति सूत्र–संचालिता नहीं हो सकते।"[7] यह सत्य है कि जब उपन्यासकार सजीव पात्रों की डोर कठपुतली की तरह खींचने का प्रयास करता है तब उस चरित्र की हत्या ही हो जाती है। उपन्यासकार का व्यक्तित्व उपन्यास के चरित्र पर छा न जाए इस का ध्यान उपन्यासकार को रखना आवश्यक है। फलावेयर ने स्वीकार किया है कि वह अपनी कृति में अपने व्यक्तित्व को कभी भी नहीं लाना चाहता, फिर भी वह पर्याप्त मात्रा में आ गया है। उसका दावा है कि उसने कोमल एवं मार्मिक स्थलों की रचना प्रेम के अभाव में तथा उत्तेजक एवं जोशीले प्रसंगों की सृष्टि अनुत्तेजक क्षणों में की है। उसका विश्वास है कि स्मृति और कल्पना के द्वारा ही वह श्रेष्ठ रचना करने में सफल हो सका है।[8] जिस वस्तु का कभी अनुभव नहीं हुआ हो उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त कठिन है। उपन्यासकार वहीं तक अपने व्यक्तित्व को चरित्रों में ढ़ालने का प्रयास करे जहां तक चरित्रों के अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को आघात न पहुंचे।

पात्रों का वर्गीकरण -

उपन्यास में उपन्यासकार को अनेक प्रकार के पात्रों की सृष्टि करनी पड़ती है। वह पात्रों की सृष्टि भी इस प्रकार करने का प्रयास करता है कि उपन्यास का प्रत्येक चरित्र स्वाभाविक लगे। अनेक विद्वानों ने पात्रों के वर्गीकरण के

अलग–अलग आधार माने हैं और उनके आधार पर ही पात्रों का वर्गीकरण किया है। ई0 एम0 फॉस्टर ने पात्रों को दो वर्गों में रखा है[9] –

1 – चपटे (Flat) 2 – गोल (Round)

चपटे या "फ्लैट" चरित्रों को अंग्रेजी साहित्य की सत्रहवीं शताब्दी में "हयूमरस" (Humors) के नाम से पुकारते थे। कभी–कभी उन्हें टाइप्स (Types) तथा "केरिकेचर" (Caricature) भी कहते थे।ऐसे चरित्र निर्माण के पीछे एक निश्चित आदर्श अथवा गुण का प्राधान्य होता था। इसके अतिरिक्त जब उनमें एक से अधिक गुणों का समावेश हो जाता था, तो वहीं उसमें मोड़ उपस्थित होने लग जाते थे।[10] चपटे (Flat) चरित्रों की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि वे जहां कहीं भी हों उन्हें बड़ी आसानी से पहचाना जा सकता है। फॉस्टर उन चरित्रों को फ्लैट मानता है जो मूलतः एक विचार या विशेषता के चारों ओर उसी को केन्द्र मानकर घूमते रहते हैं। ये चरित्र अपरिवर्तनशील होते है तथा अपना प्रभाव छोड़ने में समर्थ होते हैं। राउण्ड या गोल चरित्रों से अभिप्राय है अनेक आयाम वाले पात्र। ऐसे पात्रों का केन्द्रगत विचार या विशेषता एक से अधिक हो जाती है। इस प्रकार के पात्रों का चारित्रिक विकास परिवर्तन लिए हुए रहता है। "राउण्ड" पात्रों के चरित्र मनोवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं।[11] "फ्लैट" चरित्र कभी–कभी पाठकों के मन में एक प्रकार की उबास उत्पन्न कर देते हैं। "राउण्ड" चरित्रों को पहचानना कठिन होता है, जिससे पग–पग पर उनकी गतिविधियों को जानने के लिए पाठक में उत्सुकता बनी रहती है। नागार्जुन कृत "दुखमोचन" में दुखमोचन "फ्लैट" चरित्र है तो मास्टर टेकचंद को "राउण्ड" चरित्र के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रेमचन्द कृत "रंग–भूमि" का "सूरदास" "फ्लैट" चरित्र है तो अज्ञेय कृत "शेखर : एक जीवनी" का शेखर एक "राउण्ड" चरित्र है।

मानवीय गुणों के आधार पर भी पात्रों का वर्गीकरण किया जा सकता है–

(1) आदर्श पात्र,

(2) कुटिल पात्र,

(3) साधारण पात्र।

आर्थिक आधार पर पात्रों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है–

(1) उच्चवर्गीय पात्र,

(2) मध्यवर्गीय पात्र,

(3) निम्नवर्गीय पात्र।

राजनीतिक विचारधारा के आधार पर भी पात्रों का वर्गीकरण किया जा सकता है –

(1) राष्ट्रीय विचारधारा वाले पात्र,

(2) समाजवादी विचारधारा वाले पात्र,

(3) साम्यवादी विचारधारा वाले पात्र।

इसी प्रकार एक अन्य वर्गीकरण इस आधार पर किया जा सकता है –

(1) प्रगतिवादी पात्र,

(2) रूढ़िवादी पात्र,

(3) मध्यमार्गी पात्र।

उपन्यास में कोई पात्र किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करता हुआ अग्रसर होता है तो कोई अपना व्यक्तित्व प्रस्फुरित करता हुआ सामने आता है। इस आधार पर भी पात्रों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है –

(1) सामान्य,

(2) व्यक्तित्व प्रधान,

(3) प्रतिनिधि।

नागार्जुन के औपन्यासिक चरित्रों में अधिकांश पात्र निम्न वर्ग के हैं। सामान्य रूप से नागार्जुन के औपन्यासिक चरित्रों को तीन श्रेणियों में रख सकते हैं –

(1) प्रमुख पात्र,

(2) सहायक पात्र,

(3) गौण पात्र।

(1) प्रमुख पात्र :– प्रमुख पात्रों में कुल इक्कीस पात्रों को रखा जा सकता है – गौरी, रतिनाथ (रतिनाथ की चाची), बलचनमा (बलचनमा), जैकिसुन (बाबा बटेसरनाथ), खुरसुन, मधुरी (वरूण के बेटे), दिगम्बर मलिक, बिसेसरी, खोंखा पण्डित (नई पौध), भुवन, चम्पा, बी0 एन0 शर्मा (कुंभीपाक), नरपति नारायण सिंह (हीरक जयन्ती), उग्रतारा, कामेश्वर, भभीखन सिंह (उग्रतारा), इमरतिया, भगोती, बाबा, मस्तराम (इमरतिया)।

(2) सहायक पात्र :– सहायक पात्रों की कुल संख्या लगभग पचपन है जिनमें जयनाथ, उमानाथ, ताराचरण, गौरी की मां, दयमन्ती, कमलमुखी (रतिनाथ की चाची), फूल बाबू, महेन्द्र बाबू, छोटे मालिक, मालकिन, बलचनमा की मां, रबैनी (बलचनमा), जीवनाथ, दयानाथ, टुनाई पाठक, जैनाराण झा, जयमाधव, वेणीमाधव (बाबा बटेसरनाथ), कपिल, माया, सुखदेव, लीलाधर, शशिकला, मुंशी पुलकित दास, टेकनाथ (दुखमोचन), भेला, मोहन मांझाी, बिसुनी, गंगा सहनी (वरूण के बेटे), बलभद्र झा, महेश्वर झा, हेहुआ, गौनउड़ा, चतुरानन चौधरी, छेटकराज, दुर्गानंदन, (नई पौध), मंजुमुखी, कवि मृगांक, लल्लनजी, गोपी बल्लभ ठाकुर, राजा रेवती रंजन प्रसाद सिंह, देव नंदन प्रसाद, रामसागर (हीरक जयन्ती), नर्मदेश्वर, उगनी की मां, गीता, गीता की मां, नर्मदेश्वर की भाभी, (उग्रतारा), तिवारी, तिलकधारीदास, मुंगोरीलााल, निर्मला (कुंभीपाक), स्वामी अभयानंद, सेठ विर्धिचंद, ललता प्रसाद, पी0 के दास तथा अष्ठाना (इमरतिया)।

(3) गौण पात्र :– गौण पात्रों की संख्या एक सौ पचपन के लगभग है जिनमें प्रतिभामा, ताराचरण, जयदेव, दामो ठाकुर विधवा सुशीला (रतिनाथ की चाची), अर्पणा, हरसू की मां, मधुकान्त, नित्या बाबू, रामनाथ (दुखमोचन), उम्मी की मां, उम्मी (उग्रतारा), रंजना, सदानंद (कुंभीपाक) आदि आते हैं।

पात्रों को स्त्री और पुरूष के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है–

(1) स्त्री पात्र,

(2) पुरूष पात्र।

नागार्जुन के उपन्यासों में चौसठ स्त्री पात्र है और एक सौ छियासठ पुरूष पात्र हैं। प्रमुख स्त्री पात्रों में गौरी, उग्रतारा, इमरतिया, भुवन तथा चम्पा ऐसे नारी पात्रों में हैं जिन्होने पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़ा है। इसी प्रकार पुरूष पात्रों मे बलचनमा, दिगम्बर मलिक, बी0 एन0 शर्मा, दुखमोचन, कवि मृगांक, मंत्री नरपत बाबू जी ऐसे पात्र हैं जो एक वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं और पाठकों पर अपनी स्पष्ट छाप छोड़ते हैं।

आदर्शवादी तथा यथार्थवादी चरित्र के आधार पर नागार्जुन के औपन्यासिक चरित्रों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। आदर्शवादी पात्रों में दुखमोचन, कामेश्वर आदि प्रमुख हैं। यथार्थवादी पात्रों में गौरी, मंगल, भोला, बलचनमा आदि प्रमुख हैं। उपरोक्त सभी वर्गीकरणें के आधार पर कोई एक

ऐसा वर्गीकरण करना संभव नहीं है जिनमें समस्त औपन्यासिक चरित्रों को रखा जा सके।

नागार्जुन के चरित्र अधिकांशतः निम्नवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपन्यासकार अपने उपन्यासों के माध्यम से दलित तथा उपेक्षित वर्ग की ओर ध्यान खींचना चाहता है। इसका कारण यह है कि नागार्जुन ने स्वंय अपना जीवन विपन्नता में व्यतीत किया है और इसी कारण प्रत्येक उपन्यास में कोई न कोई चरित्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उपन्यासकार की विचारधारा से प्रभावित दिखाई देता है। "लघु उपन्यास में लेखक अपनी स्वानुभूति को प्रकट करने तथा अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए स्वयं किसी पात्र के रूप में प्रवेश करता है। कई लघु उपन्यासों में लेखक चाहकर भी अपने प्रवेश को छिपा नहीं पाता है। वह यदि नायक या नायिका के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता तो किसी अन्य पात्र के रूप में प्रवेश करता है।" [12] नागार्जुन के उपन्यासों में ऐसे चरित्र आसानी से पहचाने जा सकते हैं। रतिनाथ (रतिनाथ की चाची), बालचंद राउत (बलचनमा), स्वामी अभयानंद (इमरतिया) तथा मोहन मांझी (वरूण के बेटे) आदि ऐसे ही चरित्र हैं। अधिकांश औपन्यासिक चरित्र ऐसे हैं जो साम्यवादी विचारधारा से ओत–प्रोत हैं। पर इतना अवश्य है कि उपन्यासकार ने जिस सामाजिक सत्य को चित्रित किया है वह स्वंय उसका भेगा हुआ है। गरीब चरवाहे बलचनमा से लेकर मंत्री नरपत नारायण सिंह तक के सभी चरित्र लेखक ने बड़ी स्वाभाविकता और सरलता से चित्रित किए हैं। नागार्जुन के समस्त पात्रों को हम पांच वर्गो में रख सकते हैं –

(1) निम्न–वर्ग,
(2) उच्च–वर्ग,
(3) नेता–वर्ग,
(4) प्रगतिशील अथवा युवा–वर्ग,
(5) पाखंडी अथवा साधु–वर्ग,

(1) निम्न–वर्ग :– नागार्जुन ने अपने औपन्यासिक चरित्र प्रेमचंद के समान ही यथार्थ के धरातल से चुने हैं। उपेक्षित और दलित–वर्ग से उनकी विशेष सहानुभूति है। निम्न–वर्ग का चरित्र–चित्रण इतनी सजीवता से अंकित किया गया है कि पाठक को यह अनुभव होता है कि वह अपने आस–पास इन पात्रों को

चलते–फिरते देख रहा है। सामन्तों और जमींदारों ने किस प्रकार किसान–मजदूरों का शोषण किया है उसकी झलक "बलचनमा" के माध्यम से पाठकों को मिल जाती है। नागार्जुन के पात्र परिस्थितियों से दृढ़ रहने वाले है वे झुक नहीं सकते चाहे टूट जाए।
ये पात्र स्वाभिमानी भी है और परिश्रमी भी। बालचन्द राउत (बलचनमा), कुल्ली राउत (रतिनाथ की चाची), शत्रुमर्दनराय (बाबा बटेसरनाथ) खुरखुन, गोनड़ आदि मछुए (वरूण के बेटे), हरखू की मां, (दुखमोचन) ऐसे ही पात्र हैं। इन सभी पात्रों के जीवन का ताना बाना अभावों के धागों सं बुना गया है। ये सभी पात्र सच्चे अर्थों में भारतीय मजदूर, किसान, मछुए आदि का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(2) उच्च वर्ग :– उच्च वर्ग के पात्रों का चित्रण करते समय नागार्जुन की लेखनी अत्यधिक प्रखर हो गई है। उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि लेखक स्वंय मजदूर–वर्ग का पक्षधर है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव इस प्रकार के पात्रों के चित्रण के समय दिखाई दे जाता है। श्रमिकों के श्रम के बल पर मौज उड़ाने वाले वर्ग का सुन्दर और सही चित्रण किया गया है। इस उच्च–वर्ग के अन्तर्गत लेखक ने जमींदार, पूंजीपति तथा सरकार कर्मचारी का चित्रण विशेष रूप से लेखक ने किया है। जमींदारों तथा साहूकारों ने मजदूरों पर कौन–कौन से जुल्म नहीं ढ़ाये? कोरे कागज पर अंगूठा लगवाकर मनचाही रकम उस पर लिख लेना, खलिहानों से ही फसल उठवा लेना तथा मारपीट करना आदि ऐसे कटु सत्य हैं जो इस वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न कर देते हैं। "बाबा बटेसरनाथ" में लेखक ने जमींदार के लड़के के विवाह का चित्रण किया है कि "एक बार जमींदार के लड़के के विवाह में सोलह मजदूर एक तख्त उठाकर ले गए। उस पर वेश्या का नाच हो रहा था, साजिन्दों सहित जमींदार का लड़का उस पर बैठा था।"[13] इसी प्रकार अनेक कृत्य पाठक के रोंगटे खड़े कर देते हैं। "बलचनमा के जमींदार तो और भी अधिक नृशंस और क्रूर हैं। बलचनमा के पिता को केवल एक कच्चे आम की चोरी करने के अपराध में अतना पीटा गया कि उसने दम तोड़ दिया। साठ वर्षीय चतुरानन चौधरी (नई पौध) अपनी हविश को पूरा करने के लिए 13 वर्षीय कन्या के जीवन को नरक बनना चाहते हैं। दुर्गानन्दन सिंह (रतिनाथ की चाची) भी इसी प्रकार के पात्र हैं जो गरीबों का शोषण करते हैं। सूद के चक्कर में उनके पास जो एक

बार फंस गया वह फिर निकलने ही नहीं पाता। "वरूण के बेटे" के जमींदार मछुओं के जीविका के एकमात्र साधर गढ़पोखर को मछुओं से छीन लेना चाहते हैं। इस प्रकार उपन्यासकार ने प्रपंची, राष्ट्–विरोधी, अत्याचारी, अन्यायी तथा शोषक पात्रों का सफल चित्रण किया है।

(3) नेता–वर्ग :– भारत को स्वतंत्रता मिलने पर प्रत्येक भारतवासी यह स्वप्न देख रहा था कि अब उसके वर्षे से संजोये स्वप्न सत्य होंगे। किंतु अवसरवादी नेताओं ने उन सगिी आशाओं पर तुषारापात कर दिया। नागार्जुन ने इस नेतावर्ग का सफल चित्रण तो किया है किंतु कहीं–कहीं कांग्रेस पार्टी की बड़ी कटु आलोचना की है जो इस बात का प्रमाण है कि लेखक को साम्यवाद से विशेष अनुराग है और कांग्रेस के नाम से परहेज़ है। उपन्यासों में कांग्रेसी नेताओं की अवसरवादिता तथा राजनीतिक पैतरेबाजी के घिनौने चित्र देखने को मिलते हैं। उग्र मोहनदास (बाबा बटेसरनाथ), फूल बाबू (बाबा बटेसरनाथ), कांग्रेसी बाबू (वरूण के बेटे), नरपत नारायण सिंह, रामसागर राय, घासीराम (हीरक जयन्ती), जानकी बाबू (कुंभीपाक) ऐसे पात्र हैं जिनके चरित्र–चित्रण इनते सजीवता से चित्रित किए गए हैं कि पाठके के मन में इन नेताओं के प्रति घृणा उत्पप्न होने लगती है। चरित्र–चित्रण में इतनी सजीवता के लिए लेखक की राजनीति में गहरी रूचि ही उत्तरदायी है। कांग्रेसी नेताओं के अतिरिक्त जिन साम्यवादी नेताओं के चित्र अंकित किए गए हैं वे प्रभावशाली हैं और पाठक इनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इन नेताओं में मोहन मांझी (वरूण के बेटे) तथा स्वामी अभयानंद (इमरतिया) प्रमुख हैं। इस नेता वर्ग को जो साम्यवादी विचारधारा का है जनता से विशेष सहानुभूति है जबकि कांग्रेसी नेताओं की सहानुभूति कृत्रिम है।

(4) प्रगतिशील–वर्ग :– नागार्जुन साम्यवादी विचारधारा के समर्थक थे अतः समाज की प्रत्येक बुराई को समूल नष्ट करने के लिए वे साम्यवाद को ही एकमात्र उपाय मानते थे। अपनी विचारधारा को उन्होने अपने औपन्यासिक पात्रों में आए युवा व प्रगतिशील वर्ग के माध्यम से व्यक्त किया। यह युवावर्ग एक नवीन आशावादी दृष्टिकोण लिए हुए है। इस वर्ग में जागरूकता, कर्तव्यपरायणता तथ स्वदेश प्रेम का एक व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है तथा कुछ करके

दिखाने का तीव्र उत्साह और लगन भी इनमें विद्यमान है। ऐसे पात्रों में मधुरी, मोहन मांझी (वरूण के बेटे), माया, कपिल, रामसागर, वेणीमाधव, दुखमोचन (दुखमोचन), दिगम्बर, माहे, बुलो (नई पौध), सदानंद, नीरू, (कुंभीपाक), कामेश्वर, उग्रतारा, (उग्रतारा) तथा बलचनमा (बलचनमा) प्रमुख हैं। उपन्यासकार ने जितने भी नवयुवक तथा प्रगतिशील पात्र चित्रित किए हैं उनमें संघर्ष करने की क्षमता है, अपनी विचारधारा पर दृढ़ रहने की क्षमता है, नारी उद्धार तथा समाज सुधार आदि के प्रति नवीन चेतना है। ये चरित्र सम्पूर्ण उपन्यासों में पाठक पर एक विशेष प्रभाव छोड़ने में सक्षम हैं।

(5) पाखंडी–वर्ग :– भारत धर्मपरायण देश है किंतु इस धर्म परायणता की आड़ में स्वार्थी तथा धूर्त लोग भोली–भाली जनता को लूटते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। नागार्जुन के कुछ चरित्र इस श्रेणी के भी हैं जिन्हें पाखंडी या साधु पात्रों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ये पात्र साधु मात्र देखने के लिए हैं, इनके अन्तर में कपट, बेईमानी, धूर्तता, तथा प्रपंचता कूट–कूटकर भरी हुई है। "इमरतिया" में उपन्यासकार ने इन बगुला भक्तों का भण्डा फोड़ किया है। इन पाखंडी साधुवर्ग के चरित्रों में भगौती, मस्तराम, जमनिया मठ का बाबा, इमरतिया (इमरतिया), अनंत बाबू, दामो ठाकुर, (बलचनमा) प्रमुख हैं। ये चरित्र इतने घिनौने कार्य करते हैं कि पाठक को उनसे घृणा होने लगती है।

इस प्रकार उपर्युक्त आधार पर ही नागार्जुन के समस्त औपन्यासिक चरित्रों का वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ विशिष्ट औपन्यासिक चरित्रों का यहां विवेचन किया जा रहा है। निम्नवर्गीय पात्रों में से गौरी, रतिनाथ (रतिनाथ की चाची), बलचनमा (बलचनमा), नेता वर्ग में मालमंत्री नरपत नारायण सिंह (हीरक जयन्ती), प्रगतिवादी पात्रों में दुखमोचन, (दुखमोचन), बरगद बाबा (बाबा बटेसरनाथ), दिगम्बर मलिक (नई पौध), उग्रतारा, (उग्रतारा), मधुरी (वरूण के बेटे), चम्पा (कुंभीपाक) तथा पाखंडी साधु वर्ग में माई इमरतीदास (इमरतिया) के चरित्र का विवेचन यहां किया जा रहा है।

(1) निम्नवर्गीय चरित्र :–

गौरी – "रतिनाथ की चाची" उपन्यासकार की प्रथम औपन्यासिक कृति

है जिसमें गौरी के माध्यम से लेखक ने एक उच्चकुलीन, निर्धन ब्राह्मणी विधवा के असहाय, अप्राकृतिक, प्रताड़ित तथा अपमानित जीवन को साकार रूप में अंकित किया है। गौरी का चरित्र इतनी स्वाभाविकता तथा सजीवता से चित्रित किया गया है कि पाठक द्रवीभूत हो उठता है। हिन्दू समाज में विधवा के जीवन का कैसा तिरस्कार किया जाता है, यह सफलता से प्रस्तुत किया है। जिस समय का घटनाचक्र प्रस्तुत किया गया है उस समय बिहार के इस अंचल में कुलीनता के प्रति भारी मोह था। कुलीनता के मोह के कारण गौरी के पिता चुम्मन झा ने एक दरिद्र किंतु कुलीन ब्राह्मण से गौरी का विवाह कर दिया। गौरी के पति दमे के मरीज तो थे ही कुछ वर्षों बाद ही गौरी के पास एक पुत्री तथा एक पुत्र छोड़कर स्वर्गवासी हो गए। गौरी के भाई ने गौरी से प्रस्ताव किया कि सह सदैव के लिए ही अपनी ससुराल को छोड़कर पितृगृह में ही क्यों न रहे? किंतु गौरी की प्रकृति स्वाभिमानी थी उसने अपनी मां से कहा – "बाबू (पिता) ने कुश–तिल–जल लेकर मुझे दान कर दिया, फिर मेरा इस घर में रहना अनुचित नहीं होगा, मां! विवाहिता के लिए पितृकुल का अमृत भी पतिकुल के मांड या पीने के साधारण जल की तुलना में तुच्छ है"।[14] गौरी के इस कथन से उसके साहस और दृढ़ता का परिचय मिलता है। समाज के भेड़िये एक सुन्दर विधवा को चैन से जीवनयापन भला कैसे करने देते। एक रात्री गौरी के विधुर देवर जयनाथ संभोग कर बैठते हैं परिणामस्वरूप गौरी के गर्भ रह जाता है। ग्रामीण स्त्रियां तरह–तरह से गौरी को अपमानित करती हैं और पूछती हैं किंतु गौरी इतनी क्षमाशील है कि वह जयनाथ के अपराध को स्वंय अपने ऊपर ही ओढ़ लेती है। औरतों के पूछने पर वह कहती है "मैं और कुछ नहीं जानती। अमावस की रात थी। एक धनी और अंधेरी छाया मेरे बिस्तर की तरफ बढ़ आई। उसके बाद क्या हुआ, इस बात का होश अपने को नहीं रहा ––––––––"[15] जीवन भर के लिए गौरी के जीवन को कलंकित करने वाले जयनाथ के प्रति गौरी के ये भाव उसे शील और शालीनता की प्रतिमा ही बना देते हैं। उसका जीवन तिल–करके जलता है किंतु उसके मुख से कभी आह नहीं निकलती।

गौरी का स्वभाव शान्त और गम्भीर है। उसके गर्भ ठहर जाने की बात का जब गांव की स्त्रियों को पता चलता है तब वे सभी गौरी पर व्यंग्य बाण छोड़ती हैं, तरह–तरह से अपमानित करती हैं किंतु गौरी बिल्कुल शान्त बनी रहती है। उसकी दिनचर्या भी इस प्रकार की है कि वह अधिक से अधिक समय

ईश्वर भजन और चर्खा कातने में ही व्यतीत करती हैं किसी से लड़ाई नहीं, झगड़ा नहीं, अपने काम से काम। उसे अपने देवर के पुत्र रतिनाथ से अपार ममता है और रतिनाथ के हृदय में भी चाची के प्रति अगाध श्रद्धा है। रतिनाथ को किसी भी प्रकार की असुविधा न हो इसका वह पूरा–पूरा ध्यान रखती है और सगी मां से भी अधिक उसको प्यार करती है। चाची सचमुच ही त्याग और ममता की मूर्ति है।

बदनामी से बचने के लिए गौरी अपनी मां के यहां जाकर गर्भपात करा आती है और उसके बाद तो उसकी सम्पूर्ण दिनचर्या ही बदल जाती है। वह इतना अच्छा सूत कातना जानती है कि भारतीय सूत प्रतियोगिता में सर्वप्रथम आती है। अतिथियों की सेवा, भक्ति और भजन, व्रत और उपवास, कम से कम खाना–पीना और सोना तथा सब के प्रति ममता ही गौरी के जीवन का अंग बन जाते हैं। उसकी दिनचर्या को देखकर ही तो रतिनाथ कहता है "ऐसा लगता है कि दिन ब दिन तुम देवता होती चली जा रही हो।"[16] और वास्तव में रतिनाथ की चाची देवता से कम नहीं लगती। उसका अपना बेटा उसे तरह–तरह से प्रताड़ना देता है, मारता पीटता है किंतु वह बेटे से फिर भी स्नेह ही करती है। अपनी पुत्रवधू के सारे बन्धन भी वह स्वीकार कर लेती है अपनी समस्त इच्छाओं को मारकर वह पुत्रवधू के सम्मुख नत मस्तक हो जाती है।

गौरी की राजनीति में भी पर्याप्त रूचि है। उपन्यासकार ने चाची द्वारा रूस के प्रति जीत की कामना दिखाकर अपने विचार ही प्रस्तुत कराये हैं जो आरोपित प्रतीत होते हैं हिटलतर के रूस पर आक्रमण की खब़र सुनकर वह कहती है "मैं पढ़ी लिखी नहीं हूं मगर इतना समझती हूं कि पचीस साल से रूस वालों ने अपने यहां जो नया संसार बसाया है उसके अन्दर जाकर राक्षसों की बड़ी से बड़ी फौज़ भी मात खा जाएगी।"[17] गौरी नवीन समाज जागरण के प्रति गहरी आस्था रखती है। वह समाचार पत्रों को नियमित रूप से ताराचरण आदि से पढ़वाकर समय के साथ–साथ परिवर्तित होती है। वह रूढ़िवादी समाज में पली अवश्य है किंतु उसके विचार प्रगतिशील हैं। उसे राष्ट्हित की भी चिन्ता है। समाज की भलाई में होने वाले कार्यक्रमों में उसका योगदान रहता है। उसकी उदारता का पता इस बात से चलता है कि गांव में जब किसी यात्री या मांगने वाले को भोजन नहीं मिलता तो गौरी का घर ही एक मात्र शरणस्थल बन जाता है। रूढ़िवादिता, अन्धविश्वासों तथा कुचक्रों से घिरी इस महिला के भाग्य

की विडम्बना नहीं तो क्या है कि उसका पुत्र तथा पुत्रवधू दोनों ही उसे तरह–तरह से कष्ट देते हैं। जीवन से तंग आकर वह मृत्यु की कामना करने लगती है। गांव में मलेरिया फैलने पर वह अपनी शक्ति से अधिक लोगों की सेवा करती है इससे उस की दयाशीलता का परिचय मिल जाता है। गौरी को भी ज्वर अपने फन्दे में ले लेता है। मृत्यु का यह अवसर वह हाथ से जाने नहीं देना चाहती और अपने देह का त्याग कर देती है। पाठक उसकी गाथा पढ़ते–पढ़ते यहां आकर द्रवीभूत सा हो जाता है। गौरी का दाह संस्कार उसके प्रिय भतीजे रतिनाथ के हाथें ही सम्पन्न होता है। गौरी ने अपनें जीवन भर विष का ही पान किया किंतु दूसरों के लिए उसने अमृत ही दिया। उसी के शब्दों में "किसी भी युग में स्त्री को अमृत पीने का सुयोग नहीं मिला। पुरूष को अमृत पिलाकर स्वंय वह विषपान ही करती आई है।" [18]

रतिनाथ – "रतिनाथ की चाची" उपन्यास में दूसरा प्रमुख चरित्र रतिनाथ का है। उपन्यास के नामकरण से ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि उपन्यास में दो ही चरित्र मुख्य हैं एक गौरी और दूसरा रतिनाथ। रतिनाथ अपने पिता जयनाथ की एकमात्र सन्तान है। चार वर्ष की आयु में ही रतिनाथ की मां उसे असहाय छोड़कर स्वर्ग सिधार गई। तब से रतिनाथ को गौरी के स्नेहांचल में ही आश्रय मिलता रहा है। "वह चार साल का था, तभी मां मरी थी। मां के बाद चाची ने ही उसकी देखभाल की है। अकारण क्रोधी स्वभाव के इस पिता से चाची ही उसे बचाती आई है। ––––– पिता के प्रति उसकी भक्ति श्रद्धा बिल्कुल बनावटी थी। ह्रदय से वह चाची को ही बाप और मां सब समझता था।"[19] रतिनाथ के पिता बड़े ही क्रोधी स्वभाव के थे। जरा–जरा सी बात पर उसकी पिटाई हो जाती थी। वह पढ़ने में कुशाग्र बुद्धि का है किंतु पिता जब उसकी पुस्तकों का प्रबन्ध नहीं कर पाते और उसे डांट देते हैं तब वह साथियों की पुस्तकें चोरी कर लेता है। पिता के कठोर अनुशासन का परिणाम यह होता है कि रतिनाथ का विद्रोही रूप उभरकर सामने आ जाता है और वह कुमार्ग पर चलने लगता है। मोतीहारी आकर वह ऐसी संगति में फंस जाता है जो उसे कुमार्ग पर चलने को विवश कर देती है। "एकान्त और सहशैया का परिणाम यह हुआ कि रतिनाथ अपने को बहुत दिनों तक रोक नहीं सका, उस लड़के के साथ उसका अप्राकृतिक संबंध स्थापित हो गया।"[20]

रतिनाथ का चरित्र नागार्जुन का अपना ही चरित्र है। पिता की अकिंचनता, बाल्यकाल में ही मां का स्वर्गवास हो जाना, पराश्रित विद्यार्थी जीवन, बनारस तथा कलकत्ता में परीक्षाएं उत्तीर्ण करना औरधन के अभाव के कारण हीनभावना का पनपना इत्यादि सभी घटनाएं नागार्जुन के बचपन की सत्य घटनाएं हैं। उपन्यासकार के बचपन की स्मृतियां बड़े होने पर इतनी घनीभूत हो गईं कि उन्होने उसे कागज़ पर पीड़ा उतारने को विवश सा कर दिया। लेखक ने उपन्यास में चरित्र चित्रण के लिए विश्लेषात्मक तथा अभिनयात्मक दोनों ही विधियों का प्रयोग किया है।

रतिनाथ अपनें जीवन में बड़ा ही भावुक है। वह बागों से प्यार तो करता है किंतु कहीं भी स्पष्ट रूप से उसे व्यक्त नहीं कर पाता। बागो का विवाह होने पर भी सात दिन बाद वह अपने मुंह से कुछ नहीं कह पाता। "इससे पहले दोनों जब मिलते थे, तो बड़ी देर तक गप–शप चलती रहती। मगर उस दिन न रतिनाथ के मुंह से कुछ निकला और बागो के मुंह से।" [21] गौरी के बीमार होने पर रतिनाथ को अत्यधिक पीड़ा होती है। परीक्षा निकट होने के कारण वह चाहते हुए भी चाची की सेवा–सुश्रुष नहीं कर पाता है। रतिनाथ को तो चाची का ही आश्रय था। पिता के जीवित रहने से उसे न हानि थी न लाभ। चाची बीमारी की अवस्था में थी तो वह उसे कहती है "बबुआ, कहीं कुछ भी हो जाय तो इस मुंह में आग तुम्हीं देना, हां!" [22] इतना सुनकर उसका हृदय भर आता है और वह रोने लगता है। चाची के जीवन के अन्तिम क्षणों में वह उसके पास ही बना रहता है और उसका दाह संस्कार भी वह स्वंय करता है। चाची की मृत्यु के बाद वह असहाय सा हो जाता है और काशी पढ़ने का निश्चय करता है। चाची की अस्थियां गंगा में प्रवाहित करते समय उसके मन में बार–बार यही बात उठती रही कि चाची ने उसको उसका जीवन कलंकित करने वाले का नाम बता क्यों नहीं दिया।

रतिनाथ का चरित्र यथार्थता लिए हुए है। किशोर–अवस्था में जितने भी उतार–चढ़ाव होते हैं वे रतिनाथ के जीवन में घटित हुए हैं। पाठक को उसके कुमार्ग पर चलने आदि जैसे प्रसंगों के होते हुए भी उससे सहानुभूति होती है। लेखक चरित्र–चित्रण की इस कसौटी पर खरा उतरा है।

बलचनमा – उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने एक ऐसे पात्र को गोदान में

प्रस्तुत किया था जो एक सच्चे भारतीय किसान का चरित्र था। "बलचनमा" के उपन्यासकार ने भी एक अन्य पात्र का सृजन किया है जो आधा–किसान है और आधा–मजदूर। यह पात्र है बालचन्द राउत जिसे लोग बलचनमा के नाम से पुकारते है। ऐसा लगता है कि "गोदान" के "होरी" ने "बलचनमा" के रूप में पुनर्जन्म ले लिया है और इस बार वह सामाजिक विकृतियों का शिकार नहीं होता बल्कि मुक्ति के लिए संघर्ष करता है। वह टूट तो सकता है किंतु झुक नहीं सकता। बलचनमा के चरित्र की विशेषता, उसका गौरव तथा मानवता वास्तव में हिन्दी उपन्यास की नई दिशा भी है। नागार्जन का कथन है कि "बलचनमा" में उन्होने 1937 तक की बिहार की राजनीति को देखा है यह उसका पहलाा भाग है। द्वितीय भाग में वे वर्तमान को देखेंगे और उपन्यासकार का स्वप्न उस दिन पूर्ण हो पायेगा जिस दिन बलचनमा अपनी स्वंय की भूमि को ट्रैक्टर पर चढ़कर जोतेगा, पर यह स्वप्न पूरा न हो पाया।

"बलचनमा" आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। अतः सारी की सारी घटनाएं बालचन्द राउत उर्फ बलचनमा के द्वारा वर्णित की गई हैं। बलचनमा एक निम्नवर्गीय परिवार का रहने वाला है उसके पिता के पास नाममात्र के लिए थोड़ी सी भूमि थी जिसके साथ मजदूरी करके परिवार का निर्वाह किसी प्रकार हो जाता था। बलचनमा के इस कथन से उसकी पारिववारिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है – "चौदह बरस की उम्र में मेरा बाप मर गया। परिवार में मां दादी और छोटी बहिन थी। नौ हाथ लम्बा, सात हाथ चौड़ा घर था – दो छप्परों वाला। सामने छोटा–सा आंगन थ। बाई ओर आठ–दस घर (विस्वांसी) बाड़ी थी। उसमें साल के बारहों महीने कुछ न कुछ उपजा लिया जाता।"[23] जमींदारों के अत्याचारें के कारण पिता की क्रूर हत्या का चित्र उसके मन पर अंकित था और उसी से उसे ज़मींदारों के प्रति घृणा और क्षोभ था। पिता की मृत्यु के पश्चात मां द्वारा दया की भीख मांगने पर छोटे मालिक के घर पर भैंस चराने का कार्य मिल जाता है। बलचनमा बचपन से ही सरल प्रकृति का मेहनती एवं दृढ़ चरित्र बालक है। वह भैंस के पालन में अपनी ओर से कोई कसर नहीं रखता। उसे श्रम करन अच्छा लगता हें किंतु व्यर्थ की गाली–गलौज से उसे घृणा है। उसका जीवन अभावों की धरती पर ही पनपता है। जमींदार के घर परिश्रम करने पर भी खाने को क्या मिलता है? सिर्फ जूठन उचित कपड़ों के अभाव में वह जाड़ों की रात बकरी की मींगणियां जलाकर तापने में या गुड़ बनाने की

भटटी के पास बैठकर ही व्यतीत करता है। उसकी मां और दादी अन्न के अभाव में आम की गुठलियों का चूरा फांक कर ही किसी प्रकार जीवन को ढकेल रही है। "अच्छा तो भगवान करते ही हैं, चार परानी का परिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया, यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और मां आम की गुठलियों का गुदा चूर–चूर का फांकती थी, यह भी भगवान ठीक ही करते थे।"[24] बलचनमा का यह कथन कितना सही है "हमारा बचपन मालूम नहीं कै घड़े आंसुओं से सींचा गया है।"

जीवन भर पग–पग पर मिली यातनाओं और हुन्कारों के बीच बलचनमा हिम्मत नहीं हारता है। "इस तरह गालियां, पिटाई, तिरस्कार, अपमान, दुत्कार और फटकार यही वह रास्ता था जिस पर से मेरा जीवन आगे की ओर खिसक रहा था।"[25] बलचनमा के जीवन में एक नया मोड़ आया जब मालिकाइन के भतीजे फूल बाबू उसे अपने साथ पटना ले गए। उसके जीवन में यह सर्वथा नवीन अनुभव था। गांव के वातावरण से भिन्न वातावरण पाकर उसे प्रसन्नता तो हुई पर साथ ही साथ वह उस समय बड़ा भावुक हो जाता है जब उसे अपने घर की स्मृति हो उठती है। "जिस दिन मैं घर छोड़ने वाल था, उस दिन मां की आंखें जाने कितनी बार भर आई। वह मेरे सामने खुलकर न रो सकी, मगर पीछे जरूर रोई होगी। मां का दिल ठहरा न! और भैया मैं ही कौन सयाना था। सात–आठ कोस के उस रास्ते में पांच–दः दफे कलेजा फटा।"[26] बलचनमा अत्यंत भावुक युवक है। उसमें स्वामी भक्ति भी कूट–कूटकर भरी हुई है। दूसरे के दुःख में वह स्वंय को भी दुखी अनुभव करता है अपने मालिक की गिरफ्तारी पर उसका फूट–फूटकर रोना और मालिक की याद में कलेजा फटना और आंखें डबडबाना ऐसे अनेक प्रसंग है जहां उसकी भावुकता और कोमलता की झलक मिलती है। फूदन मिसिर की घरवाली के पास बीमार बैल की दशा देखकर वह द्रवित हो उठता है। उसके शब्दों में "आखिर एक रोज ऐसा मालूम हुआ कि अब उस बैल से आंखें चार हुई तो माथा फट जायेगा ------ खंचिया भर घास लेकर शाम को बैल के पास पहुंचा, घास सामने डालकर उससे मैने कहा – नहीं बेटा मै। तुम्हें इस तरह मरने नहीं दूंगा।"[27] डा० सत्यपाल चुघ का कहना है – "ऐसा ही व्यक्ति तो वर्ग–विषमता को देखकर तड़प सकता है और क्रान्ति तक का आहवान कर सकता है।"[28] वास्तव में यह कथन सत्य ही है।

विपत्तियां मानव जीवन में जहां उसे संघर्ष करते रहने के लिए कठोर बनाती है वही उसे मानवता के लिए संवेदनशील भी बनाती है। बलचनमा का जीवन भी इसी प्रकार का है। उसके जीवन में समस्त विपत्तियों का मूल कारण है उसकी निर्धनता और इस निर्धनता से छुटकारा पाने के लिए वह सतत् परिश्रम करता है। वह कहता है – "मां को जब कठोती में मडुआ का आटा गूंथते देखता तो अपनी गरीबी हल्की नोंक बनकर कलेजे को फाड़ने लगती।" [29] बलचनमा के जीवन विकास मे उसके अनुभवों का हाथ है अध्ययन के नाम पर तो वह शून्य ही है। बलचनमा में एक विशेष गुण है वह है सजीव कर्मण्यता का। अपनी बहिन पर जमींदार द्वारा बलात्कार का प्रयास किए जाने के बाद तो उसके जीवन में एक नवीन ही मोड़ आ गया। फूल बाबू को वह बड़े आदर और श्रद्धा से देखता था किंतु उसका "सारा मो ह क्षण भर में फट गया। साफ–साफ दीखने लगा कि बाबू–भैया लोग वहीं तक हमारा पक्ष लेंगे जहां तक उनका अपना मतलब रहेगा।"[30] इस प्रकार के बाद बलचनमा को तो सभी कांग्रेसी ढोंगी और अविश्वासी लगने लगे। उसने निश्चय किया कि वह स्वंय ही मुसीबतों का सामना करेगा और गांव में रहकर ही अपनी गृहस्थी चलाएगा। गांव में आकर उसने मजदूर भी की तथा बटाई पर बहुत से खेत ले लिए और उसे के परिश्रम से वैभव से उसकी खेती लहलहाने लगी। उसी के शब्दों में "ईमानदार और मजबूत काठी का था, इसी से महीना पीछ पांच–सात मजूरियां भी मुझे मिल ही जातीं। मेरी शोहरत थी कि बलचनमा खूब मन लगाकर काम करता है। एक मजूर में वह सवा मजूर की महनत करता है। –––––– काम करते बखत में किसी भी किसिम की धिचिर–फिचिर या ढिलाई का कायल नहीं था। जिस मुस्तैदी से अपना काम उसी मुस्तैदी से दूसरे का भी।" [31]

जिस समय सरकार द्वारा जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ तो जमींदारों ने जमीन को वास्तव में जोतने–बोने वाले किसानों से छीनने का षड्यंत्र रचा। सोशलिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जमींदारों की बेदखली से बचने के लिए किसान आन्दोलन चलता है। बलचनमा इस आन्दोलन में पूरे जोश से भाग लेता है। वह किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए बिना किसी भय के जी जान से जुट जाता है। बलचनमा में विद्रोह की अनावृत चिंगारी है जो शोषण करने वालों को भस्मीभूत करने को आकुल है। वह सच्चे अर्थों में एक ऐसे भारतीय किसान का प्रतिनिधि चरित्र है जो भाग्यवादी नहीं है और न हीं ईश्वर की इच्छा को अन्तिम

सत्य मानता है। उसके जीवन का मूल मन्त्र है कर्म और वह उसी की साधना में रत रहना ही अपना परम उद्देश्य मानता है। किसान आन्दोलन में अनेक लोगों ने बलिदान तो किए ही किंतु बलचनमा के मन पर कुल डेढ़ बीघा जमीन की जोत वाले किसान लतीफ के त्याग ने जितना उसे प्रभावित किया उतना किसी के नहीं। किसान–सभा के लिए लतीफ जब अपने खेत में खड़ी फसल कटवाकर उसमें सभा कराता है तो बलचनमा कहता है – "बड़े–बड़े नेताओं के त्याग–तपस्या की कहांनियां तुमने सुनी होंगी, लेकिन महपुरा के उस गरीब किसान के इस त्याग को भला कौन सा दर्जा दोगे। हरी फसल काटते वक्त मेरी तो भैया आंखें छलछला आयी। मैं सपने में भी इस किसिम की बात नहीं सोच सकता था।" [32]

कृषक–आन्दोलन में बलचनमा ने हर प्रकार से सहयोग किया। जमींदार की पत्नी ने बलचनमा की मां तथा उसकी पत्नी को काफी डांटा तथा घर फुंकवाने की धमकी दी। अपनी मां से यह जानकर वह कह उठता है – "घर फुंकवा देगी – मैं कड़ककर बोला – उनके बाप का घर है -------- किसी का घर फूंक देना क्या इतना आसान है। मेरा ही क्या जमींदार का बस चले तो वह सबके घर फूंक दे।" [33] इस प्रकार वह हर प्रकार से चुनौती को स्वीकार करने वाले साहसी नवयुवक के रूप में हमारे सामने आता है। उसे न तो किसान–आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने पर गर्व हो रहा था। वह न इसके विरूद्ध था कि जमींदार निर्धनों तथा मजदूरों का शोषण करें। फसल की रखवाली के लिए किसानों ने मिलकर चौकसी करने का प्रबन्ध किया ताकि जमींदार लोग हानि न पहुंचा सके। रात्री में चौकसी करते बलचनमा के ये विचार उसकी वास्तविक मनःस्थिति के परिचायक हैं – "जिस नये रास्ते पर मैने कदम बढाया था बराबर उसी पर चलते जाने का इतना साफ इशारा पाकर और उसे अच्छी तरह समझ लेने के बाद मेरी रीढ़ एकदम सीधी हो गई। मैने अपने आप में एक अनूठी ताजगी महसूस की, उठकर झटके से खड़ा हो गया।" [34] सोशलिस्टों के इस नारे से वह अत्यधिक प्रभावित है "जो काम करेगा वह खायेगा।" यह उसका दुर्भाग्य था कि उस पर छल से वार किया गया अन्यथा चार–दः आदमियों वे वह अकेला ही काफी था।

श्री कृष्णानंद "पीयूष" का बलचनमा के चरित्र के बारे में यह कहना उपयुक्त है – "बलचनमा के जीवन में अगडाई और विद्रोह के ज्वलंत चेतना का

संस्पर्श भी उपस्थित किया गया है, जो नागार्जुन के जीवंत साम्यवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने वाला है। जूठी पत्तलों पर पलने वाला बलचनमा अन्त में विद्रोही बन जाता है, जन जागरण का सम्पूर्ण श्रेय उसको महिमा मण्डित कर देता है। नागार्जुन और प्रेमचन्द की भावभूमि का पार्थक्य यहां ही स्पष्ट हो सका है। प्रेमचन्द के पात्र क्रान्ति के आकांक्षित स्वप्न को पालते हुए भी टूटे हुए हैं, वे अपनी इच्छित फल की प्राप्ति के लिए सर्वहारा है पर नागार्जुन की बलचनमा निरीह होकर भी जीना सीख लेता है और अन्त में अपनी परम्परागत चेष्टाओं के बीच ही दीपशिखा–सा भभककर जल उठता है।" [35]

बलचनमा के चरित्र में केवल एक बात अवश्य खटकती है वह है उसका सोशलिस्ट बन बैठना। डा0 सत्यपाल चुघ ने इस संबंध में सही कहा है – "बलचनमा के चरित्र के अन्तिम भाग में विकास की त्वरा अधिक है – वह जैसे पहले से ही सोश्लिष्ट हुआ बैठा था। बलचनमा के चरित्र–विकास के अन्य कारण क्योंकि स्वाभाविकता से व्यक्त हुए हैं,अतएव यह कमी कुछ खटककर रह जाती है।" [36] यहां आकर ऐसा लगने लगता है कि लेखक बलचनमा के बारे में पहले से ही सब कुछ निश्चित करके चला है। पर यह भी संभव है कि बलचनमा की विचारधारा में परिवर्तन का कारण अभाव ही हों क्योंकि समाजवादी चेतना का अंकुर अभाव की भूमि पर शीघ्रता से पनपता है। उसने जीवन में जितने भी दवाब सहे है उन सब का परिणाम यह विस्फोट ही है।

बलचनमा का चरित्र चित्रण करने में उपन्यासकार पूरी तरह सफल है। नागार्जुन के अन्य औपन्यासिक चरित्रों की तुलना में बलचनमा का चरित्र सबसे सशक्त है। उसके जीवन की गाथा वास्तव में भारत के औसतन अनाथ किसान–बच्चों की गाथा है साथ ही वह भारत के उन करोड़ों मजदूरों की सच्ची तस्वीर है जो जीवन के संघर्ष से जूझते हुए नये आलोक की ओर गतिशील है।

(2) प्रगतिशील चरित्र :–

बाबा बटेसरनाथ – "बाबा बटेसरनाथ" नागार्जुन का एक ऐसा उपन्यास है जो वैचारिक क्रान्ति का उदबोधक बन गया है। वृक्ष के मुख से सारा का सार इतिहास प्रस्तुत करा देना और वह भ ठोस रूप से , उपन्यासकार का उपन्यास के क्षेत्र में रूप–शिल्प की दृष्टि से अभिनव प्रयोग है। चरित्र–चित्रण की दृष्टि

से भी उपन्यास में बरगद बाबा का चारित्र चित्रण सर्वथा अद्वितीय कहा जा सकता है। उपन्यासकार की सृजनात्मक कल्पना ने वट–वृक्ष को एक ऐसा जीवंत व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है कि पाठक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता है।

बाबा बटेसरनाथ उपन्यासकार की विचारधारा का उद्‌बोधक है। उसक चरित्र पर उपन्यासकार का प्रभाव अत्यधिक है। कथाकार ने चरित्र को एक स्थल पर भी स्वतन्त्र नहीं छोडा है। वह उसकी विचारधारा को प्रेषित करने का माध्यम है। चाहे जो हो बरगद बाबा का चरित्र जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह प्रभावशाली है। बाब उच्च आदर्शो को मानने वाला है और मानता ही नहीं बल्कि उन विचारों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने में आस्था रखता है। "परंतु, 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय' –––––– किसी सज्जन के मुख से मैने यह पद कभी सुना था। जीने के लिए जीना, जीना नहीं है, परोपकार के लिए जीना ही जीना है। अगर मेरी मृत्यु जनसाधारण के लिए लाभप्रद हो तो नहीं चाहिए मुझको ये जीवन।" [37] इस प्रकार के अनेक स्थल उपन्यास में हैं जो बरगद बाबा के ऐसे विचारों की पुष्टि करते हैं।

बरगद बाबा ने पिछले सौ वर्ष का इतिहास जिस प्रकार व्यौरे बार सुनाया है उसे सुनकर' लगने लगता है कि बरगद बाबा केवल पेड़ मात्र नहीं है वे तो रेडार हैं जो विशेष क्षेत्र में होने वाली हर गतिविधि को देखते रहते हैं। उपन्यासकार ने बरगद का मानवीकृत रूप इस प्रकार दर्शाया है कि उससे वृक्ष वृक्ष न होकर एक संवेदनशील, सहृदय, परोपकारी एवं देशप्रेमी महान आत्मा सा प्रतीत होने लगता है। बरगद बाबा ने जमींदारों द्वारा किए गए अत्याचारों का वर्णन इस प्रकार किया है कि पाठक उसकी कल्पना करके अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है। ऐसी ही एक घटना है शत्रुमर्ननराय के सिर पर चीटों से भरी हांडी उलटवा देना। ऐसे कृत्यों के कारण ही वह जमींदारों से घृणा करता है और मजदूर वर्ग का समर्थन करता है। देश के नवयुवकों पर ही देश का भविष्य निर्भर है और यह तभी संभव होगा जब सभी नवयुवक एक साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करें। बाबा जैकिसुन से एकता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है – "झींगुर एक तुच्छ कीड़ा होता है। सैंकड़ों–हजारों की तादाद में जब ये एक स्वर होकर आवाज़ करने लगते हैं तो एक अजीब समां बंध जाता हे। झींगरों की यह अखण्ड झंकार कई–कई पहर तक चलती रहती है। सामूहिक स्वर की इस

एकाग्र महिमा के आगे मेरा मस्तक सदैव नत होता रहा है और होता रहेगा।"[38]

बाबा नवीन भारत के निमार्ण का स्वप्न दिन रात देखता है। सामाजिक कुरीतियों से जिन में बलि देना आदि है वह घृणा करता है पर कहीं—कहीं ऐसी परम्पराओं के जो समाज के विकास में सहायक हैं वह प्रशंसा भी करता है। यह बात नहीं है कि उसकी दृष्टि केवल गांव या पड़ोस तक ही सीमित हो बल्कि देश में चल रहे राजनैतिक वातावरण का भी उसे पूर्ण ज्ञान है। आन्दोलन के बारे में वह कहता है – "असहयोगियों और सत्याग्रहियों की शान्तिमय निहत्थी भीड़ पर लाठी चार्ज की खबरें सुनता तो पत्तें खड़े हो जाते, टुसों से गरम—गरम भाप निकलने लगती और इन टहनियों में कुछ तनाव सा महसूस करता।"[39] देश के प्रति लगाव उसे है पर वह लाचार है वहां खड़े खड़े करे भी तो क्या?

बाबा में मानवता कूट—कूटकर भरी है। समाज का कष्ट उसका कष्ट है, समस्त देश का कष्ट है। अकाल की भीषण लपटों में किस प्रकार बिहार राज्य जल रहा था उसकी चर्चा बाबा जैकिसुन से करता है और स्वंय की लाचारी प्रकट करता है – "हाय मैं भूखे पेटों की जलन जी भर मिटा पाता! काश कोई आकर मुझ पर तेल छिड़क जाता! मुसीबत में अगर किसी के काम न आया वह जीवन बेकार है बेटा! भूख ने लोगों की अन्तड़ियों का रस ससोख लिया और मैं बेहया हरा—भरा देखता रहा।"[40]

बाबा बटेसरनाथ एक ऐसे समाज की स्थापना देखना चाहता है जहां वर्गहीन समाज हो छोटे—बड़े, ऊंच—नीच सभी प्रकार के भेद समाप्त हो जाए तथा कर्म को ही व्यक्ति की योग्यता माना जाये। कांग्रेसी नेताओं से उसे केवल इसी बात से परहेज सा है क्योंकि वे जमींदार वर्ग का साथ देकर गरीबों के शोषण में उनके सहयोगी बन रहे हैं। उसके विचार से "ऊंची जाति वालों का आपसी पक्षपात और "शुभ—लाभ" के लिए उनकी आपाधापी जब तक मौजूद रहेंगे तब तक मानव—समाज की सामूहिक प्रगति नहीं होगी।" देश की प्रत्येक ऐसी घटना से जिस से समाज का सीधा संबंध हो उसका हृदय धड़कने लगता है। उपन्यास के बीसवें परिच्छेद में जब स्थिति अनुकूल हो जाती है बाबा जैकिसुन से कहता है "तुम लोगों ने तो बस्ती की हवा ही बदल दी। अब तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते पाठक और जैनारायण। पाठक और जैनारायण ही क्यों, कोई हिम्मत नहीं करेगा तुम लोगों से टकराने की ———————— मैं आशीर्वाद देता हूं, रूपउली वालों की यह एकता हमेशा बनी रहे ! सुखमय जीवन के लिए

तुम्हारी यह सामूहिक प्रचेष्टा कभी मन्द न हो, स्वार्थ की व्यक्तिगत भावना कभी तुम्हारी चेतना को धुंधली न बनाये।" [41]

बाबा बटेसरनाथ का चरित्र ऐसा है जो पाठकों के ह्रदय तारों को झंकृत कर देता है जैसे उसका यह कथन "मेरे पेड़ की सूखी लकड़ियों से ईंट पका लेना। उन ईंटों से ग्राम कमेटी का मकान तैयार होगा ——————" [42] उसके आत्म उत्सर्ग का मार्मिक उदाहरण है। नागार्जुन का यह पात्र पाठकों पर अपेक्षित प्रभाव छोड़ने में अधिक सफल नहीं है। यह बात रह–रह कर खटकती है कि उसे साम्यवादी विचारों का उद्घोषक बना दिया है, थोड़ी देर के लिए भी स्वतंत्र नहीं छोड़ा है।

दुखमोचन – "दुखमोचन" उपन्यास का नामकरण ही इस बात का सूचक है कि उपन्यास में दुखमोचन ही केन्द्र बिन्दु है नागार्जुन के अन्य पात्रों की तुलना दुखमोचन सर्वथा अलग सा ही प्रतीत होता है क्योंकि वह एक ऐसा आदर्शवादी पात्र है जिसका वर्तमान परिस्थितियों में मिल सकना यदि असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन है। बाबा बटेसरनाथ, बलचनमा तथा गौरी के चरित्रों मे लेखक का दृष्टिकोण कहीं न कहीं परिलक्षित अवश्य हो जाता था किंतु आश्चर्य की बात है कि समाजवादी विचारधारा वाले इस कथाकार ने किस प्रकार इस प्रकार के पात्र का निर्माण किया है। दुखमोचन में इतने सारे सद्‌गुण लेखक ने दिखाए हैं कि उनका बोझ संभाले नहीं संभलता है।

उपन्यास का प्रारंभ होते ही दुखमोचन के सद्‌गुणों का परचिय मिलने लगता है। बरसात के दिन चल रहे है कि रामसागर की मां का स्वर्गवास हो जाता है। दाह संस्कार करने के लिए सूखा ईधन कहां से आए पर दुखमोचन के पास प्रत्येक समस्या का समाधान है वह अपने घर के तख्तपोशों के लिए रखे तख्तों को रामसागर की मां का दाह संस्कार के लिए दे देता है। "रामसागर ने सूखी लकड़ी का इन्तजाम देखा तो आंखें भर–भर आईं। भर्राये गले से बोला – दुखन भैया, अपना भाई तो काम नहीं आया मगर तुम सगे भाई से भी बढ़कर निकले।" [43] दुखमोचन का सारा का सारा जीवन समाज सेवा का अनुकरणीय उदाहरण हैं गांव में गेंहू का वितरण करते समय उसकी बुद्धिमता तथा स्वार्थहीनता और गांव में श्रमदान के द्वारा सड़क का निमार्ण कार्य आदि अनेक कार्य उसकी समाज सेवा के प्रतीक हैं। उसे समाज सेवा का इतना अधिक ध्यान है कि उसे

अपने शरीर की भी सुध–बुध नहीं रहती। श्रमदान करते समय उसके हाथों में कुदाल चलाने से छाले भी पड़ जाते हैं किंतु वह बिल्कुल इस बात की परवाह नहीं करता है।

उसका जीवन वास्तव में समाज के लिए समर्पित है। गांव में आग लग जाने पर उसकी समाज सेवा का प्रशंसनीय रूप देखने को मिलता है। वह बिना बड़े–छोटे का भेद किए समान रूप से सेवा करता हैं अपने विरोधियों से भी वह सहृदयता का व्यवहार करता है। दुखमोचन किसी प्रकार के सैद्धान्तिक मतवादिता के भार से आक्रान्त नहीं है। वह अपने जीवन अनुभव से निर्मित प्रगतिशील चेतना द्वारा संचालित होता है। उसके विचार और व्यवहार में किसी प्रकार का अन्तर नही है। वह प्रत्येक कार्य को जो भी उसे सौंपा जाता है पूरे परिश्रम तथा ईमानदारी से पूरा करता है। जो दवांए सरकार से गांव वालों के लिए मिलती हैं वह उसे अपने भाई सुखदेव को भी प्रयोग नहीं करने देता है क्योंकि ऐसा करनाउसके सिद्धान्तों के विरूद्ध है। इसी प्रकार गांव में जब आग लगने पर सरकार की ओर से क्षतिपूर्ति के लिए सहायता मिलती है तो वह उस सूची से अपने भाई का नाम निकाल देता है। इससे उसकी स्वार्थहीनता का परिचय मिलता है।

दुखमोचन राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए पूरी तरह समर्पित हैं उसमें निर्भयता है, और प्रत्येक परिस्थिति में सही व्यवहार करना जानता है अन्यथा टमका कोइली जैसे गांव में जहां गुटबन्दी चरम सीमा पर हो श्रमदान आदि जैसे निर्माण कार्य करना आसान कार्य नहीं है। अनेक अवसरों पर उसकी सहृदयता का भी परिचय मिलता है। डा0 प्रभास चन्द मेहता का यह कथन बिल्कुल सत्य है – "समाज–हित, निरन्तर निष्ठा, सचाई, ईमानदारी एवं आस्थापूर्वक कार्यरत रहना ही दुखमोचन की दिनचर्या है।" [44] डा0 लक्ष्मीकान्त सिन्हा के अनुसार "पति दुखमोचन, पिता दुखमोचन, भांजा दुखमोचन, भाई दुखमोचन, चाचा दुखमोचन, नेता दुखमोचन, आदि सभी का चित्रण करके दुखमोचन के शील को उदात्त बना दिया गया है। दुखमोचन ऐसा साहसी नेता है जो अनजान, नगण्यपात्र को भी झण्डा फहराने जैसे त्यौहार का नेतृत्व देने में सक्षम दीखता है।" [45]

दुखमोचन समाज मे प्रगतिशील विचारों का पोषक है। कपिल और माया का विवाह कराने में उसका चरित्र जातपात आदि के बन्धनों को तोड़कर स्वस्थ

और व्यावहारिक पक्ष का समर्थक सिद्ध होता है, इसी प्रकार टेकचन्द के बैल के जल जाने के बाद वह उसे प्राश्चित आदि जैसी रूढ़ियों और बन्धनों से मुक्ति दिलाता है। संक्षेप में यह कहना ठीक ही होगा कि उपन्यासकार का यह पात्र यथार्थवादी नहीं होकर आदर्शवादी है और उसने ऐसे चरित्र का निर्माण संभवतः सरकार की ओर से हो रहे निर्माण सम्बन्धी कार्यो के प्रचार एवं प्रसार के लिए ही किया है। आदर्शवादी इस पात्र के चरित्र–चित्रण में नागार्जुन पूर्णरूप से सफल रहे हैं।

मधुरी – नागार्जुन के समस्त नारीपात्रों में मधुरी का चरित्र सबसे सशक्त है। मधुरी एक निम्नवर्गीय पात्र है और निम्नवर्गीय होते हुए भी उसमें नई चेतना है नया दृष्टिकोण है जीवन के प्रति। इस मछुओं की बस्ती में वह सुन्दर लड़कियों में गिनी जाती है। "नाक नुकीली। आंखें बड़ी–बड़ी। सूरत सांवली। होठ पतले। दांत छोटे–छोटे, हमवार और मोतियों से भड़कीले। कद मझोला। मधुरी अठारह साल की हो चुकी थी, भला ही गोढ़ियारी के युवक अपने गांव की चार–पांच सुन्दरियों में उसकी गणना करने लगे थे।"[46] उपन्यासकार ने बड़े ही सुन्दर ढंग से मधुरी का चित्र प्रस्तुत कर दिया है। मधुरी का पिता खुखुन एक मछुआ है जो मछलियां बेचकर अपनी जीविका चलाता है। मधुरी इन मछुओं की बस्ती में सभी को प्रिय है। अपने भाई बहिनों को वह स्नेह करती है और मां–बाप का पूरा सम्मान। अपने ससुराल से वह इसलिए भागकर पिता के घर आ जाती है कि उसे ताड़ी पीकर मारने वाले ससुर और कायर पति के साथ उसका निर्वाह करना संभव नहीं हो सका।

उसका एक प्रेमी भी है जिसका नाम है मंगल। मंगल मधुरी के प्रेम में इतना डूब गया है कि अपनी पत्नी की उपेक्षा करने लगता है। किंतु वह उससे कहती है – "देखो मंगल, मैं तुमसे तीन चार साल छोटी हूं। हमने एक–दूसरे पर अपने प्राण निछावर कर रखे थे लेकिन अब तुम घर की लक्ष्मी का मुखड़ा ध्यान में रमा लो और मुझे भूल जाओ --------"[47] वह अपने सुख या स्वार्थ के लिए मंगल का घर उजाड़ना नही चाहती है। वह उससे कहती है कि उसका अपनी घरवाली के प्रति वफादार होना उसका कर्तव्य है। उसका यह कथन कितना प्रभावशाली है – "मैं तुम्हारा घर बर्बाद नहीं करना चाहती, मंगल, मैं नहीं चाहती कि एक औरत के सिंदूरी मांग पर कालिख पोतती रहूं।"[48]

"वरूण के बेटे" नामक आंचलिक उपन्यास में नागार्जुन मधुरी के चरित्र को एक उत्साही, समाज सेवी एवं परिश्रमी बाला के रूप में प्रस्तुत करने में पूरी तरह सफल है। मधुरी ऐसा नारी पात्र है जो पाठक पर अपेक्षित प्रभाव छोड़ने मे समर्थ है। वह नारी जागरण का नया सन्देश लेकर हमारे सम्मुख आती है। जमींदारों के पक्ष में जब जिले के अधिकारी पुलिस के साथ आते हैं तो डिप्टी मजिस्ट्रेट के यह कहने पर कि राजनीति से बहू बेटियों को दूर रहना चाहिए, वह कहती है – "तो इस में क्या हर्ज है हजूर। जिनगी और जहान औरतों के लिए नही हैं क्या?" [49] उसका यह कथन नारी में उभरती एक नयी चेतना और आत्मविश्वास का परिचय देता है।

मधुरी ऐसी स्त्री है जो समाज सेवा को अपना धर्म मानती हैं बाढ़ आने पर वह बेघरबार लोगों की सेवा में लग जाती है। छोटे–छोटे बच्चों के समस्त कार्य वह स्वंय ही करती है। नारी की परम्परागत भूमिका से कुछ भिन्न ही प्रकार की भूमिका में उसे उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है। यह भूमिका है एक ऐसी साहसी नवयुवती की जो अपने पति या उसके पिता की दया पर जीतिव नहीं रहती है, जो पुरूष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करती है। खुरखुन के लिए तो मधुरी मानो लड़की नहीं, लड़का है। उपन्यास में कुछ ऐसी घटनाएं भी हैं जो कृत्रिम लगती हैं। मधुरी के साथ–साथ अन्य पात्र भी यथार्थ जीवन से चुने गए हैं। उनका परिवेश बिल्कुल उपयुक्त है, किंतु संघर्ष के लिए जितनी दृढ़ता राजनीति में सक्रियता एवं जागरूकता लेखक ने दिखाई है, उतनी यथार्थ से कुछ हटी हुई सी प्रतीत होती हैं मधुरी का वर्ग–संघर्ष में भाग लेना तथा उपन्यास के अंतिम अध्याय में यह कहना "बब्बू और अम्मा से कहना कि रत्ती भर भी न घबड़ाए। हम बहुत जल्दी छूटकर वापस आ रहे हैं ।" [50] ––––– तथा पुलिस की गाडी में चढ़कर जोश के साथ नारे लगााना आदि ऐसी घटनाएं उसके चरित्र को अवास्तविक बनाती हैं। नागार्जुन के समस्त नारी पात्रों में एक प्रगतिशील पात्र है, जो नवीन चेतना, स्फूर्ति एवं नारी जागरण का सन्देश लेकर आती है।

दिगम्बर मलिक – दिगम्बर मलिक "नई पौध" का प्रमुख पात्र है। समाज में फैली बुराईयों को दूर करने की भावना उसमें पूरी तरह विद्यमान है। "अनमेल–विवाह" समाज का कोढ़ है, यह बात दिगम्बर के मस्तिष्क में पूरी तरह समा जाती है। दिगम्बर का प्रेरणा स्रोत बूलो की भाभी है। गांव के कुछ नवयुवकों

को जो बीमार परम्पराओं और अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाते हैं, गांव वालों ने "बमपाटी" की संज्ञा दे डाली। दिगम्बर इसी "बमपाटी" का नेता है। यह "बमपाटी" गांव में कुछ करके दिखाने को उत्सुक है और यह सब कार्य दिगम्बर मलिक के कुशल नेतृत्व में ही होता है।

दिगम्बर एक ऐसा नवयुवक है जो अधिक पढ़ा लिखा तो नहीं है, किंतु प्रगतिशील है। "वह काफी चतुर तो था ही, धनी घर का लड़का होने से लोग उसे आदर और गौरव की दृष्टि से देखते थे। नौजवानों पर भी उसकी अच्छी धाक थी। धन या शिक्षा ने दिगम्बर के अन्दर घमंड उस मात्रा में नहीं भरा था जिस मात्राा में नम्रता। छोटी–बड़ी आयु के लड़के ध्यान से मलिक की बातें सुनते थे।" [51] दिगम्बर गणित में कमजोर हाने के कारण कक्षा 9 तक ही पढ़ सका। नौजवानों का वह स्वनिर्वाचित नेता होने के कारण किसी भी साथी की समस्या को सुलझाना वह अपना कर्तव्य समझता है।

दिगम्बर के पिता नीलकंठ मलिक बिहार बैंक पटना में असिस्टैंट एकाउंटैंट हैं। दिगम्बर "खुद कहानियां लिखता था, अब तक चर–छः से जादा नहीं लिखी होंगी। यों अधूरी तो दसियों पड़ी थी, फुटकल कागजों और स्कूली कापियों के बाकी बचे पन्नों में बिखरी हुई थी।" [52] दिगम्बर का चरित्र आरम्भ से ही इस प्रकार अंकित किया गया है, पाठक के मन पर उसका अपेक्षित प्रभाव पड़ता है। पहली घटना जो नौगछिया गांव मे उसके नेतृत्व में घटी वह थी गांव के मुखिया के विरूद्ध चीनी और किरासिन की धांधली लेकर। दिगम्बर के नेतृत्व में "बमपाटी" वालों ने डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पास उसकी शिकायत की। शिकायत का अपेक्षित परिणाम निकला और तब से समूचे गांव में उसकी धाक जम गई। दूसरी घटना पण्डित जी और माहे के बीच में घटित हुई। माहे भी बमपाटी का सक्रिय सदस्य है। माहे का भूमि में पण्डित जी ने गढ़ा खुदवा दिया। बमपाटी के नेता दिगम्बर ने माहे के मामले की पुलिस में रिपोर्ट करा देता है। नौजवान पण्डित जी के विरूद्ध एक आन्दोलन सा प्रारम्भ कर देते हैं। परिणामस्वरूप पण्डित जी को गांव छोड़कर दस–पन्द्रह दिन के लिए बाहर जाना पड़ जाता है। इधर पण्डिताइन नौजवानों से विचार–विमर्श करके गढ़ा भरवा देती है। तब से बड़े–बूढ़े और सयाने लोग नवयुवकों को प्रतिद्वन्द्विता दृष्टि से देखने लगे। यह दिगम्बर मलिक की दूसरी विजय थी।

खोंखा पण्डित ने अपनी नतनी बिसेसरी का विवाह एक बूढ़े चतुरानन

चौधरी के साथ पैसा लेकर तय कर देता है। गांव में जब इस बात का पता चलता है, तब नवयुवकों को इस बात पर बड़ा क्रोध आता है। दिगम्बर बिसेसरी की इस मुसीबत को टालने क लिए योजना–बद्ध ढंग से कार्य करता है। बिसेसरी को वह पत्र लिखता है – "प्रिय बिसेसरी, घबड़ाना नहीं। हमने तुमको जो वचन दिया, उसे पूरी तरह निभाएंगे। तुम जरा भी मत घबड़ाओ। तुम्हारी मदद की अभी कोई जरूरत नहीं है, आगे भी जरूरत नहीं पड़ेगी ऐसी आशा है। सबसे बड़ी सहायता तुम हम लोगों की यही कर सकती हो कि अपने दिल को कड़ा किए रहना।"[53] बूढ़े दूल्हे से बमपाटी के नौजवान उलझ जाते हैं और उसे भला बुरा कहते हैं, पर बूढ़ा चोधरी आसानी से हार नहीं मानता है। अब दिगम्बर सीटी बजाकर अपने सभी साथियों को बुला लेता है और चौधरी को यह विवाह छोड़कर जाने को विवश कर देता है। उसकी दृढ़ता का परिचय इन शब्दों से मिलता है। " यह गांठ बांध लीजिए गांव का एक–एक नौजवान पिटते–पिटते बिछ जायेगा, मगर यह ब्याह नहीं होने देगा।"[54] वह किसी बालिका के भविष्य को मिटते देखकर भला कैसे चुप रहता। चतुरानन चौधरी अपनी मूंछ नीचे किए, मलाल दिल में लिए गांव छोड़कर चले जाते हैं।

दिगम्बर के सामने अब नई समस्या उठती है कि बिसेसरी का विवाह कैसे और किस के साथ हो? बमपाटी की इस विजय से गांव भर में नवयुवकों का सम्मान बढ़ गया। मुखिया जैसे लोग भी यह अनुभव करने लगे कि यह अनमेल विवाह न हुआ तो अच्छा ही हुआ। दिगम्बर बिसेसरी के लिए आखिर दूल्हा ढूंढ़ ही निकालता है वह है उसका बाल्यमित्र, वाचस्पति जो समाजवादी विचारधारा का है। दिगम्बर उसके घर जाकर उसकी मां से सारी बात तय करके विवाह का मामला जमा देता है। बिसेसरी के मामा दुर्गानन्दन यह सूचना पाकर फूले नहीं समाते हैं। उन्हें दिगम्बर "मामूली कायस्थ युवक दिगम्बर मलिक नहीं, संकट मोचन बजरंग बली हनुमान का अवतार प्रतीत हो रहा था।"[55] इस प्रकार वाचस्पति का विवाह बिसेसरी के साथ बिनाा आडम्बर के सीधे–सादे ढंग से सम्पन्न हो जाता है।

उपन्यासकार ने दिगम्बर के चरित्र को जिस रूप में अंकित किया है वह यथार्थ के समीप है। उपन्यास में प्राचीन और नवीन विचारों के संघर्ष में नवीन विचारों की विजय तथा वैयक्तिक तथा सामाजिक विकृतियों के प्रति प्रच्छन्न व्यंग्य भी देखने को मिलता है। दिगम्बर के चरित्र में लेखक का दृष्टिकोण कहीं

पर भी आरोपित नहीं जान पड़ता। सब कुछ सहज और स्वाभाविक लगता है।

चम्पा – नागार्जुन ने "कुंभीपाक" में नारी जाति पर हो रहे अत्याचारों एवं उसके समाधान के लिए एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। नारी को स्वंय ही अपनी दशा सुधारने के लिए संघर्ष करना होगा। पुरूष के भरोसे सब कुछ छोड़ने की प्रवृत्ति समाप्त करनी होगी। बुआ अर्थात चम्पा उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र है। चम्पा का बचपन लाड़–प्यार में व्यतीत हुआ है। थोड़ी सी पढ़ाई लिखाई भी उसने की है। विवाह के दो वर्ष बाद ही उसके प्रति का देहान्त हो जाता है। अब चम्पा इधर–उधर अपना समय काटती फिरती है। "तरूणाई के शुरू में जीजा ने छू दिया था। पहले दिल को, फिर देह को ।——— जीजा और उनकी बूढ़ी मां – मेरी सास और मां ने जीजा का अनुरोध मान लिया। और चम्पा जीजा के पास रहने लगती है। जीजा अपनी मां के डर से चम्पा से विवाह नहीं कर पाता है चम्पा लौटकर मां के पास चली जाती है। चम्पा दो माह बाद एक खटिक नौजवान के साथ ढ़ाका चली जाती है। यहां उसके दो बच्चे भी पैदा होते हैं। एक बार वह पति के साथ भारत आती है तो कटिहार जंक्शन से भाग कर हावड़ा चली जाती है और यहां उसकी भेंट सरदारों से होती है।

अब चम्पा सरदारनी बन जाती है और होटल चलाती है। चम्पा अपने यहां रखी तीन लड़कियों के प्रेम जाल में क्लर्क, व्यापारी और शिक्षक तीनों को फंसा लेती है। दो साल में ही उन तीनों का सत निचुड़ जाता है। बात ही बात में नेपाली मद्रासी को मार डालता है और फरार हो जाता है। इस केस में चम्पा को छः मास की सजा होती है। सरदार जी सारी रकम लेकर चम्पत हो जाते हैं। जेल से छूटने के बाद चम्पा को बी0 एन0 शर्मा का आश्रय मिलता है। वह अब शर्मा के पास रहने लगती है। वह सोचती है "मैं बहुत भटक चुकी हूं, अब विश्राम चाहती हूं। तन–मन लगाकर शर्मा जी की सेवा मैं करती रहूंगी ———" [57] चम्पा के भटकाव में कुछ ठहराव आ जाता है। उसकी के शब्दों में "जीजा ने जवाब दे दिया तो सफदर पर फिदा हुई, उसने चम्पा को कुलसुम बना दिया ——— कानों में छल्ले डलवा दिए चांदी के ——— कुलसुम के बाद? सतवंत कौर? हां, सतवंत कौर। सरदारों ने मुझे यही नाम दिया था। ——— सतवंत कौर ने दम तोड़ा तो चम्पा फिर जी गई ——— शर्मा जी ने पहली बार पूछा तो चट से मैने अपना नाम बतलाया, चम्पा। अब मैं जिन्दगी भर "चम्पा" ही

रहूंगी या फिर यह नाम बदलना पड़ेगा।" [58]

बी0 एन0 शर्मा के साथ वह लड़कियों के बेचने के धंधे में लग जाती है। एक बार एक बेसहारा लड़की भुवन शर्मा जी के आश्रय में आती है। चम्पा के लिए यह नई बात नहीं है क्योंकि कोई न कोई लड़की आती जाती रहती ही है। भुवन अपने बेचे जाने से पूर्व ही नीरू की मदद से शर्मा के चंगुल से निकल भागती है। अब चम्पा के सोचने के ढंग में कुछ परिवर्तन आता है और उसे इस नाटकीय जीवन से घृणा होने लगती है। वह सोचती है कि भुवन ने भागकर अच्छा ही किया। उसके मन में भुवन के प्रति ममता उत्पन्न हो जाती है। वह उसे पत्र लिखती है। जिसमें वह लिखती है – "घबड़ा कर शादी न कर लेना भुवन, न किसी आश्रम में भर्ती होना। मुझे लगता है कि तुम समाज की इस सड़ांध से , इस कुंभीपाक नरक से निकल कर नई दुनिया के समझदार लोगों के बीच पहुंच गई हो ------ जी करता है, तुम्हें बेटी करके पुकारूं और तुम अगले ही क्षण सामने आके खड़ी हो जाओ ! मुझे मां कहने में तुम शायद हिचक उठोगी भुवन ! नहीं मैं उतनी बुरी नहीं हूं, बेटा। देखना, मैं भी इस नरक से बाहर निकलूंगीं ----------- " [59] उसके पत्र से इस बात का प्रमाण मिलता है कि वह इस जीवन को छोड़कर कुछ नया करना चाहती है जहां उसका अपना स्वतंत्र जीवन हो।

इस प्रकार जीवन में अनेक कुकृत्यों को करने वाली चम्पा अपने विचारों को पूर्ण रूपेण बदल डालती है। चम्पा संजीवन आश्रम में जाया करती है और वहां पर होने वाले प्रत्येक कार्यकलाप से वह परिचित है। दानापुर के राय सहाब से मिलकर वह आश्रम में कैसे अनाचार तथा भ्रष्टाचार के बारे में बताती है। रायसहाब के कथन "श्रम, प्रज्ञा, सहयोग, विवेक और सुरूचि सभी आवश्यक हैं। चम्पा ! जीवन में इन पांचों का समन्वय करना होगा। पुरूषों की ही बपौती नही है, स्त्रियों का भी साझा है इनमें।" [60] से चम्पा को एक नई दिशा के लिए उचित निर्देशन मिल जाता है। वह टाईपिंग सीखकर राय सहाब की मदद से टाइपराइटर खरीद लेती है। चम्पा नया जीवन आरम्भ करती है। वह शिल्प कुटीर के नाम से अपनी दुकान खोल लेती है और परिश्रम से टाइप करके तथा अचार--पापड़, बड़ी आदि बेचकर अपना जीवन व्यतीत करने लगती है।

उपन्यासकार ने चम्पा का चरित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि चम्पा एक ऐसी नारी के रूप में आती है जो बुराईयों में लिप्त तो रही किंतु बुरी नहीं हो

पाई। वह निर्मला से प्रत्येक बार जब भुवन के बारे में और फिर उसके पात्र के बारे में पूछती है तो उसकी ममता का आभास मिलने लगता है।वह निर्मला के प्रति भी आभार प्रकट करती है जिसके कारण इस कुंभीपाक से भुवन का उद्धार होता है। इन सब बातों से इसके ह्रदय की कोमलता पर प्रकाश पड़ता है। उपन्यासकार ने चरित्र चित्रण में कुछ असंगतियां अवश्य कर दी हैं जैसे उपन्यास के प्रारम्भ में चम्पा को "बदन का ढांचा भर रह गया था" बतलाना और फिर उसके सौंदर्य की प्रशंसा करना चम्पा का सही चित्र पाठक के मन पर नहीं बनने देता। पर इस चरित्र के माध्यम से जो श्रमजीवी व्यतीत करने का उद्देश्य लेकर नागार्जुन चले हैं उसमें वे पूर्णरूपेण सफल हैं। उपन्यास के अंत में चम्पा का बदला हुआ स्वरूप, उसके विचार पाठक के मन में उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर ही देते हैं।

उग्रतारा – समाज में विधवा नारी की समस्या एक प्रमुख समस्या रही है किंतु "उग्रतारा" की समस्या केवल विधवा नारी की समस्या ही नहीं है अनेक अन्य प्रश्न भी उसके साथ जुड़े हुए हैं। उगनी इस उपन्यास की नायिका हैं उगनी का वास्तविक नाम उग्रतारा है किंतु इस नाम से उसको कभी किसी ने नहीं पुकारा। वह बालविधवा है। शादी के कुछ दिन बाद ही एक स्टीमर दुर्घटना में उगनी के पति की मृत्यु हो गई। उगनी के लिए चारों ओर अंधकरा ही अंधकार दिखाई देता है। उगनी की मां भी विधवा थी और उसकी दादी भी। "कैसे वैधव्य का इतना लम्बा अभिशाप उसके खानदान पर पड़ाथा, यह रहस्य और आश्चर्य की बात थी।"[61] सुन्दरपुर मढ़िया नामक इसी गांव में एक विधुर युवक कामेश्वर भी रहता है। कामेश्वर प्रगतिशील विचारों का है और उसकी प्रेरणाा नर्मदेश्वर की भाभी है। गांव के इस वातावरण में कामेश्वर की उगनी के प्रति सहानुभूति को बुजुर्गो ने मूंछों का सवाल बना लिया है। कामेश्वर इस चैलेंज को कबूल करता है और गांव से उगनी के साथ भाग जाता है किंतु लोगों के षडयंत्र से उगनी तथाा कामेश्वर दोनों पकड़े जाते हैं। दोनों को सजा हो जाती है। जेल से छूटकर उगनी को आश्रय मिलताा है सिपाही भिभीखन सिंह का जो जेल में वार्डर है।

उगनी अत्यंत भावुक युवती है। भिभीखन सिंह से विवाह तो उसका हो जाता है पर वह इस विवाह को अपनी ऊपर बलात्कार ही समझती रही है। ह्रदय

से उसने कभी भी अपनी पिता की उम्र के भिभीखन सिंह को पति रूप में स्वीकार नहीं किया है। कामेश्वर जब जेल के क्वार्टर्स पर आकर उगनी से मिलता है तो वह उसक दशा देखकर उसकी ममता की कचोट उभर आती है "हाय, मैं तुम्हारे लिए इतना भी नही कर सकती ! सीने पर कुरते का बटन इसी तरह झूलता रहेगा।"[62] इस कथन से उसकी विवशता की एक झलक देखने को मिलती है। इसी प्रकार, कामेश्वर उसके रहते होटल में खाना खाये उसे सहन नहीं होता है वह रोकर कहती है – "मैं यहां हूं और तुम होटल में खाते हो। एक गिलास पानी तक मैं नहीं दे सकती। पिछले जनम में जाने कितने पाप किए थे ———————— हे गंगा मइया ————————"[63]

उगनी मन से तन से पूरी प्रकार से कामेश्वर के लिए समर्पित है। भिभीखन सिंह की पत्नी बन कर भी वह कामेश्वर के ही स्वप्न देखती है। उसका अन्तर्द्वन्द उसे सोने नहीं देता है। "कामेश्वर के बारे में सोचते सोचते दस पांच रात क्या, उगनी सारा जीवन गुजार देगी तो भी पागल नहीं होगी। हां, भभीखन सिंह के बच्चों की मां बनने के बाद पागल होने से उसे कोई नहीं रोक सकेगा।"[64] उसके मन में चिन्ता रहती है की क्या कामेश्वर मुझ गर्भिणी को स्वीकार कर लेगा और कामेश्वर ने उसे स्वीकार किया। उगनी के मनोभावों को प्रगट करने के लिए उपन्यासकार ने आत्मविश्लेषण की जो विधि अपनायी है वह महत्वपूर्ण है और पाठक उगनी से पूरी तरह सहानुभूति अनुभव करने लगता है। उगनी परिश्रमी, गृहकार्यो में निपुण औरअल्प भाषण करने वाली है। विद्या के महत्व को भी वह पूरी तरह समझती है। गीता से वह कहती है "तीसरी आंख होती है विद्या समझी।" भिभीखन सिंह के लिए भी उसके मन में आदर है। उसका आश्रय मिल जाने के बाद ही तो वह कामेश्वर को पा सकी है। उसका आश्रय न मिलता तो पता नहीं उसके साथ क्या–क्या घटित होता।

उगनी में भावुकता के साथ दृढ़ता भी है। कामेश्वर के लिए उसके प्रेम ने उसे और दृढ़ बनाया है तभी तो वह भिभीखन सिंह का घर छोड़कर कामेश्वर के साथ चली जाती है। कामेश्वर के पास आकर भी वह भिभीखन सिंह के बच्चे के बारे में सोचती रहती है। वह उसे पत्र लिख्ती है जो उसकी सिपाही भिभीखन सिंह के प्रति कृतज्ञता को प्रकट करता है पत्र में उगनी लिखती है कि वह होने वाले बच्चे को उसके पास पाल–पोसकर पहुंचा देगी। "मैने अपना सब–कुछ जिसे सौंप दिया था, उसी के साथ गांव से निकली थी जिसके साथ गांव से

निकली थी, वही मुझे आपके क्वार्टर से निकाल लाया है। उस आदमी का दिल बहुत बड़ा है। पराये गर्भ को, ढोने वाली अपनी प्रेमिका को फिर से, बिना किसी हिचक के , उसने स्वीकार कर लिया है। उसने मुझसे शादी कर ली है।"[65] पत्र में वह यह भी आश्वासन देती है कि प्रसव के पश्चात वह पुनः पत्र लिखेगी। पत्र की अन्तिम पंक्तियां अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ी हैं। "आप की छाया में आठ महीने रही हूं। मन ही मन आप को पिता और चाचा मानती रही हूं और आगे भी वैसा ही मानती रहूंगी। मैं मजबूर थी, इसी से आप को धोखा दिया। सिपाही जी, आप मुझे सारा जीवन याद रहेंगे।"[66]

उपन्यासकार ने उगनी का चरित्र भी यथार्थ जीवन से चुना है। अपने आस–पास ग्रामीण जीवन में हम ऐसी कितनी ही अबलाओं को देखते हैं जो उगनी की दशा में रह रही हैं। लेखक ने कामेश्वर द्वारा उगनी से विवाह कराके एक नवीन मार्ग सुझाया है। समाज की ऐसी समस्याओं का समाधान तभी होगा जब स्त्री–पुरूष में समान रूप से समझदारी और सहयोग होगा। उगनी के मनोभावों को लेखक ने बड़ी मनोवैज्ञानिकता से अंकित किया है। पात्र और चरित्र–चित्रण की दृष्टि से "उग्रतारा" एक सफल उपन्यास बन पड़ा है।

(3) नेता वर्ग :–

नरपत नारायण सिंह – "हीरक जयन्ती" नागार्जुन का व्यंग्यात्मक लघु उपन्यास है। नये भारतीय समाज में एक नया वर्ग उभरकर आया है "नेता वर्ग"। प्रदेश के मालमंत्री श्री नरपत नारायण सिंह इसी वर्ग के प्रतिनिधि पात्र हैं। जिनके चरित्र को उपन्यासकार ने यथार्थ के धरातल पर खड़ाकर नुकीले व्यंग्य–बाणों तथा चुटीले हास्य से मर्म–स्पर्शी एवं रोचक बना दिया है। नरपत नारायण सिंह उर्फ बाबूजी समेत जितने भी पात्र उपन्यास में हैं वे सभी हमें अपने पास कहीं न कहीं चलते फिरते दिखाई देते हैं।

बाबू जी पूर्णरूपेण रंगीली तबीयत के नेता हैं। उनकी रंगीली तबीयत का परिचय मंजुमुखी के मनोभावों से चल जाता है.– "बाबूजी तुम्हारी इसी अदा पर तो मरते हैं !

(हां, कुर्बान हैं बाबूजी तुम पर !)

(इस तरह पेटीकोट और ब्रेसरी में अभी उस दिन बाबूजी ने देख लिया

तो कैसा मुस्कराए ! ———————

(और बाबूजी से कहा था, तुम नहीं होती तो मैं टूट जाता ——————" [67] बाबूजी की कृपा से ही मंजुमुखी एम0 एल0 ए0 बन सकी है। बाबूजी एक नम्बर के भ्रष्ट नेता हैं। उनके अधीनस्थ कर्मचारियों को भी रिश्वतखोरी की शह उन्हीं की है। उपन्यासकार ने पात्र के आत्म विश्लेषणा के द्वारा चरित्र–चित्रण किया है जो प्रभावशाली है। बाबूजी के पूरे जीवन पर प्रकाश उनके पुरानी एलबम देखते समय पड़ता है। उनके समस्त कुकृत्य एक–एक करके सामने आते रहते हैं। शीतलगढ़ की विधवा भुवनमोहिनी को जिस चालाकी से बाबूजी ने फंसाया, वह उनके चरित्र में चार चांद लगाता है। बाबूजी के भ्रष्टाचार का परिचय उपन्यासकार ने इस प्रकार दिया है "कमेटी के जनरल सैक्रेटरी होने के नाते नरपतबाबू ने लोक सेवा में एक नई परम्परा की शुरूआत की। कार्यकर्ताओं को इस बात का प्रशिक्षण मिलता कि अपढ़ देहातियों को पांच की रकम दो तो दस वाले रूक्के पर अंगूठे का निशान लो, तीस दो तो पचास का रूक्का बनाओ।"[68] इसी प्रकार एक प्रकाशक ने बाबूजी के नाम से "दो पैसे वाली पुस्तिकाओं की "लोकोपयोगी" सीरिज ही चला दी तो माननीय मंत्री जी का चित्त मैत्री और मुदिता वृत्तियों से विगलित हो उठा और किताबों का यह सौदागर कपड़ा और चीनी का क्षेत्रीय लाइसेन्सदार बनके निहाल हो गया।" [69] मंजुमुखी की लड़की माधवी बाबूजी की कृपा से विभाग अध्यक्ष के पद को प्राप्त कर लेती है।

बाबूजी की इक्कहतरवी वर्षगांठ पर हीरक जयन्ती का आयोजन करने वाले कवि मृगांक, रेवती रंजन प्रसाद सिंह, गोपी बल्लभ ठाकुर, महन्त सीता शरण दास, बाबू रामसागर राय, लच्छीमल, सेठ राम निरंजन अग्रवाल सभी लोगों के अपने–अपने स्वार्थ हैं। वे बाबूजी के नाम पर लाखों रूपया एकत्र करते हैं। बाबूजी को प्रसन्न कर उनसे और कार्य सिद्ध कराना उनका लक्ष्य है। "हीरक जयन्ती" के अवसर पर बाबूजी का भाषण उनका सही चित्र सामने रखता है कि उनकी कथनी और करनी में कितना अन्तर है। "शासन और सत्ता की जरा भी लालसा हमारे अन्दर नहीं है। हां, इस बात की लालसा जरूर है कि जनता–जनार्दन की सेवा के लिए अन्तिम क्षण तक हम अपने तन–मन का उपयोग कर सकें।" [70] बाबूजी का पुत्र हीरक जयन्ती मनाये जाने की रात को ही नेपाल–भारत सीमा पर अवैध गांजा लाने के अपराध में पकड़ा जाता है किंतु आबकारी के आई0 जी0 पर दवाब डालकर उसे छुड़ा लिया जाता है। बाबूजी के

चरित्र का एक और पृष्ठ खुलकर सामने आता है उपन्यास की समाप्ति के साथ–साथ। अपनी हीरक जयन्ती और भोग विलास में मस्त रहने वाले नरपत नारायण सिंह जी को न अपने पुत्र की चिन्ता है और न पुत्री की। उसकी विधवा पुत्री विवाह कराना चाहती है पर किसे अवकाश है उसके विवाह की और सोचें। अन्त में पुत्री मृदुल एक पत्र लिखती है जिसमें उसके कृत्यों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रान्त में प्रत्येक शुभ कार्य में बाबूजी का आशीर्वाद मिलता है। सांड सम्मेलन से लेकर साधु सम्मेलन तक का उदघाटन उन्होने किया है। पता नहीं कितनी युवतियों में बाबूजी की छत्रछाया में वैधव्य के अभिशाप से छुटकारा पाया है किंतु मृदुला लिखती है "मेरी तरफ क्या आपने ध्यान कभी दिया है? क्वार की अगली पूनम को मैं छब्बीस की हो जाउंगी।" [71] पिता ने 71वें वर्ष में हीरक जयन्ती मनाई तो पुत्री अपनी ताम्रजयन्ती मनाने के लिए अपने एक साथी के साथ रूपए और जेवर लेकर बम्बई भाग जाती है।

नागार्जुन ने चरित्र चित्रण के लिए विश्लेषात्मक तथा अभिनयात्मक दोनों ही प्रणालियां अपनायी हैं। आत्म–विश्लेषण की नई तकनीक अपनाकर लेखक ने पात्रों के अचेतन मन में सुप्त भावों को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ा है। पाठक पर इस का अच्छा प्रभाव पड़ता है। मंत्री के विलासी और अर्थलोलुप जीवन का खुला चिटठा उपन्यासकार ने यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार "हीरक जयन्ती" में नागार्जुन ने सभी पात्रों का बड़ा ही सजीव चित्रण कियाहै। कुल मिलाकर चरित्र–चित्रण में और पात्रों के चयन में लेखक की प्रतिभा का लोहा मानना पड़ता है।

(4) पाखंडी चरित्र :–

इमरतिया – "इमरतिया" में लेखक ने सामाजिक भ्रष्टाचार का नग्न चित्रण किया है। "इमरतिया" शिल्प की दृष्टि से तो नवीन प्रयोग है ही उपन्यास के चरित्र भी नवीन ढंग से चित्रित किए गए हैं। "इमरतिया" में प्रत्येक पात्र अपने बारे में स्वंय ही कहता है, इस प्रकार यह एक पात्र मुखोद्‌गीरित उपन्यास बन गया है। समस्त घटनाएं पात्रों एवं चरित्रों द्वारा ही अभिव्यक्त होती हैं। घटनाओं के माध्यम से नागार्जुन ने बड़ी ही कुशलता से पात्रों को प्रस्तुत किया है। उपन्यास में चार मुख्य पात्र हैं जो क्रमशः उपस्थित होकर अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं।

इमरतिया इस उपन्यास की नायिका है। इमरतिया के माध्यम से उपन्यासकार ने साधु सन्तों, ठगों और अपराधियों के दुश्चक्र में फंसी एक भावुक युवती की कहानी इस प्रकार से प्रस्तुत की है जो आध्यात्म, प्रेम एवं अपराध के उन पहलुओं पर प्रकाश डालती है जो सामान्यतः साधारण पाठक की दृष्टि में प्रायः नहीं आ पाते हैं। इमरतिया तीस–बत्तीस वर्ष की युवती है। स्वास्थ्य अच्छा होने के कारण उसकी उम्र पांच–सात वर्ष कम ही लगती है। वह पता नहीं "कैसे जमनिया के मठ में आकर फंस जाती है। मस्तराम उसके बारे में सोचता है – "काश ! कोई माई का लाल इमरतिया को जमनिया से भगा ले जाता और हमेशा के लिए बेचारी आजाद हो जाती।" [72] मस्तराम के इस सोचने के ढंग से इमरतिया की स्थिति का सही ज्ञान होता है। इमरतिया ऐसी युवती है जो अपराधियों के साथ रहती तो है किंतु अपराध–वृत्ति में पूरी तरह लिप्त नहीं हो पाई है अपनी अन्य साथिनों लक्ष्मी और गौरी की तरह। वह हवालात से जब जमानत पर छूटकर आई है तभी से वह सोचती है कि बाबा और मस्तराम के साथ उसे भी सजा हो जाती तो कितना अच्छा रहता – "साल–दो साल की कडी मशक्कत वाली सजा मैं भी काटती। कोई भारी अपराध करने का मौका हाथ लगता तो मैं बड़ी खुश होती ! सच, मैं बेहद खुश होउंगी। मिलेगा मौका मुझे पांच वर्ष जेल काटने का?" [73]

इमरतिया का व्यक्तित्व प्रभावशाली है। जमनिया के मठ का बाबा भी कहता है "इमरतिया पर कई लोगों की नजर गड़ी है। देखें, किस के नसीब में आती है ! " [74] इमरतिया की वासना तृप्त न होने के कारण उसमें अत्यधिक यौनाकर्षण का होना है। खाना बनाने वाले महाराज की खुली जांघ देखकर उसकी स्थिति बड़ी विचित्र सी हो जाती है और वह अपने विचारों पर काबू पाने का प्रयास करने लगती है। वह मस्तराम से प्रेम करती है। वह सोचती रहती है "मैं मस्तराम के साथ निकलूंगी। मुझे छोड़कर वह अकेले नहीं जा सकता। मैं उसकी राह देखूंगी। उसको मैं जमनिया के मठ में नहीं रहने दूंगी। हम दोनों इस नरक से साथ–साथ छुटकारा पायेंगे।" [75] मस्तराम से वह हवालात में मिलने जाती है और उसकी स्मृतियां संजोये वह वहां से आ जाती है। वह पिछले कई वर्षो से उसकी राह देखती रही है। वह मस्तराम के जीवन को निकट से जानती है और मस्तराम उसके जीवन को। दोनों ही अन्दर और बाहर का सुथरापन पसन्द करते हैं। "दोनों ने अपने–अपने गुरू से अलग–अलग दीक्षा ली थी।

दोनों साधु जीवन बिता रहे थे। फिर भी प्रकृति के तौर पर उनमें एक पुरूष था और दूसरी नारी थी ––––––"[76] वह सारा जीवन उसकी प्रतिक्षा में व्यतीत करने को तैयार है। इससे उसकी लगन और प्रेम का परिचय मिलता है।

माई इमरतीदास महाराज का मुखौटा पहने वह कभी अपनी आपको टूटा हुआ, निराश्रित और निरीह पाती है। भिखारिन को भीख मांगते देखकर तभी तो वह सोचने लगती है "उस औरत में और मुझ में क्या फर्क है मैं भी दूसरों का दिया हुआ खाती हूं। वह भी दूसरों का दिया हुआ खाती है। उसकी ही तरह मेरा भी कोई अपना नहीं है। ––––––– इसे रोज रोज भीख मांगनी पड़ती है लेकिन मैं कहीं किसी के दरवाजे पर मालिक या मालकिन पुकारने नहीं जाती हूं। मैं लम्बे अरसे से पालतू बना ली गई हूं। चाहूं तो हमेशा के लिए इसी तरह का जीवन गुजार सकती हूं। फिर भी लगता है उस भिखारिन में और मुझ में कोई खास अन्तर नहीं है।"[77] उपन्यासकार ने मनोभावों के चित्रण द्वारा इमरतिया के चरित्र को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। इमरतिया कभी–कभी अपनी तुलना गधी से करने लगती है। – "मैं भी बोझा ढोती हूं। भारी–भारी गटठर अपनी पीठ पर लादकर दूर–दूर का फासला तैं करती हूं। मैं बहुत भारी पहाड़ लादे घूम रही हूं, जाने कितनी चट्टानों को मैने कहां से कहां पहुंचा दिया है। मामूली गधी भला मेंरा क्या मुकाबला करेगी।"[78]

अवधूतों और अवधूतिनों के साथ रहकर वह भंग पीने, चरस और गांजे का सेवन करने से भी उसे परहेज नहीं है। कहीं–कहीं पर उसकी विनोदप्रियता भी देखने को मिलती है जैसे कि रसोइये के सब्जी में बिल्कुल नमक न डालने पर उससे कहती है – "सारा नमक तुमने इसी में डाल दिया।" पर कुल मिलाकर विनोद के क्षण गिने चुने ही आते हैं। लक्ष्मी के बच्चे की जब मठ में बलि दी जाती है तो उसे बड़ी घृणा सी होने लगती है वह कहती है – "यह बाबा भारी राक्षस हैं इसकी सलाह से ही लक्ष्मी के शिशु का वध हुआ ––––––– चंडी माता क्या सचमुच एक बच्चे के रक्त की प्यासी थी –––––– यह सब इस बाबा के दिमाग की खाम ख्याली थी। भोले भाले लोगों पर आतंक जमाने के लिए एक आदमी इतना धिनौना काम करेगा थू:।"[79] लक्ष्मी से वह सहानुभूति रखती है पर गौरी की कामन्धता से वह अप्रसन्न रहती है।

उपन्यासकार ने अनेक स्थलों पर उसके जीवन में भावुकता का कोमलता से चित्रण किया है। मस्तराम से मिलने के लिए जब वहजेल जाती है तो उसकी

आंखें भर आती है। वह हरिद्वार चली तो जाती है किंतु अपनी स्मृति में मस्तरामके चित्र को पूरी तरह संजोये रहती है। उपन्यास के अंतिम पृष्ठ पर उसकी नाटक में रूचि का भी आभास मिलता है साथ ही उसके बंगला भाषा के समझने का भी पता चलता है।

उपन्यासकार ने बड़ी मनोवैज्ञानिकता के साथ इमरतिया का चरित्र–चित्रण किया है। एक आलोचक का कहना है कि "इमरतिया के व्यक्तित्व में भी कुछ नहीं है जो पाठक की करूणा जगा सके"[80] किंतु जिस परिस्थिति में इमरतिया का जीवन चित्रित किया गया है, उसमें इससे अधिक कुशलता की आशा उपन्यासकार से नहीं की जा सकती। फिर भी ऐसे अनेक स्थल उपन्यास में हैं जो बड़ी मनोवैज्ञानिकता से अंकित किए हैं और सहृदय पाठक के मन पर अपेक्षित प्रभाव डालते हैं। चरित्र–चित्रण की दृष्टि से "इमरतिया" एक सफल उपन्यास है।

संदर्भ

1 – गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ0 162

2 – कुछ विचार, पृ0 38

3 – डा0 त्रिभुवन सिंह, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ0 122–23

4 – हिन्दी साहित्य कोश, पृ0 488

5 – प्रेमचन्द : कुछ विचार, पृ0 56

6 – डा0 भगीरथ मिश्र :काव्य शास्त्र, पृ0 79

7 – काव्य के रूप, पृ0 162–63

8 – "I have a;waus forbidden myself to put anything of myself into my work' wrot Flaubart.....I have written most tender pages without love and boilling pages with no fire in my veins. I have imagined, remembered combined."
- Robert Liddell : A treatise on the Novel : P. 104.

9 – E. M. Forster : Aspects of The Novel' P. 65.

10 – डा0 त्रिभुवन सिंहः हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ0 120

11 – Aspects of the Novel' P. 65-66.

12 – घनश्याम मधुप : हिंदी लघु उपन्यास, पृ0 58
13 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0
14 – रतिनाथ की चाची, पृ0 26, 15 – वही, पृ0 7 ,16 – वही, पृ0 98
17 – वही, पृ0 167, 18 – वही, पृ0 100, 19 – वही, पृ0 30
20 – वही, पृ0 127, 21 – वही, पृ0 113, 22 – वही, पृ0 166
23 – बलचनमा , पृ0 5, 24 – वही, पृ0 19, 5 – वही, पृ0 38
26 – वही, पृ0 41–42, 27 – वही, पृ0 191
28 – प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि,पृ0 566
29 – बलचनमा, पृ0 38–39, 30 – वही, पृ0 102, 31 – वही, पृ0 161
32 – वही, पृ0 179, 33 – वही, पृ0 201, 34 – वही, पृ0 204–205
35 – आलोचना : अंक 35 । जौलाई 1965, पृ0 199
36 – प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ0 569
37 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 16, 38 – वही, पृ0 19, 39 – वही, पृ0 93
40 – वही, पृ0 57, 41 – वही, पृ0 154, 42 – वही, पृ0 154–55
43 – दुखमोचन, पृ0 12
44 – प्रगतिवादी और हिंदी उपन्यास, पृ0 386
45 – हिंदी उपन्यास साहित्य का उदभव और विकास, पृ0 309
46 – वरूण के बेटे, पृ0 29, 47 – वही, पृ0 54, 48 – वही, पृ0 56
49 – वही, पृ0 124, 50 – वही, पृ0 127,
51 – नई पौध, पृ0 12, 52 – वही, पृ0 65, 53 – वही, पृ0 38
54 – वही, पृ0 60–61, 55 – वही, पृ0 122
56 – कुंभीपाक, पृ0 98, 57 – वही, पृ0 104–105, 58 – वही, पृ0 106
59 – वही, पृ0 112, 60 – वही, पृ0 130
61 – उग्रतारा, पृ0 37, 62 – वही, पृ0 10–11, 63 – वही, पृ0 11
64 – वही, पृ0 43, 65 – वही, पृ0 123, 66 – वही, पृ0 123
67 – हीरक जयन्ती, पृ0 64–65 , 68 – वही, पृ0 116–117
69 – वही, पृ0 118, 70 – वही, पृ0 129, 71 – वही, पृ0 144
72 – इमरतिया, पृ0 54, 73 – वही, पृ0 5, 74 – वही, पृ0 64
75 – वही, पृ0 24, 76 – वही, पृ0 124–25, 77 – वही, पृ0 6
78 – वही, पृ0 18, 79 – वही, पृ0 25
80 – हिन्दी साहित्यावकोश, पृ0 205

4.

नागार्जुन के उपन्यासों में यथार्थ और व्यंग्य

यथार्थ का स्वरूप -

संसार में मनुष्य जो कुछ देखता है, सुनता है या अनुभव करता है या जिसकी कल्पना करता है, वह सब है इसलिए सत्य है। इस दृष्टि से सत्य के दो भेद हुए, पहला व्यक्त सत्य अथवा नित्य तथा द्वितीय अव्यक्त या अनित्य सत्य। यदि यथार्थ सत्य ही है तो ये दोनों रूप यथार्थ के हैं। यहां यथार्थ से अभिप्राय केवल व्यक्त पदार्थों अथवा बाह्यय पदार्थों से ही है। व्यक्त सत्य के अतिरिक्त किसी अन्यपूर्ण एवं अनंत सत्ता की कल्पना नहीं है। इस स्थान पर आकर यथार्थ आदर्श से अलग हो जाता है। "यथार्थ" और "यथार्थवाद" संबंध की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक हैं। यथार्थ जीवन को यथार्थवादी कला के माध्यम से मोड़ने का प्रयत्न करता है। मोड़ने का यह प्रयत्न करना कल्पना द्वारा सम्पादित होता है। जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है, पर इसका कलात्मक अभिव्यक्ति करण यथार्थवाद है। नग्न यथार्थवादी कुरूपता एवं अश्लीलता को महत्व देते हैं पर विचारणीय यह है कि उनका चित्रण भी यथा तथ्य चित्रण अथवा "फोटोग्राफिक" चित्रण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से "यथार्थ", "यथार्थवाद" का अनगढ़ स्वरूप है, इसका "रा मेटीरियल" [1] है।
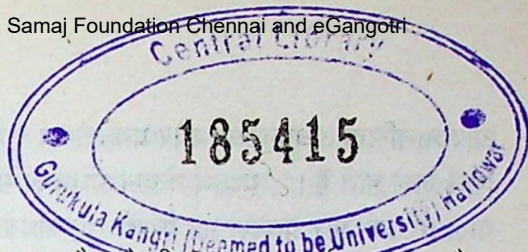
साहित्य का यथार्थ -

साहित्य में यथार्थ का चित्रण सदैव से ही एक महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। आज भी साहित्य में यथार्थ का चित्रण एक ज्वलन्त विषय है। हिन्दी साहित्य में "यथार्थवाद" पश्चिमी साहित्य की देन है। साहित्य की समस्त विधाओं में उपन्यास एक मात्र ऐसी विधा है जो मानव जीवन के विविध चित्रों को अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक पूर्णता और प्रभावशाली ढंग से चित्रित कर सकता है। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने तो उपन्यास को मानव जीवन का चित्र कहा है। यथार्थ की सामाजिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप ही उपन्यासों का जन्म हुआ है। यथार्थवाद की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास साहित्य की सर्वोत्तम विधा है। पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न इस दृष्टि से हमारे सम्मुख आता है कि साहित्य में यथार्थ का चित्रण किस रूप में हो? साहित्यकार किस मानदंड को अपनाए? साहित्यकार शून्य में बैठकर रचना नहीं करता, जिस देशकाल और वातावरण में वह रहता है तत्कालीन परिस्थितियां उस पर प्रभाव डालती ही है। साहित्य का लक्ष्य है मानव का और अधिक विकास और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक साहित्यकार अपना-अपना योगदान देता है। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप साहित्य में यथार्थ का चित्रण करना साहित्यकार का दायित्व है किंतु समाज का चित्र मात्र प्रस्तुत करने से इसके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती अन्यथा फोटोग्राफर और साहित्यकार में अन्तर ही क्या रह जाएगा? प्रत्येक युग में यथार्थ एक सा नहीं रह सकता। वह परिस्थितियों के अनुसार बदलता है, अतः साहित्यकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह सामाजिक यथार्थ को साहित्य में स्वस्थ दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करे।

"साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं हैं। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊंचा है। वह हमार पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हम में सद्‌भावनाओं का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।"[2] साहित्य में यथार्थ का चित्रण मानव-जीवन के बुनियादी प्रश्नों, परिवर्तित परिस्थितियों एवं समस्याओं को सामने रखता है। "यथार्थ एक व्यापक और संश्लिष्ट वस्तु है जिसमें मानव-समाज के सामूहिक और व्यक्तिगत, बाहरी और भीतरी, परिस्थितिगत

और मानसिक अंधकारमय और प्रकाशमय सभी प्रकार के सत्य एक–दूसरे से मिले जुले होते हैं।"[3] यथार्थ केवल अंधकार मात्र नहीं बल्कि अंधकार में फूटने वाले प्रकाश और प्रकाश पर घिरते हुए अंधकार दोनों का बोध है। प्रेमचंद ने लिखा है – "यथार्थवाद का आशय यह नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अंधकार में मनुष्य को अंधकार के सिवा सूझ ही क्या सकता है? बेशक चुटकियां लेना, यहां तक की नश्तर लगाना भी कभी–कभी आवश्यक होता है, लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाए, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है, किसी को नीच समझकर हम उसे ऊंचा नहीं बना सकते, बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर नहीं हो जायेगा कि तुम कायर हो। हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य सब कुछ है,केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का संबंध सत्य और सुन्दर से है यह हमें न भूलना चाहिए।"[4]

जयशंकर प्रसाद यथार्थवाद को एक साहित्यिक दृष्टि मानते हैं – "यथार्थवाद की विशेषताओं मे प्रधान है लघुता की और साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।"[5] निष्कर्षतः कहा जा सता है कि यथार्थवाद जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टि है जो साहित्य के विकास को प्रभावित करती है। उपन्यास जीवन की व्याख्या है। उपन्यासकार कथा के माध्यम से मानव जीवन के स्वरूप एवं समस्याओं का उद्‌घाटन और विवेचन करता है। इस प्रक्रिया के मूल में उपन्यासकार की जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण सन्निहित होता है। जीवन का एक स्वरूप उपन्यासकार की आंखों के सामने प्रत्यक्ष रहता है और दूसरा उसकी कल्पना में। जीवन के यथा तथ्य चित्रण को बिना कल्पना का रंग चढ़ाये प्रस्तुत करना ही यथार्थवाद है। "जो है" वह यथार्थ है और "जो होना चाहिए" वह आदर्श है। उपन्यासकार को यथार्थ का चित्रण करते समय आदर्श का भी ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। "वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहां यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए यही अच्छे उपन्यास की विशेषता है।"[6]

प्रेमचंद के आगमन से हिंदी उपन्यास में एक नवीन युग का उदय हुआ। वास्तव में उपन्यास युग का आरम्भ ही प्रेमचंद के आगमन के साथ हुआ है। प्रेमचंद ने पहली बार उपन्यास को केवल मनोरंजन के लिए न मान कर उसको सोद्देश्य रचना बनाया। "सेवासदन" (1918) के प्रकाशन के साथ–साथ ही यथार्थवादी चित्रण का सूत्रपात हुआ है। "प्रेमचंद ने यथार्थवादी कलाकार की धर्मिता तो निबाही ही है, साथ ही साथ वे अपनी रुचि–अरुचि से भी निस्संग नहीं हो सके हैं। यथार्थ को ज्यों–का–त्यों स्वीकारना यथार्थवादी कलाकार के लिए पहली शर्त है, किंतु वह अपने निर्णयों से मूल्यों के सापेक्षिक विश्लेषणों और उनकी महत्ताओं के निर्धारणों से सदैव अपने को मुक्त नहीं कर पाता।"[7]

साहित्यिक यथार्थ और कल्पना -

कल्पना साहित्य की एक सृजनशक्ति है। भारतीय चिन्तन परम्परा में "प्रतिभा" की प्रतिष्ठा है और पाश्चात्य में "कल्पना" की। मानव नवीन अधिकारों को कल्पना के बल पर ही जन्म देता है। साहित्यकार के लिए तो कल्पना सृजन का अनिवार्य अंग है। साहित्य में प्रायः जब यथार्थवाद को कल्पना के विरोधी अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। "हैजलिट ने एक बार कह था कि मौलिकता की परीक्षा और विजय इसमें नहीं है कि वह हमें ऐसी वस्तु दिखाए जो कभी घटी नहीं है और जिसकी हम आसानी से कल्पना भी नहीं कर सकते, पर इसमें है कि वह हमें उसमें उस बीज को दिखाए जो हमारी आंखें और पैरों के तले हो, फिर भी अपनी प्रतिभा और मस्तिष्क की दृढ़ पकड़ के अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना भी हम नहीं करते।"[8]

इस प्रकार कल्पना दिवास्वप्न मात्र न होकर एक रचनात्मक पक्ष भी है जिसके अभाव में श्रेष्ठ साहित्य की रचना संभव नहीं है। यथार्थ चित्रण में भी लेखक कहीं न कहीं कल्पना का आश्रय अवश्य लेता है। हां यदि कल्पना के द्वारा साहित्य में सत्य से दूर तथा असंभव वस्तुओं का समावेश कर दिया जाए तो वह साहित्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। श्रेष्ठ साहित्यकार वही है जो जन–समुदाय की उन कठिनाइयों को जो उस समय तीव्रतम रूप में सामने रहती हैं, उनके प्रति सहानुभूति एवं उदारता दिखाते हुए साहित्य में उनको चित्रित करे। मानव की पीड़ा और कठिनाइयों के द्वारा उसके अनुराग और घृणा

का स्वरूप निश्चित होता है और इसी भावुकता के कारण साहित्यकार की कल्पनात्मक दृष्टि का निर्माण होता है तथा उसी से पता चलता है कि उसने इसे किस प्रकार और कैसे देखा है। "यथार्थवादी सहित्य अपना विषयवस्तु काल्पनिक संसार से न लेकर वास्तविक संसार से लेता है, कोई मूल्य नहीं रखता क्योंकि यथार्थवादी लेखक अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के बल पर बाह्य यथार्थों का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न करता है, अथवा भौतिक तत्वों का चित्रण करते समय अपनी भावुकता तथा अपनी अनुभूतियों को बाधक नहीं होने देता और यही कल्पना, भावुकता और कवि की अनुभूतियां ही रोमांटिक काव्य की जननी है।" [9]

यथार्थवाद के लिए कहीं–कहीं कल्पना का दामन छोड़ना संभव नहीं हो पाता है कल्पना भी वही सत्य हो सकती है जिसका हम अपने वास्तविक जीवन में उपयोग करते हों। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में आम के फल को न चखा हो और उसके बारे में सुनकर ही उसके प्रति अपनी धारणा बना ली हो, आम की मिठास उसके लिए यथार्थ नहीं कही जा सकती। पर ऐसा भी संभव है कोई वस्तु किसी के लिए यथार्थ है तो दूसरे के लिए काल्पनिक भी हो सकती है।विज्ञान के इस युग्र में आज की कल्पित वस्तु कल यथार्थ का रूप धारण कर सकती है। सामाजिक यथार्थ और साहित्यिक यथार्थ में अन्तर होता है। प्रत्येक लेखक अपनी परिस्थितियों एवं कलात्मकता के माध्यम से साहित्यिक यथार्थ को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करता है। साहित्य फोटोग्राफी नहीं है बल्कि उसमें साहित्यकार जगत के मानव संबंधी यथार्थ चित्रों को कल्पना के रंग से मनोहर बनाकर उपस्थित करता है वह इसलिए ऐसा करता है कि समाज के उत्थान और विकास का लक्ष्य उसके सामने होता है। "साहित्य का सत्य कल्पना को बिल्कुल नहीं छोड़ देता, वह यथार्थ के आधार पर जितना दृढ़ होता है, उतनी ही गहराइयों तक पहुंचता है।" [10] डा0 रांगेय राघव का यह कथन कल्पना और यथार्थ के दृढ़ संबंधों की पुष्टि करता है।

नागार्जुन ने प्रेमचंद द्वारा स्थापित यथार्थवाद की परम्परा को आगे बढ़ाया है। यूं तो प्रेमचंद के बाद ऐसे उपन्यासकारों की एक लम्बी सूची है जो सामाजिक यथार्थ के प्रस्तुतीकरण को ही अपना लक्ष्य मानकर चले है, किंतु नागार्जुन का इन उपन्यासकारों में महत्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुन के अतिरिक्त फणीश्वरनाथ रेणु, यशपाल, अश्क, अमृतलाल नागर, भैरव प्रसाद गुप्त आदि अनेक

उपन्यासकारों ने सामाजिक सत्य के नए स्तरों को उद्घाटित किया है। इस सामााजिक परम्परा को आंचलिक उपन्यासों में नए परिवेश में आगे बढ़ाया गया है।

व्यंग्य का अर्थ -

व्यंग्य एक ऐसी साहित्यिक अभिव्यक्ति है, जिसमें मानव एवं समाज की दुर्बलताओं, कथनी और करनी के अन्तर की समीक्षा अथवा निंदा भाषा को टेढ़ी भंगिमा देकर की जाती है। कभी–कभी पूरी तरह सपाट शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। व्यंग्य में आक्रमण की उपस्थिति अनिवार्य है।

व्यंग्य और साहित्य -

मनुष्य के आसपास का वातावरण उसे निरन्तर प्रभावित करता रहता है। मानव अपने स्वभावानुकूल वातावरण के साथ अनुकूलन करने का प्रयास करता है। मानव जीवन का विकास भी समुचित होना आवश्यक है। परिस्थितियों के अनुसार समय–समय पर व्याप्त असन्तुलन, विसंगति तथा शोषण आदि से मानव को लोहा लेना पड़ता रहा है। ऐसे में साहित्यकार का यह दायित्व हो जाता है कि वह युग की विसंगतियों की आलोचना करे। साहित्य में व्यंग्य इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त रहता है। डा0 शेर जंग गर्ग ने कहा है – "सत्य के हाथ में यदि कोई सर्वाधिक पवित्र अस्त्र हो सकता है तो वह अस्त्र व्यंग्य का ही हो सकता है।" [11]

व्यंग्य द्वारा समाज की विकृतियों को सुधारने का कार्य युगों से चला आ रहा है। कटु एवं तिक्त, करूण तथा कभी–कभी अत्यन्त गम्भीर शैली में व्यंग्य के माध्यम से साहित्यकार समाज में व्याप्त सड़ी–गली रूढ़ियों, जर्जर मान्यताओं पर प्रहार करता है। समाज का उत्थान और विकास इसी बात पर भी निर्भर है कि उसकी कमजोरियों, बेड़ियों और समय की धारा के विरुद्ध मान्यताओं को खोलकर रखा जाए। श्री मधुकर गंगाधर ने कहा है – "किसी उस्ताद जर्राह के हाथ की नश्तर लगाने की छुरी लोहे की होती है और तेज धार से मांस काटती है। दर्द देने वाली वह छुरी जिन्दगी के लिए नियामत है। साहित्य के व्यंग्य के

साथ भी कुछ वैसी ही बात है। व्यक्ति, समाज व राष्ट्र की चेतना के कलुष को काटकर अलग करना व्यंग्य की सार्थकता है। इस वाणी की छुरी से क्षणभर के लिए आखेट कांप उठता है, किंतु निष्कर्ष हमेशा महत रहता है।"[12]

प्रो0 जगदीश पाण्डेय ने व्यंग्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "जब हास्य विशेष आनंद या रंजन की भावना को छोड़कर प्रयोजन निष्ठ हो जाता है वहां वह उपहास (व्यंग्य) का मार्ग पकड़ लेता है। हास्य के आलम्बन के प्रति तिरस्कार, उपेक्षा या भर्त्सना की भावना लेकर बढ़ने वाला हास्य उपहास कहलाता है।" [13] इस प्रकार व्यंग्य किसी व्यक्ति समाज, संस्था अथवा समूह की दुर्बलताओं और दुर्गुणों का उदघाटन करता है, उन पर आक्षेप करता है। इसका लक्ष्य केवल हंसाना मात्र नहीं है बल्कि इसका अभिप्राय किसी वस्तु का विरोध करना भी होता है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने व्यंग्य की प्रयोजन–निष्ठता को प्रकट करते हुए लिखा है कि " सच्चा व्यंग्यकार समाज की कुरीतियों को सही रूप में देखता है और अपने व्यंग्य बाण से उसे बेधता रहता है। उसका उद्देश्य समाज का परिशोधन होता है। वह व्यक्ति को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहता बल्कि छिछली मान्यताओं का पर्दाफाश करता है जिसमें औसत या उसके नीचे का मनुष्य उलझकर सतत् आचरण से विरत होने के प्रलोभन का शिकार होता है।" [14]

व्यंग्यकार प्रायः छिपकर प्रहार करता है अतः व्यंग्य करते समय वह सुरक्षित रहता है। साधारण रूपसे व्यंग्य को दो भागों में बांटा जा सकता है – विषाक्त और मधुर। विषाक्त व्यंग्य कठोर होकरविषैले बाण जैसा आक्रमण करता है जबकि मधुर व्यंग्य में विनोद अथवा मीठे कटाक्ष से लज्जित किया जाता है। श्रेष्ठ व्यंग्य तभी बन पाता है जब उसमें परिहास और आलोचना दोनों का ही समन्वय हो। आधुनिक युग के प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य के बारे में लिखा है – "व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंडों का पर्दाफाश करता है। ....अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सब से उत्कृष्ट रूप होता है। " [15] व्यंग्य का क्षेत्र केवल वर्तमान होता है। वर्तमान पर किया गया व्यंग्य उपयोगी और प्रभावकारी होता है। किसी व्यक्ति विशेष पर सीधे लक्ष्य करते व्यंग्य नहीं किया जाना चाहिए। व्यंग्य हर पाठक या श्रोता को ऐसा लगे कि उसी को लक्ष्य करके किया जा रहा है अर्थात व्यंग्य का सामान्यीकरण किया जाना चाहिए। व्यंग्य हास्य का एक अंग है फिर भी दोनों में मूलभूत अन्तर है। व्यंग्य में

प्रयोजननिष्ठता स्पष्ट होती है किंतु हास्य में कोई प्रयोजन या लक्ष्य नहीं होता बल्कि आनंद की भावना प्रधान होती है। हास्य में जहां सहानुभूति की स्निग्ध धारा प्रवाहित होती है। वहां व्यंग्य घृणा, क्रोध, विरोध आदि को प्रदर्शित करने का अस्त्र है। हास्य सहज व्यक्तित्व का विकसित रूप है तो व्यंग्य गम्भीर व्यक्तित्व का तीखा स्वभाव है। हास्य में मीठापन है तो व्यंग्य में चटपटापन है।

हिंदी उपन्यास–साहित्य में व्यंग्य को ही आधार मानकर लिखे गए उपन्यास लगभग नगण्य ही हैं। सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने वाले उपन्यासकारों ने जहां समाज के शोषण करने वाले वर्ग का चित्रण किया है वहां उनका दृष्टिकोण व्यंग्य प्रधान हो गया है। नागार्जुन का "हीरक जयन्ती" एक व्यंग्यात्मक उपन्यास है। अन्य उपन्यासकारों की तुलना में नागार्जुन ने व्यंग्य को अच्छे ढंग से प्रस्तुत कियाहै। व्यंग्य वही श्रेष्ठ होता है जिसका आलम्बन भी उस पर हंस दे और बुरा न माने। व्यंग्य इस प्रकार का होना चाहिए जिस प्रकारखुजली जो हाथ को काटती हुई सी लगती है परंतु काटती नहीं। मनुष्य को अनुभव तो होता है कि कोई चीज उसके हाथ को धीरे–धीरे काट रही है फिर भी उस कटन में आनंद का अनुभव होता है। ऐसा व्यंग्य मानव और समाज के सुधार में सहायक ही सिद्ध होता है।

नागार्जुन सच्चे अर्थों में यथार्थवादी साहित्यकार है पर उनका यथार्थ भी अन्य उपन्यासकारों से भिन्न है। यथार्थ और आदर्श के मध्य साहित्य में सदैव संघर्ष सा होता आया है किंत साहित्यकार तभी सफल होता है जो युगीन परिस्थितियों के अनुसार दोनों के मध्य समन्वय स्थापित कर सके। यथार्थ के विभिन्न रूप साहित्य में देखने को मिलते हैं। श्रेणी विभाजन के नाम पर हम उन्हें मनोवैज्ञानिक यथार्थ, समाजवादी यथार्थ, ऐतिहासिक यथार्थ, सामाजिक यथार्थ, अतियथार्थ तथा प्रकृतवाद के अन्तर्गत रख सकते हैं। नागार्जुन चूंकि साम्यवाद से प्रभावित है। अतः उनके उपन्यासों में समाजवादी यथार्थ का चित्रण खुलकर हुआ है। साथ ही सामाजिक यथार्थ का चित्रण भी उन्होने बड़ी कुशलता से अपने उपन्यासों में किया है किंतु यह कहना अत्यंत कठिन है कि उपन्यास विशेष में समाजवादी यथार्थ ही है सामाजिक यथार्थ नहीं। उपन्यासकार ने परिस्थितियों के अनुरूप ही यथार्थ को इस प्रकार चित्रित किया है कि पाठक पर उसका अपेक्षित प्रभाव पड़ता है।

नागार्जुन के उपन्यासों में यथार्थ और व्यंग्य -

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" उपन्यास से पहले भी अन्य उपन्यासकारों ने विधवा जीवन की समस्याओं को लेकर बहुत कुछ लिखा है जैसे प्रेमचन्द जी का उपन्यास "निर्मला" जैनेन्द्र का "परख" आदि किंतु प्रेमचंद जी की निर्मला और जैनेन्द्र की कट्टो की तुलना में नागार्जुन की गौरी पाठक के समक्ष अपनी समस्त संवेदनाएं जिस प्रकार प्रकट करती है उससे पाठक अधिक प्रभावित होता है। उपन्यासकार ने "रतिनाथ की चाची" के माध्यम से मिथिला अंचल की समस्याओं का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया है बिल्कुल सहज और स्वाभाविक रूप में।

गौरी के चरित्र के माध्यम से विधवा की यथार्थ परक समस्याओं को लेकर समाज के अन्तर्विरोध को उपन्यासकार ने वाणी प्रदान की है तथा समाज की आर्थिक, सामाजिक एवं समाज की जड़ प्रकृति पर व्यंग्य किया है। गौरी का रोगी पति जब एक पुत्र और पुत्री को छोड़कर स्वर्गवासी हो जाता है तो रतिनाथ के पिता गौरी से बलात शारीरिक संबंध स्थापित कर बैठते हैं परिणामस्वरूप विधवा गौरी गर्भवती हो जाती है। गौरी की मां का कथन इस समस्या के कारण पर प्रकाश डालता है – "दरिद्र कुल में लड़की ब्याहने का यह दुष्परिणाम था।" बाल विधवा दमयन्ती और शुभंकरपुर गांव की अन्य स्त्रियां अपने व्यंग्य बाणों से गौरी के कलेजे को छेदने लगती हैं सभी महिलाएं अपने पूर्व जीवन में न जाने कितने ऐसे ही कुकृत्य कर चुकी थीं पर वे किसी के चंगुल में फंस नहीं पाई थीं। गौरी बेचारी फंस गई तो उनकी चढ़ आई। दमयन्ती आज विधवा गौरी की असहाय अवस्था का उपहास और उसकी सामाजिक प्रताड़ना से अपने अहं को तुष्ट कर रही थी। गौरी की मां का कथन अपने गांव के इतिहास पर विचार करते हुए विधवाओं से युक्त समाज की यथार्थ स्थिति पर प्रकाश डालता है – "जिस समाज में हजारों की तादाद में जवान विधवाएं रहेंगी, वहां यही सब तो होगा! ———— इसी तरकुलवा में यह घटना क्या पहले कभी नहीं हुई? अवश्य हुई है, तब? चतुरा चौधरी की लड़की, मक्खन पाठक की पतोहू, पंडित जी की बहन ———।"[16]

सभी के जीवन का यही तो इतिहास है। काशी में निवास करने वाली बाल विधवा सुशीला का जीवन भी ऐसा ही है। अब वह घटिया महाराज के पल्ले

पड़ती है और फिर एक खत्री दुकानदार के घर की मालकिन बनकर "खूब चुगती है और खूब छितराती है। भाई और चाचा आते हैं, तो उन्हें भी दे दिवाकर विदा करती है।" [17] उसके लिए जीवन बहते पानी की धारा के समान है जिसमें सुबह–शाम हजारों आदमी स्नान करते हैं। उसका कथन कैसा तीखा व्यंग्य लिए हुए है – "तुम जिस जाति में, जिस समाज में पैदा हुए हो, वह जिंदा नहीं मुर्दाधार है, वह छाड़न है।" जयनाथ से कहे गए सुशीला के ये शब्द ब्राह्मण जाति और समाज का सही रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार उपन्यास में अनेक ऐसे स्थल हैं जो समाज में फैली गंदगी को सामने रखते हैं। जयनाथ के दिवंगत बहनोई की छोटी मातृ–वधू विधवा चन्द्रमुखी के साथ भी जयनाथ के ऐसे संबंध थे। वे "कहने को तो एक दूसरे के भाई–बहिन थे, किंतु उनका आपस के सम्पर्क का क्षण दो समस्त प्राणियों के चिरवांछित मिलन का मधुपर्व ही था।"[18] उपन्यासकार ने इस प्रकार विधवा नारी की अवस्था का यथार्थ चित्रण किया है। दूसरी ओर सधवा नारी की स्थिति का भी पता इस वाक्य से चल जाता है – "शकुन्तला के पति की सात शादियां हुई थीं और जनक किशोरी के पति की दस। शकुन्तला का तीसरा लड़का हू–बहू उसके चचेरे भाई की शक्ल का था। जनक–किशोरी की दोनों सन्तानें आकृति में कुल्ली राउत की परम्परा में आती थीं।" [19] यह बात कोई अनहोनी नहीं जान पड़ती है क्योंकि कुलीनता के नाम पर महादरिद्र और "बिकौआ पति" के पल्ले में बंधी ये सधवाएं अपनी प्राकृतिक भूख मिटाने के लिए किसी पर–पुरूष का सहारा लें तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है। उपन्यासकार ने समाज में फैली अनेक प्रथाओं पर करारी चोट की है जो उसकी पैनी दृष्टि का परिचायक है।

गौरी जब अपनी मां के घर अपना गर्भ गिरवाने के लिए आती है तब उस समय निम्नवर्ग के बुधन चमार की औरत का कथन ऊंची जाति वालों के खोखले दम्भ पर तीखा व्यंग्य है – "बड़ी जाति वालों की तुम्हारी यह बिरादरी बड़ी म्लेच्छ, बड़ी निष्ठुर होती है – मालिकाइन! हमारी भी बहू बेटियां रांड हो जाती हैं, पर हमारी बिरादरी में किसी के पेट से आठ–आठ नौ–नौ महीने का बच्चा निकालकर जंगल में फेंक आने का रिवाज नहीं है।" [20] उपन्यासकार ने जिस अंचल का चित्रण किया है वहां जाति–पांति का बड़ा कठोर बंधन आज भी प्रचलित है। ये जाति प्रथा हिन्दू समाज के लिए कभी वरदान थी तो आज अभिशाप बन गई है। ब्राह्मणों का धर्म अब दिखावा, स्वार्थ सिद्धि तथा अहं तुष्ट करने की

भावना तक ही सीमित होकर रह गया है जिसके द्वारा सामाजिक विषमता तथा विकृतियों का पोषण होता है। कुल्ली राउत निम्न जाति का है इसी से उसे धर्म–मंत्रों के पठन–पाठन का अधिकार नहीं है किंतु वह छिपकर चुपके से इन मंत्रों को सीख लेता है। जयनाथ को जब इस बात का पता चलता है तो वह क्रोधित हो उठता है – "साले चमड़ी उधेड़ दूंगा। शूद्र है तो शूद्र की भांति रह।" कुल्ली राउत जब तरकुलवा के मार्ग में रतिनाथ को हड़बड़ी में संध्या करते देखकर उसे टोकता है तो रतिनाथ का उत्तर भी बड़ा ही व्यंग्यपूर्ण बन गया है और साथ की कुल्ली राउत का उत्तर भी – "अरे ! यहां कौन देखता है? देखना तरकुलवा में, घंटाभर नाक न दबाये रहा, तो जो कहो।" राउत ने मुस्कराकर कहा – "लो बाप का गुन सीख गए न।"[21]

भोला पण्डित का चरित्र उपन्यासकार ने बड़े यथार्थवादी रूप में दिखाया है। पण्डित जी कहने को तो प्रतिदिन नियमित रूप से "दुर्गा सप्तशती" का पाठ करते हैं पूरे मन–मन के यांत्रिक स्वर में किंतु यदि दोपहर को कोई भोजन का निमंत्रण देने वाला पाठ करते समय आ जाए तो वे "डौड डौड डे डे डा" (कौन–कौन रहेगा) जैसी अव्यक्त ध्वनियों के माध्यम से प्रश्न करने में कोई दोष नहीं देखते हैं। उपन्यासकार ने इस स्थल पर बड़ा ही तीखा व्यंग्य किया है। धर्म के उस स्वरूप पर जो कृत्रिम, यांत्रिक तथ हास्यास्पद बनकर रह गया है। प्रसिद्ध तीर्थ काशी की स्थिति चित्रण में भी उपन्यास में यथार्थ–पर दृष्टिकोण अपनाया गया है। उपन्यासकारके अनुसार धर्म का वर्तमान स्वरूप केवल सबल और समृद्ध लोगों के लिए वरदान स्वरूप है। निर्बल, अक्षम और दीन लोग ऐसे धर्म के कठोर अनुशासन में पिस–पिसकर सदा अन्याय और अत्याचार के शिकार होते रहे हैं। गौरी की मां समाज के लिए बाघिन थी इसीलिए गौरी के गर्भपात–रूपी काण्ड हो जाने पर भी तरकुलवा में उसका खुल्लम–खुल्ला विरोध करने का साहस किसी को नहीं हुआ। इन शब्दों में उपन्यासकार के यथार्थ और व्यंग्य का रूप द्रष्टव्य है – "समाज उन्हीं को दबाता है, जो गरीब होते हैं। शास्त्रकारों को बलि के लिए बकरे ही नजर आए। बाघ और भालू का बलिदान किसी को नहीं सूझा। बड़े–बड़े दांत और खूनी पंजे पंडितों के सामने थे, इसलिए उधर से नजर फेरकर उन्होने बकरों का फतवा दे डाला।"[22]

रायबहादुर दुर्गानन्दन सिंह बड़े जमींदार हैं। अपनी मां के श्राद्ध के अवसर पर समस्त महा महोपाध्यायधारी पंडितों की एक सभा वे बुलाते हैं और

पण्डितों को दुशाला, एक सौ एक रूपए की विदाई और आने जाने का सेकंड क्लास का खर्चा भी यदि वे देते हैं और पण्डितों द्वारा "धर्म दिवाकर" की यदि वे गौरवपूर्ण उपाधि पा ही लेते हैं तो क्या बुरा है? इसी प्रकार मुजफ्फरपुर के व्यापारी राय बहादुर श्री ललित किशोरी शरण के प्रकट में वैष्णवरूप और परोक्ष में सखी समाजी रूप पर भी इसी प्रकार उपन्यासकार ने व्यंग्य किया है – "बहुत सारे सुन्दर छोकरों में से छांटकर तीन उन्होने अपने यहां रख लिये थे।"[23] उपन्यास में अनेक स्थलों पर धर्म के ह्रासोन्मुखी स्वरूप को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करते हुए उसे सामाजिक आर्थिक विषमता को बनाये रखने वाले एक अस्त्र के रूप में चित्रित किया गया है।

उपन्यासकार ने गांव का बहुत यथार्थ और समग्र चित्र प्रस्तुत करने में भी सफलता प्राप्त की है। ढाई सौ परिवार अर्थात ग्यारह सौ खाने वाले मुंह की आबादी वाले शुंभकरपुर की कुल उपजाऊ जमीन का रकबा तीन सौ बीघा था तथा आमों के बाग–बांसों के जंगल, तालाब गोचार आदि के लिए पचास बीघा जमीन और थी। "साफ है कि गरीब ही अधिक थे जो दो श्रेणियों में बंटे थे – बामन और गैर बामन।" नागार्जुन गांव का चित्रण करने में इतने सिद्धहस्त हैं कि पाठक के सम्मुख प्रत्येक वस्तु का चित्र सा उपस्थित हो जाता है, लगता है सचमुच ही हम गांव के बीचों–बीच पहुच गए हैं। उपन्यास में वर्णित 1937 का घटना चक्र भी वास्तविक रूप में चित्रित किया गया है। सन 1937 में कांग्रेस द्वारा मंत्रिमंडल में भाग लेना स्वीकार करना और पराजित जमींदारों की धमकियों में आकर बिहार कांग्रेस द्वारा किसानों की पीठ तथा जमींदारों की ओर मुंह कर देना तथा किसानों द्वारा संगठित होकर नारा देना कि "कमाने वाला खाएगा" आदि प्रसंग बिहार राज्य की राजनीतिक गतिविधियों को प्रस्तुत करते हैं और किसानों की जाग्रति और चेतना की ओर इंगित करते हैं। किसानों के आन्दोलन को दबाने के लिए जब बिहार सरकार जमींदारों का पक्ष लेती है उस समय उपन्यासकार का व्यंग्य तीव्रतर हो उठता है – "ऊपर कांग्रेसी मंत्रिमंडल था, नीचे धरती माता थी। सत्याग्रही पृथ्वी पुत्र जब पिटने लगे, खून से तिरंगी तब लाल हो उठा। इस छोटे से महाभारत में दो कुर्मियों और एक ब्राह्मण की जान गई।" [24] गांव में मलेरिया का भयंकर प्रकोप, लड़ाई की तेजी के साथ अनाज के भावों का आसमान पर चढ़ना, सरकार एवं कांग्रेस का चींटियों की तरह पटापट मर रहे निर्धन लोगों के प्रति अनुत्तरादायित्वपूर्ण व्यवहार आदि

सभी प्रसंग सामाजिक यथार्थ कोप्रस्तुत करते हैं। साथ ही इस बात के द्योतक भी है कि उपन्यास में तत्कालीन सरकार और कांग्रेसी नेता वास्तविक मानव कल्याण और मानव सेवा के कार्यो के प्रति उदासीन है। उपन्यासकार की शैली ऐसे वर्णनों के साथ–साथ व्यंग्य प्रधान हो उठी है। "गरीबी और मलेरिया ने लोगों की कमर तोड़ दी थी। लड़ाई की तेजी के साथ–साथ अनाज का भाव भी चढ़ता जा रहा था। "सरकारी सहायता तब पहुंची जब सत्तर के करीब लोग मर चुके। कुनैन की टिकिया बंटी थी किंतु गरीबों को वह मुश्किल से ही मिली थी। तुलसी का काढ़ा पी–पीकर आखिर कब तक लोग मलेरिया का मुकाबला करते? ताराचरण ने बड़ी कोशिश की कि जिला और थाने के कांग्रेसी अधिकारियों से इस मामले में कुछ करवाए मगर अभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की तुलना में नेताओं के लिए इन बातों का क्या महत्व था" [25]

कहीं–कहीं पर कुछ वर्णन और पात्रों के विचार भी ऐसे बन पड़े है जो अवास्तविक से लगते हैं किंतु कुल मिलाकर यथार्थ के धरातल पर ही उपन्यास की आधार भूमि रखी गई है। उपन्यास में वर्णित प्रमुख पात्रों के पारिवारिक इतिहास का सांकेतिक चित्रण, ब्राह्मण परिवार के पंजीकरण का इतिहास एवं स्थानीय रीति–नीति, रहन–सहन, तीज–त्यौहार, वेश–भूषा, स्थानीय शब्दों का प्रयोग, प्राकृतिक वातावरण, खान–पान आदि का यथार्थ चित्रण किया गया है। डा0 सुषमा धवन के शब्दों में – "रचना ग्रामीण जीवन का यथार्थ एवं संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने में पूर्णतः सफल है और प्रगतिवादी उपन्यासकार को सम्पन्न बनाने में योग देती है।"[26]

"बलचनमा" नागार्जुन की बहुचर्चित ऐसी औपन्यासिक कृति है जो प्रेमचंद की उपन्यास परम्परा को एक कदम और आगे बढ़ाने में सहायक है। "बलचनमा" की कथावस्तु भी मिथिला अंचल से सम्बद्ध है। सन् 1937 के आसपास तक मिथिला के किसानों की क्या दशा थी तथा किस प्रकारा जमींदारों के द्वारा किए जा रहे अत्याचार शोषण तथा दमन के विरूद्ध वहां के किसान में प्रतिहिंसा की भावना घर करती जा रही थी। किसान की इसी उभरती हुई विकासोन्मुखी चेतना को नागार्जुन ने बलचनमा के चरित्र के रूप में यथार्थ के धरातल पर चित्रित करने का सफल प्रयास किया है।

बलचनमा तत्कालीन भारतीय किसान के प्रतिनिधि के रूप में ही उपन्यासकार ने चित्रित किया है। बलचनमा तथा अन्य भारतीय किसानों की

तत्कालीन अवस्था में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता है। ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने में प्रगतिवादी दृष्टिकोण से काम लिया है पर जीवन की व्याख्या प्रगतिवादी दृष्टिकोण से किए जाने पर भी उसमें कृत्रिमता का आभास नहीं होता है। ग्रामीण जीवन में पनपते अभावों, ग्रामीण समस्यों का मूल कारण आर्थिक पक्ष का निर्बल होना हैं जीवन से संबंधित अन्य सभी छोटी से छोटी बात की पकड़ उपन्यासकार ने जिस ढंग से की है उससे उपन्यास में स्वाभाविकता आ गई है। उपन्यास की विशेषता यह है कि इसका नायक समाजवादी चेतना से प्रेरित है। प्रेमचंद के "होरी की निराशावादी दृष्टि बलचनमा की आशावादी दृष्टि में बदल जाती है जिससे लेखक की आस्था का भी परिचय मिलता है।" [27] उपन्यास में सर्वत्र समाजवादी यथार्थ के दर्शन होते हैं।

बलचनमा एक निर्धन ग्वाले का पुत्र है। उपन्यास की कथा उसी के चारों ओर घूमती है। जीवन के अभावों का जीवन्त प्रतीक बलचनमा सर्वहारा वर्ग का मजदूर बालक है जिसकी केवल 10 बिस्वा जमीन हैं परिवार में उसकी मां, दादी और छोटी बहिन है। मूलतः परिवार के गुजारे का साधन मजदूरी ही है। आत्म कथात्मक इस उपन्यास में उपन्यासकार को अपनी ओर से कुछ कहने की गुंजाइश है ही नहीं। एक आलोचक का कथन है – "बलचनमा एक ऐसा प्रयोग है जिसमें व्यक्तित्व की जटिल संवेदना नहीं, नागार्जुन की कविताओं का तीखा व्यंग्य भी नहीं है, है केवल गंवारू भाषा का उद्धार करने का हठ।" [28] यह कहना शायद पूर्वाग्रह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जान पड़ता है। जमींदारों द्वारा किए गए अत्याचारों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण लेखक ने किया है। बलचनमा के पिता की मृत्यु का कारण बना उसका मालिक के बाग से कच्चे आम तोड़ लेना। पिता की पिटाई का चित्र बलचनमा की आंखों के सामने सदैव विद्यमान रहता है – " -------- मालिक के दरवाजे पर मेरे बाप को एक खंभली के सहारे कसकर बांध दिया गया है। जांघ, चूतर , पीठ और बांह सभी पर बांस की हरी कैली के निशान उभर आए हैं। चोट से कहीं–कहीं खाल उधड़ गई है और आंखों से बहते आंसूओं के टंघार गाल और छाती पर से सूखते नीचे चले गए हैं -------- चेहरा काला पड़ गया है।" [29]

बलचनमा के जीवन में बचपन से ही एक चेतना और विशेष प्रकार की प्रखरता देखने को मिलती है। दीनता और जमींदारी जुल्म के वातावरण में पला हुआ बलचनमा बचपन में ही अपने पिता, मां और दादी की तरह भाग्य और

ईश्वर पर विश्वास नहीं करता। वह हमारे सम्मुख नास्तिक और विद्रोही के रूप में आता है जिसकी बुद्धि वस्तु विश्लेषण क्षमता से युक्त है। छोटी से उम्र में ईश्वरीय विधान के नाम पर जमींदारों द्वारा किये जाने वाले शोषण की वास्तविकता पर बलचनमा कटु प्रहार करता है उसका कथन प्रखर व्यंग्य लिए हुए है। जमींदार द्वारा भगवान की दुहाई दी जाने पर वह सोचने लगता है – "अच्छा तो भगवान करते ही हैं चार परानी का परिवार छोड़कर बाप मर गया यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और मां आम की गुठलियों का गूदा चूर–चूरकर फांकत हैं, यह भी भगवान ठीक ही करते हैं और सरकार आप कनकजीर और तुलसी–फूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते हैं, सो भी भगवन की ही लीला है।" [30] समाज में फैली विषमता के प्रति बलचनमा की चेतना इस हीन परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए व्याकुल दिखाई देती है जो बिल्कुल स्वाभाविक ही है।

बलचनमा के जीवन में गांव छोड़कर फूल बाबू के साथ पटना चले जाने पर एक और परिवर्तन होता है। उसकी चेतना को विकास का उन्मुक्त वातावरण यहां आकर मिलता है। सन 1930–32 में नमक सत्याग्रह में भाग लेने के कारण फूल बाबू गिरफ्तार हो जाते हैं तो वह बड़ा हैरान सा होता है – "बार–बार मैं यही सोचताहूं कि बाबू को जब जहल ही जाना था, तो मुझे भी साथ ले जाते। यह जो दस–दस, पांच–पांच आदमी कुर्ता–धोती, टोपी पहनकर गले में माला डाले चढ़उआ (बलि देने वाले) बकरे की तरह नमक बनाने जाते थे, सो मुझे बाबू लोगों का एक खिलवाड़ ही लगता था। ऐसे भी कहीं किसी को सुराज मिला है।"[31] स्वराजी नेताओं के प्रति बलचनमा का दृष्टिकोण सर्वत्र व्यंग्यात्मक ही दिखाई देता है।

पटना से लौटकर बलचनमा जब गांव आता है तो वह अपने अन्दर एक नए–जीवन के स्पन्दन का अनुभव करने लगता है। वह अत्यधिक श्रम करने लगता है ताकि उसके परिवार की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हो सके किंतु जमींदारों को यह सब कैसे सहन होता। बलचनमा की छोटी बहिन को जब छोटे मालिक ने अपनी वासना का शिकार बनाना चाहा तो बलचनमा इस घटना से अत्यंत खिन्न और क्रुद्ध होता है। यहां पर उपन्यासकार ने जमींदार की बर्बर कामुकता, क्रूरता और पशुता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है तथा बलचनमा की प्रतिहिंसात्मक भावना को उभारा है। फूल बाबू के पास पहुंचकर वह अपनी सारी

गाथा उन्हें सुनाता है किंतु उसे वहां केवल मौखिक सहानुभूति ही मिलती है। उसे फूल बाबू से अश्रद्धा होने लगती है। वह सोचता है – "कैसे धोखे में पड़ा हुआ था। मेरा सारा मोह क्षण भर में फट गया। साफ–साफ दीखने लगा कि बाबू–भैया लोग वहीं तक हमारा पछ लेंगे जहां तक उनका अपना मतलब रहेगा।"[32]

लहरिया–सराय आश्रम से पुनः गांव आकर बलचनमा अपना गौना करता है और अपनी बहिन को भी उसकी ससुराल भेज देता हैं कठिन परिश्रम से वह अपने घर को खुशहाल बनाने के लिए जुट जाता है किंतु उसका उद्देश्य यहीं तक सीमित नहीं रहता है, वह अपने अधिकारों को पाने के लिए खेतिहर–मजदूर तथा कृषक के स्तर से ऊपर उठकर भूमि पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए संघर्ष करने लगता है। वह किसानों को संगठित कर अपने नेतृत्व में संगठित किसान आन्दोलन को आरम्भ करता है। जमींदार इस सबको सहन नहीं कर पाते हैं औरवे बलचनमा को दबाने का तरह–तरह से प्रयास करते हैं। कांग्रेसी मंत्रियों के बारे में भी उसका दृष्टिकोण व्यंग्यात्मक ही है। वह जमींदारों का दूसरा रूप ही मिनिस्टर के रूप में देखता है – "अब मेरी समझ में आ गया कि मिनिस्टर का क्या मतलब होगा। स्वामी जी ने कहा था कि जमींदार लोग कांग्रेसी बन के किसानों को ठगते फिरते हैं। मेरा माथा ठनकने लगा कि ये ही जब मिनिस्टर हो जायेंगे तो गरीबों की भलाई होगी इनसे या बड़े–बड़े बाबू लोगों की।''[33] बलचनमा के दृष्टिकोण के पीछे उपन्यासकार का साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित होना ही है। कांग्रेसी नेताओं पर किए गए व्यंग्य इस बात की पुष्टि करते हैं। डा0 इन्द्रनाथ मदान ने नागार्जुन के बारे में सत्य ही कहा है – "नागार्जुन ही शायद अकेले उपन्यासकार हैं जिन्होने समाजवादी बोध को सहज एवं अनायास रूप में आत्मसात किया हुआ है और यह बोध इनके पोर–पोर तथा रग–रग में निःसृत है।"[34]

साहित्यकार वही है जो समाज की दुखती रग को पहचाने और साथ ही उसका निदान भी सुझाये। समस्याएं प्रेमचंद के युग में भी वैसी ही थीं जैसी नागार्जुन के युग में, किंतु प्रेमचंद उन समस्याओं के प्रति चिन्तित होते हुए भी जहां कोइ समाधान नहीं दे पाए हैं प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों ने उन समस्याओं के निदान के लिए आवाज बुलन्द की है। नागार्जुन ऐसे ही उपन्यासकार हैं। डा0 सुषमा धवन ने ठीक ही कहा है – "प्रेमचन्द का दृष्टिकोण "सामाजिक

यथार्थ" की देन है, नागार्जुन की जीवन दृष्टि "सामाजिक यथार्थ " से प्रेरित है।"[35] प्रेमचंद की संवेदना नागार्जुन की रचनाओं में समाजवादी चेतना में परिणित हो जाती है। "बलचनमा" "गोदान" के बाद दूसरी सशक्त औपन्यासिक कृति है।

नई पौध में उपन्यासकार ने असंगत विवाह की समस्या को एक नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। भारतीय समाज में अनमेल विवाह की समस्या परम्परागत समस्या रही है और अनेक प्रयत्नों और कानूनों के बाद भी इस समस्या से पूरी तरह छुटकारा आज भी नहीं मिल पाया है। नागार्जुन ने मिथिला के जन जीवन के यथार्थ रूप को प्रगतिशील दृष्टि से चित्रित किया है। उपन्यास में यथार्थ जीवन में इस प्रकार घुल–मिलकर चला है कि उसका कहीं भी जीवन से अलग होने का आभास नहीं होता है। सौराठ में शादी–विवाह की सौदेबाजी, मधुबनी की कचहरी का दृश्य, मुखिया द्वारा मिट्टी के तेल और शक्कर आदि में की जाने वाली धांधले बाजी, वर्तमान शासन का वास्तविक रूप, विभिन्न अन्धविश्वास तथा धार्मिक रीति रिवाजों द्वारा यथार्थ सामाजिक जीवन और मिथिला का अंचल आंखों के सम्मुख साकार हो उठता है।

मिथिला के नौगछिया गांव के खोंखा पण्डित ने अपनी छै लड़कियों को रूपए लेकर इधर–उधर बेच दिया है। बिसेसरी पण्डित की धेवती है। बिसेसरी का विवाह पण्डित जी पैसे लेकर साठ वर्षीय चतुरानन चौधरी से तय कर देते हैं। गांव के बड़े–बूढ़े तो इस विवाह का मान्यता प्रदान कर देते हैं किंतु गांव के नवयुवक इसे स्वीकार नहीं कर पाते हैं। गांव की "बमपाटी" के नेता दिगम्बर के नेतृत्व में गांव के नवयुवक सुसंगठित रूप से चतुरानन चौधरी के साथ विवाह ने होने देने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। दो पीढ़ियों के संघर्ष में नई पीढ़ी की विजय होती है और अन्त में दिगम्बर के मित्र वाचस्पति से बिसेसरी का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

"नई पौध" नागार्जुन की व्यंग्य–प्रधान तथा सामाजिक यथार्थ–प्रधान औपन्यासिक कृति है। "इस उपन्यास में सामाजिक कुरूपताओं पर नागार्जुन ने व्यंग्य एवं हास्य का गुलाल उड़ाकर उनके मुखड़ों की असली हालत चित्रित करने का प्रयास किया है, जो उपन्यास की प्रमुख विशेषता है।"[36] उपन्यास के समस्त पात्र ग्रामीण जीवन के विविध स्तरों की मान्यताओं तथा धारणाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। "उपन्यास की शैली व्यंग्यात्मक है : स्थल–स्थल पर हास्य–रस के छींटे बिखरे पड़े हैं। घटकराज, खोंखाई झा, चतुरा चौधरी, माहे,

दिगम्बर, दुर्गानन्दन तथा नारी पात्रों के चित्रण में लेखक की लोक जीवन से अभिन्नता प्रतिभासित होती है।" [37]

खोंखा पण्डित के सहपाठी घटकराज के बारे में लेखक का व्यंग्य देखने योग्य है – "रामेसरी को छोड़कर बाकी लड़कियो के लिए वर खोजने का श्रेय आप ही को प्राप्त था। यह आप ही के शुभ परामर्शो का परिणाम था कि पण्डित जी चार हजार का कर्जा चुका सके और दो बेटों की शादी के बाद अपनी अपनी विधवा सास की जायदाद हाथ लगी।" [38] सौराठ के मेले के बारे में उपन्यासकार ने बिल्कुल यथार्थ चित्रण किया है – "कलकत्ते के रायल एक्सचेंज में, बम्बई के कालबादेवी वाले मुहल्लों में और दिल्ली के चांदनी चौक की गलिहों में सटटेबाजी की हलचल देखी है कभी आपने हां तो समझ लीजिए मैथिल ब्राह्मणों की ब्याह की इस अनोखी मंडी में कुछ वैसा ही चल रहा था। गजब की चहल–पहल थी। ऐसा लगता था कि समूची दुनियां के लोग इन चार दिनों के अन्दर ही क्वारों–क्वारियों का ब्याह करा डालेंगे! घटकों और दलालों की मत पूछिए, वे अंधेरे में ही निशाना साधते हैं। रिश्तों की तुक शायद ही कभी ठीक बैठती हो––––––––।" [39]

समाज के ढोंगी लोंगों का उपन्यासकार ने यथार्थ चित्रण किया है। गांव के मुखिया की देश सेवा की वास्तविकता इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है – "गांव का मुखिया चीनी और मिट्टी का तेल कन्ट्रोल रेट पर और सो भी समय पर कम ही लोगों को देता था। अपने मकान के सामने उसने बीस गज लम्बी बांस गाड़ रखी थी जिसके छोर पर तिरंगा फहर रहा था। कपड़े की परमिट में भी लाइसेन्सदार मारवाड़ी से सांठ–गांठ करके मुखिया काफी कमा चुका था।" [40] उपन्यास में अन्यत्र भी मुखिया की कांग्रेस–भक्ति प्रकट हुई है। खोखा पण्डित की सामन्तीय चेतना उसे कांग्रेसियों का विरोध एवं अंग्रेजों एवं राजा महाराजाओं का गुणगान करने के लिए प्रेरित करती है – "अंग्रेज बहादुर ही अच्छे। उनसे तो हम भर पायं –––––– बिना राजा के कहीं कोई राज चलता है।" [41] इसी प्रकार निम्नवर्ग का छकौड़ी खवास अंग्रेजों और कांग्रेसियों में कोई अन्तर नहीं समझता, – "अंग्रेज लहू पीता था, ई लोग हडडी चबाते हैं।"

आज का यथार्थ है परिस्थिति को इस प्रकार बदलना कि मनुष्य को अपना सहज विकास कर सके तथा मानव चेतना को इस प्रकार मोड़ना कि समाज तथा व्यक्ति दोनों का ही द्वन्द समाप्त हो सके। जो चेतना अपनी

परिस्थितियों को यथार्थ रूप से पहचान लेती है वही उसे अपने अनुकूल बदल सकती है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मानवीय चेतना के सम्मुख आज की परिस्थितियों का सही विश्लेषण किया है साथ ही समाज के मुख्य यथार्थ को अधिक गहराई से पहचाना हैं आज सबसे अधिक भ्रष्टाचार के गढ़ हमारी अदालतें बन गई हैं। कैसी विडम्बना है जहां न्याय को आदमी जाता है वहीं सबसे अधिक रिश्वतखोरी और लूट–खसोट हो रही है। कचहरी के बाहर वकील और मुंशी मुवक्किल के कपड़े तक उतारने का तत्पर रहते हैं। "निकालिए ए ढो रूपइया! सिरिस्तेदार और सम्मन ले जाने वाला सिपाही – दोनों को अठन्नी और चवन्नी चटाना पड़ेगा, मैं कई बार जाकर उन्हें ताकीद करूंगा। तब कहीं समन बरामद होंगे और गवाहों तक पहुंचेंगे! कितनी दौड़ धूप मुझे करनी होगी। चाहिए तो डेढ़ रूपइया, मगर निकालिए आप एक ही कलदारम ––––––। मेरे पास तो अब लारी का भाड़ा भर रह गया है! ऊ हूँ! फिर कैसे होगा।" [42]

उपन्यासकार ने समस्या के मूल तक जाने का सफल प्रयास किया है। बिसेसरी और उसकी मां रामेसरी के जीवन की दयनीय अवस्थाा का चित्रण करते हुए , बिसेसरी और अन्य उच्चवर्गीय लड़कियों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए तथा वाचस्पति द्वारा इस समस्या की यथार्थ व्या़ख्या करवाते हुए असंगत विवाह के मूल कारण की ओर लेखक ने संकेत किया है। वाचस्पति कहता है – "आप लोग सामाजिक विषमता के कारण जिस मुसीबत में फंस गये थे, उसके बारे में दिगम्बर से मेरी काफी चर्चा हो चुकी है और हमने जो फैसला किया सो आपको मालूम भी हो गया होगा। –––––– व्यक्ति का संकट ही समाज का संकट है और समाज का संकट समूचे देश का संकट है।" [43] उपन्यासकार ने सभी पात्रों की पारिवारिक स्थिति तथा उनके पारिवारिक इतिहास की ओर संकेत कर उनके चारित्रिक विकास के लिए आनुवांशिक तथा पारिवेशिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है जिसके फलस्वरूप पात्र विशेष को यथार्थ रूप से समझा जा सका है।

पितृपक्ष में किस प्रकार एक ब्राह्मण को कई यजमानों के पितृदेवों को तृप्त करना पड़ता है इसका व्यंग्यात्मक चित्र उपन्यास में सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है – "चन्द घण्टों के अन्दर ही जिन्हें कई घरों के पितरों को अकेले–अकेले तृप्त करना था वे उस रोज सवेरे ही नहा धोकर और चन्दन का टीका लगाकर तैयार हो गए थे।" [44] इस प्रकार "नई पौध" यथार्थ जीवन चित्रण

की दृष्टि से उत्कृष्ट उपन्यास बन पड़ा है। वैयक्तिक तथा सामाजिक विकृतियों के प्रति प्रच्छन्न व्यंग्य ने उपन्यास को और सरस बना दिया है।

"बाबा बटेसरनाथ" में उपन्यासकार ने नए रूप–शिल्प की उदभावना से एक पुराने वट वृक्ष के मुख से रूपउली गांव के उत्थान, पतन, सामाजिक राजनैतिक स्थितियों का अंकन किया है। इस पुराने बरगद के वृक्ष जो जयकिसुन के परदादा ने लगा या था और अपनी घनी छाया के कारण यह गांव के सभी वर्ग के व्यक्तियों का विश्राम स्थल सा बन गया था। टुनाई पाठक और जैनारायन इस वट वृक्ष को जमींदार से खरीदकर इसे कटवाना चाहते है। गांव वालों को जब इस घटना का पता चलता है तो वे क्रुद्ध हो जाते हैं। जैकिसुन और जीवन मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाते हैं औरइस अन्याय का विरोध करते हैं इसमें इन्हें कांग्रेसी विधायक से भी कोई सहायता नहीं मिलती है। जैकिसुन आदि की सहायता बाबू श्याम सुन्दर वकील करते हैं। इस संघर्ष के चित्रण द्वारा उपन्यासकार ने यह चित्रित करने का प्रयास किया है कि वर्तमान राजनीतिक दल पर विश्वास न कर स्वंय ही सगठित होकर समस्या को हल करना होगा तभी वे पूंजीवादी शोषकों से टक्कर ले सकेंगे। गांव वालों के इस संयुक्त मार्चे को अपने कार्य में सफलता मिलती है।

वटवृक्ष में माध्यम से उपन्यासकार ने कृषक एवं श्रमिक जीवन के शोषण की गाथा प्रस्तुत की है। उपन्यास के कथानक का परवर्ती अंश सर्वहारा वर्ग की जागृति, संगठन शक्ति और संघर्ष का इतिहास है जिसमें कृषक–वर्ग अन्याय और शोषण के विरूद्ध उन्मुख होकर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रूप में चित्रित हुआ है। यहीं पर प्रसंगवश धनवानों, कांग्रेसी नेताओं, राजकीय अधिकारियों का यथार्थ अंकन प्रगतिवादी दृष्टिकोण से तीव्र व्यंग्यात्मक शैली में किया गया है। बाबू उग्रमोहन दास के बारे में यह व्यंग्य द्रष्टव्य है – "पिछंले एलेकशन में प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी के एक ग्रुप ने आपको उम्मीदवार घोषित किया और दूसरे ग्रुप ने हल्की सी मुखालफत की तो उग्रमोहनी बाबू सीधे दिल्ली–दरबार पहुंचे और मुस्कराते हुए वापस आये। डिप्टी मिनिस्टर होने की चान्स थी, मखौल तो कोई था नहीं। वोटिंग से चार–छः रोज पहले वह रूपउली भी आए थे : द्वार–द्वार हाथ जोड़कर लोगों से "भोट–भिक्षा" मांगी थी।"[45]

अपने को जनता का प्रतिनिधि कहने वाले विधायक अपनी सुख–

सुविधा में जुटे रहते हैं उन्हें अपने क्षेत्र की समस्याओं से क्या लेना देना। बाबू उग्रमोहन दास के वास्तविक रूप को देखकर दयानाथ का मन वितृष्णा से भर जाता है। क्या इसी लिए उसने आजादी की लड़ाई में भाग लिया था। "आजादी! छिः'! आजादी मिली है हमारे उग्रमोहन बाबू को, कुलानन्दन दास को ------ कांग्रेस की टिकट पर जो भी चुने गए हैं उन्हें मिली है आजादी। मिनिस्टरों को तो और ऊंचे दर्जे की आजादी मिली है। सैक्रेटीरियट के बड़े सहाबों को भी आजादी का फायदा पहुंचा है।"[46] पता नहीं कितने करोड़ भारतीय ऐसा ही सोचते हैं जैसा कि दयानाथ।

पुलिस कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार का यह रूप आज के भारत के प्रत्येक अंचल में देखा जा सकता है। "दरोगा सहाब आये हैं, इसी खुशी में पाठक ने बकरा कटवाया। खूब अच्छी तरह उनको खिलाया–पिलाया। देर तक हा–हा–ही–ही होती रही और बैटरी वाले रेडियो पर लता मंगेशकर का सुरीला कंठ रह–रहकर लहराता रहा और अन्त में, बाबू टुनाई पाठक ने अपने इस रेहुआ थाने के जनाब थानेदार सहाब के सामने गांव के "बदमाशों" की पूरी लिस्ट पेशकी जिनसे उनकी जान और माल असबाब को खतरा था।"[47]

उपन्यासकार ने वट वृक्ष की आत्म कथा के साथ जग–गाथा प्रस्तुत की है। तत्कालीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण उपन्यास को और अधिक सजीव बना देता है। देशव्यापी स्वाधीनता आंदोलन का विकास इतिहास तथा समय के साथ आर्थिक दृष्टि से नए वर्गो बाबू वर्ग, मजदूर वर्ग की सृष्टि का लेखा जोखा मिलताहै। उपन्यास में इतिहास के अनुसार कुछ प्रमाणिक प्रसंग भी आ गए हैं। जैसे 1906 का अकाल, 1020 का असहयोग आन्दोलन, 1921 के देशव्यापी विराट प्रदर्शन, 1923 में नागपुर का झण्डा सत्याग्रह, 1930 में नमक कानून तोड़ने का आन्दोलन आदि जो आत्मकथा को और अधिक यथार्थ और वास्तविक बनाने में योग देते हैं। इसके अतिरिक्त जमींदारों द्वारा गरीब लोगों पर किस प्रकार जुल्म ढाये जाते थे इनका रोंगटे खड़े कर देने वाला चित्रण उपन्यासकार ने किया है जैसे रायबहादुर जमींदार द्वारा शत्रुमर्दन राय पर लाल चींटों की हांडी छोड़ देने की घटना – "जमींदार का इशारा पाकर वह शत्रुमर्दन के बिल्कुल करीब पहुंचा और हांडी का मुँह खोलकर लाल चहींटों का छत्ता निकाल लिया। छत्ते में डोरी लगी थी। उसने खाली हांडी जमीन पर रख दी और बिलबिलाते लाल चींटों वाला आम के अधसूखे पत्तों का वह घोंसला राय जी के माथे पर

टिकाया : ऊपर डोरी पकड़े रहा ------ चींटे हजारों की तादाद में शत्रुमर्दन राय की देह पर फैल गए।" [48]

समाज में फैले विभिन्न अन्धविश्वासों का भी उपन्यास में बड़ा सजीव अंकन किया गया है। गांव में वर्षा न होने पर इन्द्र देवता को प्रसन्न करने के लिए लोग क्या-क्या कार्य नहीं करते हैं यथा – "मेरी छाया में बैठकर तेरी इस रूपउली के ब्राह्मणों ने मिट्टी के ग्यारह लाल शिवलिंग बनाये और उनकी सामूहिक पूजा की उन्होने, फिर भी मेघ की कृपा नहीं हुई – नहीं हुई ! नहीं हुई!! नहीं हुई!!! ग्वालों, अहीरों और धानुकों ने यहीं चार दिनों तक भुईयां महाराज का पूजन किया, दस भेंडें बलि चढ़ाई और दो जवान भाव खेलते-खेलते लहुलुहान होकर गिर पड़े थं : फिर भी राजा इन्दर खुश नहीं हुआ – नहीं हुआ! नहीं हुआ !! नहीं हुआ !!! " [49] उपन्यासकार ने मिथिला अंचल के कण-कण से पूरी जानकारी है। सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का बड़ी सजीवता से अंकन करने में वह पूरी तरह सफल है।

उपन्यास यथार्थ की प्रतिच्छाया है। यथार्थ वास्तव में यथार्थ ही होता है, जिसे या तो भावनाओं के द्वारा या फिर मानस के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है या फिर दोनों के ही माध्यम से। यथार्थवाद समाज की प्रमुख एवं ज्वलंत समस्याओं को ही अपने चित्रण के लिए चुनता है और समकालीन मानवीय घुटन, पीड़ाओं आदि के चित्रण में ही उपन्यासकार की कौशलता निर्भर करती है, नागार्जुन इसी प्रकार के लेखक हैं। उनका यह उपन्यास समाजवादी यथार्थ की एक सुन्दर कृति बन गया हैं डा0 सुरेश सिन्हा के अनुसार – "इसमें समाजवादी यथार्थ का सफलता से अंकन हुआ है। शोषक वर्ग के हथकण्डों एवं वर्ग वैषम्य की भीषणता तथा सामाजिक असमानता का लेखक ने अत्यंत सजीव एवं यथार्थ चित्रण किया है।" [50]

"वरूण के बेटे" में मछुओं के जीवन की एक अन्तरंग झांकी बहुत ही सजीवता और सूक्ष्मता के साथ अंकित की गई है। भलाही गोंदियारी दो अलग-अलग किंतु अत्यंत समीप होने के कारण एक ही गांव के दो भाग से लगते हैं। इसी गांव के निवासी अधिकांश मछुए हैं जो समीप के ही तालाब "गढ़-पोखर" से मछलियां पकड़ कर अपना जीवन-यापन करते हैं। मछुओं की बोलचाल की भाषा में "गढ़-पोखर" का बन्दोबस्त करना चाहा तो मछुओं ने इसका डटकर विरोध किया क्योंकि पीढियों से गरोखर उनके जीवन निर्वाह का

एकमात्र साधन था मछुओं और जमींदार के मध्य होने वाला संघर्ष ही उपन्यास की मूल कथा हैं मछुए मिलकर मछुआ–संघ की स्थापना करते हैं। मछुओं की स्त्रियां इस संघर्ष में पीछे नहीं रहती हैं। मोहन मांझी, खुरखुन, भोला, मंगल और माधुरी इादि इस नई विपत्ति सें जूझते हैं। अन्त में पुलिस इन सबको पकड़कर ले जाती है।

"वरूण के बेटे" में समाजवादी चेतना को अधिक स्पष्ट रूप से व्यावहारिक रूप प्रदान कर दिखाया है। मछुओं के खानपान, वेश–भूषा, भाषा–शैली तथा यथार्थ के वातावरण ने उपन्यास को स्वाभाविकता प्रदान की है। मछुए के रहन–सहन का चित्र उपन्यासकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है – "पुआल बिछे थे कोने में, उन पर फटी–पुरानी बोरी बिछी थी। एक जवान लड़की और नंग–धड़ंग बच्चे बेतरतीब सोए पड़े थे। ओढ़ना के नाम पर कथरी–गुदड़ी के दो–तीन छोटे–बड़े टुकड़े उन शरीरों को जहां तहां से ढक रहे थे। दूसरे कोने में चूल्हा–चौका। तीसरे में अनाज रखने के कूंड और कुठले। चौथा कोना खाली। छप्पर के बांसों से दसियों छिक्के लटक रहे थे। मछलियां पकड़ने और फंसाने के औजार भीत की खूंटियों से टंगे थे – गांज, टापी सहत, सरैला, किस्म किस्म के डंडे। ——————— यानि खुरखुन का समूचा संसार ही मानों तेरह फुट लम्बे और नौ फुट चौड़े घर में अटा पड़ा था।" [51]

मछुओं के जीवन को नागार्जुन ने बड़े निकट से देखा है तभी तो पाठक के सम्मुख इतने सजीव चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके। घर से बाहर के इस दृश्य को देखकर बिल्कुल ऐसा लगने लगता है कि आंखों के सम्मुख ही सब कुछ हो रहा है – "जाल बुनते हुए या धागा बांटते हुए अर्ध–नग्न बूढ़े। हुक्का–गुड़गुड़ाती या टिकिया सुलगाती हुइ बुढ़िया। कछारों में केंकडे या कछुए खोजते नंग–धड़ंग लड़के ! जलते चूल्हों पर काली हांडियां, करीब बैठकर हल्दी–लाल मिर्च पीसती हुई सयानी लड़कियां, फटी मैली धोतियों वाली।" [52]

मछुओं के जीवन में मनोरंजन के नाम कितना सिमटा सा संसार होता है। मछलियां बेचकर ही वे उस दिन अपने को तृप्त करते हैं। जी भरकर खाना–पीना चाहते हैं। खुरखुन और भोला ने भी मछलियां बेचकर यही किया – "पूड़ी तरकारी, चटनी और इमरती – बालूसाही – गुलाब जामन – बर्फी – लडडू ——————— दोनों जने चार रूपए का खानाा खा आए। दुकान से बाहर आकर दो–दो बीड़े मीठे पान। देहाती दुनिया के लिए चिरपरिचित "मोटर"

सिगरेट फूंकते हुए दानो जने रिक्शे पर सवार हुए, खांचे खुरखुन थामे रहा।"[53]

उपन्यास में यत्र–तत्र अच्छा व्यंग्य भी देखने को मिलता है। मंछुआ खुरखुन सोचता है – "हे भगवान कैसा जमाना आया है! पच्चीस करोड़–पचास करोड़ रूपइया लगाकर दस–पन्द्रह साल में कोसी–बांध तैयार होंगे, हजारों महावारी चारा पाने वाले पचासों आफीसर बहाल हुए हैं। लाखों के ठेके मिले हैं ठेकेदारों को। रात–दिन हवाई जहाज कोसी इलाके में मंडराते रहते हैं। पानी की तरह रकम बहाई जा रही है। फिर गरीब मजदूरों के साथ ही सुराजी बाबू लोग इस तरह का खिलवाड़ क्यों कर रहे हैं ऐसा अनर्थ तो न कभी सुना, न देखा ! हे भगवान, सृष्टि के इन्हीं तौर–तरीकों मेंतुम्हें अपने विधातापन का स्वाद मिलता है हिंद हितकारी समाज नहीं, पेट हितकारी समाज ! छी–छी–छी–छी––––––"[54]

उपन्यास में जितने भी पात्र हैं सभी यथार्थ जीवन से चुने गए हैं किंतु उनका चरित्र यथार्थवादी न होकर लेखकर की विचारधारा को मुखरित करने वाला बनकर रह गया है इससे उपन्यास में जो प्रभावोत्पादकता आनी चाहिए थी वह क्षीण हो गई हैं पात्र यंत्रवत हो गए हैं। "इसमें वर्ग संघर्ष का तो नागार्जुन ने यथार्थ चित्रण किया है, पर उनके सभी पात्र यथार्थवादी नहीं हैं। कुछ को वर्ग संघर्ष में ज़बरदस्ती घसीटा गया है, और उन पर प्रगतिशीलता का जामा पहना दिया गया है, वह स्वाभाविक नहीं आरोपित प्रतीत होता है।"[55] डा0 सुरेश सिन्हा का यह कहना उपयुक्त ही है।

मछुओं के जीवन से संबंधित जितने भी वर्णन हैं वे बड़े प्रभावकारी बन पडे हैं यथा जाल डालते समय का मछुओं द्वारा गाया जाने वाला यह लोकगीत ही नहीं है बल्कि उन्हें प्रेरणा देने वाला एक आंचलिक प्रयोग भी है – "ऊपरटान, हुइ यो ! बाएं दब के, हुइ यो ! ढील रस्सा, हुइ यो !"[56] इसी प्रकार मंगल–मधुरी का आदर्श, मंगल का परिवर्तित परिस्थितियों को अपनाना, मधुरी की विदाई का वर्णन विशिष्ट जनपद के जीवन की यथार्थ झलक प्रस्तुत करते हैं। नागार्जुन को निम्नवर्गीय समाज का पूरा–पूरा अनुभव है। उन्होने इस वर्ग के अभावों का मार्मिक चित्रण इसलिए अधिक सजीवता से किया है क्योंकि उन्हें इस वर्ग का निकट से परिचय प्राप्त है। यह निम्न वर्ग कष्टों को झेलते हुए भी नई आशा और विश्वास संजोए हुए है।

"दुखमोचन" में मिथिला अंचल के गांव टमका–कोइली के नवनिर्माण

की कथा अंकित की गई है। उपन्यास का नामकरण उसके नायक के आधार पर ही किया गया है। "इस उपन्यास की भी मूल समस्याएं उनके पिछले उपन्यासों की ही भांति हैं। वर्ग वैषम्य, सामाजिक असमानता, शोषण, अन्याय, उत्पादन पर अनाधिकार तथा पूंजी का दोषपूर्ण वितरण आदि के प्रति असन्तोष इस उपन्यास की मूल समस्याएं हैं, जिन्हें लेखक ने समाजवादी चेतना के अनुरूप वर्णन करने का यत्न किया है, जिसमें उसकी सजग सामाजिक चेतना एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है।" [57] यथार्थ का जो सजीव रूप "बलचनामा", "बाबा बटेसरनाथ" और "वरूण के बेटे" में मिलता है वह इस उपन्यास में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका कारण यह है कि उपन्यास का नायक आदर्शवादी पात्र है। वास्तविक जीवन में वर्तमान युग में ऐसे पात्र का मिलना अत्यन्त कठिन है।

टमका–कोइली गांव की मुसीबतों का चित्रांकन लेखक ने किया है। इस का नायक दुखमोचन स्वयं कष्ट में होते हुए भी दूसरों की सेवा में लगा रहता हैं पांच हजार की आबादी वाला यह गांव छोटी–छोटी कई बस्तियों का एक समूह हैं दुखमोचन इसी गांवी में पलकर बड़ा हुआ है। वह गांव के हर दुख दर्द को समझता है। गांव में कहीं मुसीबत पड़ी, किसी ने गुहार लगाई और दुखमोचन वहां हाजिर है। दुखमोचन ग्राम–सुधार और उसकी उन्नति का स्वप्न देखता है। उसका स्वप्न भारत के गांवों कें हो रहे नवनिमार्ण का स्वप्न है।

नागार्जुन के इस उपंनयास में मिथिला के गांवों का सूक्ष्मता से चित्रण किया गया है। गांव के स्त्री, पुरूषों की मनःस्थिति, उनकी पुरानी परम्पराएं, जमींदार किसान संघर्ष नई राजनीतिक चेतना आदि के साथ–साथ मिथिला की शस्य–श्यामला भूमि के प्राकृतिक दृश्यों का लेखक ने इतनी सजीवता से वर्णन किया है, पूरा ग्रामीण अंचल पाठक के सम्मुख साकार हो उठता है।

समाज के प्रति तथा व्यक्ति के संकुचित स्वार्थो के प्रति लेखक की दृष्टि व्यंग्यात्मक है। उन्होने कांग्रेस, समाजवादी तथा अन्य पार्टी के कार्यकर्ताओं की वैयक्तिक कमजोरियों का अधिकाधिक वर्णन किया है। नागार्जुन के ग्रामीण समस्याओं का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया है। ग्राम के किसानों की समस्याएं, आपसी फूट, विवाह के नियम के जड़बन्धन आदि का भी यथार्थ अंकन किया है। विधायक शुभंकर बाबू के लड़के के विवाह के बारे में सिंहासन कहता है – "भारी मालदार होंगे शुभंकर बाबू के समधी। हमारे सर्वोदयी विधायक महोदय ने अपने समधी की इस शाह खर्ची पर अंकुश नहीं डाला अजी दुखमोचन भाई, देखते

चलिए ! बहू जब शुभंकर बाबू की हवेली के अन्दर पैर रखेगी तो हजारा का सोना उस के बदन पर होगा ————" [58]

डा0 लक्ष्मी कान्त सिन्हा ने कहा है – "दुखमोचन यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करता है, किंतु नागार्जुन के अन्य उपन्यासों से इसमें रचनात्मक शक्तियों का सहानुभूतिपूर्वक प्रयोग किया गया है। उपन्यासकार किसी वाद या मत विशेष से प्रभावित न होकर तत्कालीन शासन–व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है।" [59] ग्रामीण अंचल के सजीव चित्र उपन्यास को आकर्षक बनाते हैं। अनेक स्थलों पर आंचलिकता का स्पर्श उपन्यास में मिलता है किंतु उपन्यास की भाषा आंचलिक नहीं है अन्यथा और अधिक प्रभाव छोडने में लेखक सफल होता।

"कुंभीपाक" की कथा ग्रामीण अंचल से हटकर शहर में आ गई है। शहर का चित्रण भी नागार्जुन ने उतनी ही सजीवता से अंकित किया है जितना कि ग्रामीण अंचल। उपन्यास में एक ऐसी नारी की कथा है जो उन्नीस वर्ष की आयु में विधवा हो जाती है। चार महीने का गर्भ गिराने के लिए वह किसी रिश्तेदार के साथ आसनसोल चली जाती है। वह रिश्तेदार भी उसे धर्मशाला में अकेली छोड़कर खिसक जाता हैं तब से दो वर्ष इन्दिरा ने कैसे काटे हैं, यह बात धरती जानती होगी या आसमान जानता होगा। इन दो वर्षों में वह कहां रही और लडकियों को बेचने वाली चम्पा के हाथ कैसे लगी इस बात का इतना महत्व नहीं है। महत्व तो इस बात का है किं कम्पाउण्डर की पत्नी निर्मला की मदद से वह उसके भाई–भाभी के पास पहुंच जाती है और पढ़–लिखकर एक नए जीवन का शुभारंभ करती है।

समाज में व्याप्त सड़ांध, अनाचार तथा भ्रष्टाचार का नग्न चित्र नागार्जुन ने कुंभीपाक में उपस्थित कर दिया है। महानगरों में रहने वाले व्यक्ति मकान मालिक के शोषण का शिकार होते हैं, एक चित्र दृष्टव्य है – "चालीस प्राणी थे, किरायेदार के छै परिवार। सभी धूप के लिए तरसते थे। मकान मालिक को कोसते थे। मकान के अगले हिस्से में सड़क के किनारे उसने दुकान के लायक तीन कमरे निकलवा लिए थे। एक में बुकसेलर, दूसरे में दर्जी, तीसरे में प्रोविजनस्टोर के प्रोप्राइटर के नाते वह खुद ही बैठता था। अन्दर वाली खोलियों से किराये के तौर पर दो सौ और दुकानों से नब्बे रूपए हर महीने आते थे।" [60] ———— "सीढ़ियों पर साया नहीं था, न रोशनी थी। सीढ़ियां हमवार होती सो भी नहीं। बच्चे ही नहीं, सयाने भी गिरते–पड़ते थे। मकान–मालिक

किराया–दोहन कला का आचार्य तो था ही, अपने को एक्जिक्यूटिव इन्जीनियरों का नाना समझता था।" [61] उपन्यास के प्रत्येक पृष्ठ पर आज के समाज की वास्तविक स्थिति का चित्रण है। उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय परिवारों की सजीव चर्चा होती है जिन्हें कम से कम आय पर छोटे से छोटे घर में अपनी अच्छाइयों और बुराईयों के साथ किसी तरह जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उपन्यासकार ने सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का चित्रण बड़ी सजीवता के साथ किया है।

हिन्दुओं में इक्कीस नरक माने जाते हैं। उन्हीं में से एक हैं कुंभीपाक नरक। इसी कुंभीपाक का चित्रण नागार्जुन ने पूरी सजीवता और वास्तविकता के साथ अंकित किया है। सामाजिक यथार्थ का यथातथ्य चित्रण करने में लेखक ने कोई कसर शेष नहीं रखी हैं समाज के शोषण करने वालों पर करारा व्यंग्य और कटाक्ष किया गया हैं – "सफेद पोश डाकू" रिक्शावाले ने थूककर कहा, "कसाई कहीं का! किस सफाई से गरीबों का गला काटता है। और अन्दर कुर्सी पर बैठकर नानी को फोन कर रहा होगा " ———————" अभी तुम बच्चा हो" चपरासी मुस्कराया, "अरे, इन्हीं कोठियों के अन्दर तो अन्याय पनाह लेता है आकर! सरकार अभी इन्हीं कोठियों और बंगलों में कैद है, उसे तुम तक पहुंचने में दस–बीस वर्ष लग जायेंगे अभी!" [62] रिक्शेवाले और मिनिस्टर के चपरासी के वार्तालाप द्वारा लेखक ने कितना करारा व्यंग्य किया है। समाज में विशेषकर बड़े–बड़े शहरों में "मन बोधन लाल अकेला नहीं, सैकड़ों मन बोधन लाल हैं और कार्पोरेशन की छत्रछाया में किरयेदारों का सत निचोड़ते जाना ही उनका खास पेशा है ————" [63]

सरकार के ऊपर भी बड़े पैने व्यंग्य उपन्यास में किए गए हैं यथा – "इस युग में हर भले आदमी की इज्जत भीख पर टिकी है। तरीके बदल गए हैं, भिक्षावृत्ति की व्यापकता तो कई गुनी अधिक बढ़ गई है —————— और मामी, मुझे बड़ी खुशी हाती है कि ब्राह्मणों का हमारा यह शानदार पेशा हमारी सरकार तक ने अपना लिया है। ————— पड़ोस की बच्ची तुमसे प्याज या हरी मिर्च मांगने आती है और तुमको बुरा लगता है! हमारी सरकार के कर्णधार छोटे–छोटे मुल्कों की सरकारों के सामने हाथ फैलाते हैं जाकर, सोचो तो उनको कैसा लगता होगा?" [64]

समाज में वासना के कीड़े कहां नहीं हैं न जाने कितनी उम्मी, उम्मी की मां और महिम छाए पड़े हैं। महिम के साथ अपनी वासना तृप्ति के क्षण, उम्मी की

मां को बीती याद आ रही हैं – "मैं चूड़ियों की खनखनाहट सुनती हूं और मेरे अन्दर की प्यासी चुड़ैल का जंगली नाच शुरू हो जाता है ——— मैं घात लगाए रहती हूं। उम्मी के सोते ही महिम को खींच लाती हूं अपने बिस्तर पर ——— फिर क्या होता है वासना की विकट आंच में झुलसी हुई राक्षसी उस मर्द को मथने लगती है ——— मथकर छोड़ देती है। ——— अतृप्त लालसा की यह ताण्डव लीला हर रात चलती है।" [65] ऐसे वर्णनों में घोर यथार्थ चित्रण है, पर किसी प्रकार की गंदगी नहीं है।

इस उपन्यास में, पुराने उपन्यासों की तरह प्रगतिशीलता और संघर्ष का स्वर जो पार्टी विशेष के झण्डे के साथ उभरकर आता रहा है, आकर लोप हो गया है। लेखकर ने यही अपने उद्देश्य को समाज की बदलती हुई परिस्थितियों में बदलते नैतिक मूल्यों, तथा नारी में हो रहे परिवर्तन को प्रगतिशीलता के साथ चित्रण करने तक सीमित कर दिया है। नारी की विवशता पर चम्पा का कथन कितना सत्य है – "मर्द जो लीक खींच देते हैं, हमारे लिए वही वज्रलेख हो जाता है। हमारी अकल गौरैया की तरह फुदक सकती है, दूर की उड़ान नहीं भर सकती।" [66]

नागार्जुन ने "कुंभीपाक" में नारी के नव जागरण का स्वप्न देखा है। ये "नारी आश्रम" अब उपयोगी नहीं रहे हैं। नारी जब तक स्वंय अपने पैरों पर खड़ी न होगी तब तक उसको इस कुंभीपाक से कैसे छुटकारा मिलेगा। आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक इन्दिरा को अपने उद्धार के लिए निर्मला का आश्रय मिल जाए। चम्पा ठीक ही कहती है – "अब तो ये आश्रम अनैतिकता के अडडे हैं – स्वार्थियों के अखाड़े! हमारी जैसी मूक असहाय बकरियों की ही नहीं, आप जैसे आदर्शवादी धर्मभीरू बैलों की भी बलि इन आश्रमों के अन्दर चढ़ती आई है। अब वक्त आ गया है कि इन आश्रमों के ढांचे हम बदल डालें ———" [67] इस प्रकार समस्त उपन्यास में सामाजिक यथार्थ और व्यंग्य के दर्शन होते हैं। उपन्यास में चित्रित यथार्थ समाजवाद का ही रूप है। लेखक ने नारी को आर्थिक रूप से स्वाबलम्बिनी बनने में उसके समस्त दुखों और समस्याओं का अन्त खोजा है जो कितना सत्य सिद्ध होगा यह आने वाला समय ही बतायेगा।

"हीरक जयन्ती" एक व्यंग्यात्मक उपन्यास है। हिंदी में इस प्रकार की व्यंग्यात्मक शैली में कम ही उपन्यास लिखे गए हैं। वर्तमान युग में नेता परस्ती का किस कदर बोल बाला है उसी पर उपन्यास में व्यंग्य किया गया है। हमारे

अधिकांश नेताओं काम मुख्य धर्म जनता को धोखा देकर अपनी जयन्तियां, उदघाटन, या अभिनंदन कराना ही रह गया है। आज का कलाकार हो या साहित्यकार, सभी ऐसे नेताओं की चापलूसी में लगे हुए हैं। इसके लिए भले ही उन्हें अपनी आत्मा का हनन कर आत्म प्रवंचना का शिकार ही बनना पड़े। "हीरक जयन्ती" में लेखक ने अपने तीखे तथा नुकीले व्यंग्य द्वारा नेताओं के रोचक एवं यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किए हैं।

केन्द्रीय सरकार के एक मंत्री को कलकत्ते के कुछ सेठों ने अभिनंदन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया है। इसी समारोह में बैठे–बैठे कवि मृगांक के मन में भी अपने प्रदेश के माल मंत्री बाबू नरपत नारायण सिंह की हीरक जयन्ती मनाने तथा उन्हें अभिनंदन ग्रन्थ भेंट करने की योजना उनके मस्तिष्क में आती है। माल मंत्री की प्रिय मंजुमुखी देवी, विधायिका तो खुशी के मारे दुहरी हो जाती है और इसे बाबूजी की नहीं, पूरे प्रदेश की हीरक जयन्ती की संज्ञा देती हैं। हीरक जयन्ती समारोह समिति का गठन होता है जिसमें पन्द्रह सदस्य रखे जाते हैं। उपन्यासकार ने पंद्रह सदस्यों के जीवन–परिचय में उनके काले कारनामें का पर्दाफाश किया है। समारोह की तैयारी के लिए समिति की बैठकों, समारोह के लिए धन एकत्र करने तथा सुप्त शैली में समिति के सदस्यों द्वारा अपने पूर्व जीवन के कारनामों की आत्म स्वीकृति दिखाई गई है। उपन्यासकार ने जयन्ती समारोह का बड़ा ही व्यंग्यपूर्ण विवरण दिया है। जयन्ती वाली रात को माल मंत्री की पुत्री अपने एक पुराने सहपाठी के साथ भाग जाती है।

कवि मृगांक के मस्तिष्क में हीरक जयन्ती की योजना आते ही उनके विचार कुलांचे मारने लगे – "मृगांक जी की निगाहें अपने नये निशाने पर जमीं हैं ––––––– बाबूजी को इक्यावन हजार की थैली। पंद्रह हजार अभिनन्दन ग्रंथ सोख लेगा। पांच हजार लग जायेंगे समारोह में। बची हुई निधि से एक–आध संस्था की बुनियाद डाली जायेगी। ललन जी को जंच जाय तो वह दिल खोलकर साथ देंगे। फिर रामसागर बाबू से कैसी घुटती है। बाबू गोपी वल्लभ ठाकुर को भी यह प्रस्ताव पसंद आयेगा। ये तीनों अपनी गुंजलक में समूची दतियां लपेट लेंगे –––––– लाख दो लाख क्या यह त्रिमूर्ति कहीं सचमुच भिड़ गई तो नम्बरी नोटों की वर्षा होने लगेगी और जादू सम्राट पी0 सी0 सरकार दंग रह जायेंगे।" [68] लेखक ने बड़े सुन्दर ढंग से कवि मृगांक जैसे लोगों का यथार्थ चित्र उजागर कर दिया है।

समारोह की समिति के सदस्य स्वयं में कितने पाक–साफ हैं। इस बात का पता सदस्यों के परिचय से मिलता है। "राजा रेवती रंजन प्रसाद सिंह– मजदूरों की मांगों को ट्रिब्यूनल के मर्तबान में डलवाकर उनका अचार डालना कोई आपके मिल मैनेजर से सीख जाये ! दो मजदूर नेताओं को आप के कर्मचारियों ने हमेशा के लिए लापता कर दिया है। बिनोवा जी आए तो पानी के अन्दर डूबी रहने वाली पांच बीघा जमीन का दानपत्र राजा सहाब ने सन्त के चरणों मेंअर्पित किया । ------ पीठ पीछे नेताओं को गालियां अब भी देते हैं।"[69] बाबू गोपी वल्लभ ठाकुर "दो बार डाका–कांड में ठाकुर जी की बन्दूक पकड़ी गई। गांजे के अवैध व्यापार का अन्यतम हीरो। बटाई जारी खेतों से किसानों को बेदखल करवाने का सिलसिला ठाकुर जी का अब भी जारी है।"[70] समिति के दो सदस्यों के परिचय से ही उनकी महानता का परिचय मिल जाता हैं यहां उपन्यासकार का व्यंग्य बड़ा तीखा हो गया है।

समिति के तीसरे सदस्य महन्त सीता शरणदास हैं जो "बेदखली के हीरो। किसानों और खेतिहरों के पक्ष में जो भी दो बात बोला, महन्त जी ने उसकी मरम्मत करवा दी। विरोधी दल के एक विधायक अपनी कटी बांह के चलते आज भी लोगों को महन्त जी की याद दिलाते हैं। -------- गांजा नहीं पीते हैं, लेकिन उसकी गन्ध अप्रिय नहीं है।"[71] इसी प्रकार रामसागर राय एम0 पी0, पण्डित शिवदयाल पाठक, एम0 एल0 ए0 बाबूराम प्यारे प्रसाद जैसे सभी चेहरे पाठक को जाने पहचाने से लगते हैं। हां इतना है आज उनके नाम कुछ और होंगे और स्थान कुछ और। श्रीमती मंजुमुखी जैसी महिलाएं भी आज की राजनीति में कम नहीं है। वह कहती है – "बाबूजी की दयादृष्टि से देवी जी का विकास अभिनेत्री के रूप में होने लगा – अभिनेत्री जी हां अभिनेत्री ! लेकिन फिल्म–लोक की नहीं सत्तारूढ़ राजनीतिक दल की अभिनेत्री ----- उसके भी विशेष गुट की, जिसके अन्यतम हीरो थे बाबूजी।"[72] मंजुमुखी देवी बाबूजी की आराधिका और स्नेह–भाजन हैं। समारोह में उनके यह कहने पर "आज मैं जो कुछ भी बाबूजी की कृपा का फल है।" हाल में भी व्यंग्य और हास्य की आभा बिखर जाती है लेकिन यह बात कटु सत्य को प्रकट करती है।

माल मंत्री नरपत नारायण सिंह अव्वल दर्जे के भ्रष्ट हैं। रानी भुवन मोहनी की मानसिक व्यथा ऐसी दूर की कि रानी जी ने आपके लिए कई बंगले बनवा दिए। कमेटी का जनरल सेक्रेटरी होने के नाते नरपत बाबू ने लोक सेवा

में एक नई परम्परा की शुरूआत की। कार्यकताओं को इस बात का प्रशिक्षण मिला कि अपढ़ देहातियों को पांच की रकम दो तो दस वाल रूक्के पर अंगूठे का निशान लो, तीस दो तो पचास का रूक्का बनवाओ। लोक सेवा का व्रत जिनकी रग–रग सोख चुका है, जिनके जीवन का दीप हमेशा औरों के लिए जलता रहा, ऐसे कार्यकर्ता निर्लिप्त भाव से यदि सार्वजनिक निधि में से सौ–पचास लेते चलें तो इसमें बुराई कैसी?[73] और अपने भाषणों में वे कहते हैं "शासन और सत्ता की जरा भी लालसा हमारे अन्दर नहीं है। हां, इस बात की लालसा जरूर है कि जनता–जनार्दन की सेवा के लिए अन्तिम क्षण तक हम अपने तन–मन का उपयोग कर सकें ------"[74] हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और वाली कहावत नेताओं के लिए सही सिद्ध हो रही है।

डा0 घनश्याम मधुप ने लिखा है – "नए समाज के इस नये उभरते वर्ग का यथार्थ चित्रण करने में लेखक को काफी सफलता मिली है। लेखक ने इस यथार्थ को नुकीले व्यंग्य बाणों और चुटीले हास्य से मर्मस्पर्शी तथा रोचक बना दिया है।"[75] नागार्जुन का यह उपन्यास निःसन्देह हास्य व्यंग्य शैली में लिखे गए उपन्यासों में सफल है। उपन्यासों में घटनाओं का क्रम ठीक न होने से प्रभावोत्पादकता में कुछ कमी आ गई है। "लेखक ने न कहीं कुछ छिपाने का प्रयत्न किया है, और न कुछ बढ़ा चढ़ाकर दिखाने का प्रयत्न किया है। यथार्थवाद की सत्यता से चित्रण करने वाला यह उपन्यास हिंदी के ऐसे इने गिने उपन्यासों में ही है।"[76] बाबूजी की पुत्री द्वारा लिखा गया पत्र नेतागण की आंखें खोल देने के लिए पर्याप्त है। माल मंत्री का यथार्थ चित्र भी मृदुला के पत्र से सामने आता है औार उसके पत्र की अन्तिम पंक्ति बड़ी व्यंग्यात्मक है – "आपकी हीरक जयन्ती हुई, मेरी यह ताम्र–जयन्ती सही।" वास्तव में पिता की हीरक जयन्ती और पुत्री की ताम्र जयन्ती दोनों ही जयन्तियां हमारे वर्तमान समाज का कटु सत्य है।

"उग्रतारा" नागार्जुन की एक सामाजिक यथार्थवादी औपन्यासिक कृति हैं इसमें एक ऐसी बाल विधवा की गाथा है जिसने परिस्थितियों के वश अपने पिता की उम्र के बराबर के सिपाही से विवाह कर लिया है तथा गर्भवती हो गई है। यही नारी उसके प्रेमी द्वारा आदर्श और साहस के साथ फिर से अपना ली जाती है। उपन्यास में प्राचीन जर्जर परम्पराओं के प्रति विद्रोह का स्वर निनादित हो रहा है साथ ही इन गली सड़ी परम्पराओं और रूढ़ियों को समूल नष्ट करने

का प्रबल आवेश है। समाज में व्याप्त व्यभिचार का यथार्थवादी चित्रण के साथ–साथ प्रगतिशीलता को भी इतने स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः कुछ भी थोपा हुआ सा प्रतीत नहीं होता है। प्रेमी और प्रेमिका यदि दोनों साहसी हों साथ ही दृढ़ आत्मविश्वास उनमें हो तो समाज की रूढ़ियां और बन्धन उन्हें रोक नहीं सकते।

उगनी भी विधवा है और कामेश्वर विधुर। पता नहीं किस प्रकार कामेश्वर के जीवन में उगनी का प्रवेश हो जाता है। दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। गांव से भागने पर पकड़े जाते हैं और सजा हो जाती है। सजा से मुक्ति पाकर उगनी को भभीखन सिंह का आश्रय मिलता है जो जेल में वार्डर है किंतु उसे "घरवाला तो जरूर मिल रहा था, पति नहीं मिल रहा था।" दोनों की उम्र में काफी अन्तर है अतः उगनी का भभीखन सिंह से विवाह होने पर भी वह उसे अपना नहीं पाती है। सहसा उगनी की खोज में आए कामेश्वर से उगनी की भेंट हो जाती हैं औरउगनी कामेश्वर के साथ एक नए जीवन का आरंभ करेने के लिए चली जाती है साथ ही कामेश्वर के पास पहुंचकर वह भभीखन सिंह का पत्र लिखती है। कृतज्ञता प्रकट करते हुए वह उसके बच्चे को समय आने पर लौटाने का वायदा भी करती है। उपन्यास में नायक द्वारा दूसरे के गर्भ को स्वीकार करना केवल भावुकता का कदम नहीं है, सोच–विचारकर किया गया कार्य है ऐसा कार्य जो समाज में क्रान्ति की प्रेरणा देता है।

नर्मदेश्वर की भाभी को उपन्यासकार ने प्रगतिशील चेतना के प्रहरी के रूप में चित्रित किया है। नर्मदेश्वर के यह कहने पर कि संकट के मुकाबले के लिए वह पिस्तौल लेना चाहता है, उसकी भाभी का यह कथन कितना उपयुक्त है – "पिस्तौल क्या करोगे छिछोरे मन का इलाज कारतूस की पेटियों से नहीं होगा। स्त्री–पुरूषों में समान रूप से समझदारी पैदा होगी और मनोरंजन के कई और साधन निकल आएंगे तभी व्यभिचार घटेगा। देहात में खाते–पीते परिवारों के अधेड़ भारी मुसीबत पैदा करते हैं। उगनी जैसी लड़कियों के लिए ज्यादा संकट उन्हीं की तरफ से आता है। दूसरा संकट है – डरपोक नौजवानों की छिछली सहानुभूति।" [77] यह आज के समाज का कटु सत्य है। जेल के भीतर और बाहर फैले भ्रष्टाचार का अंकन भी यथार्थ का दर्शन कराता है। "बहुत बड़ी रकम गबन करके पोस्ट आफिस का कोई बाबू इस जेल के अन्दर सजा काट रहा है। उसी के घर से पापड़ आते थे। पापड़ ही क्यों, अचार, मुरब्बे, अमावट,

ताल–मखाना, मेवे–मिठाइयां----- ढेर सारी चीजें इस बाबू के लिए बाहर से आती रहती हैं। जेलर से लेकर भंगी तक उस पतित का प्रसाद पाते हैं।" [78]

उपन्यास के पात्र चूंकि साधारण जीवन से चुने गए हैं अतः अधिकांश पात्र यथार्थवादी हैं। पूर्व लिखित उपन्यासों की तरह "उग्रतारा" में राजनीतिक प्रगतिशीलता के दर्शन नहीं हाते हैं जिसके लिए नागार्जुन पर प्रायः आरोप लगाया जाता है। भारतीय समाज की प्रमुख समस्या को लेखक ने एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। कामेश्वर और उगनी के माध्यम से आज के समाज में उभरती हुई नई चेतना का चित्रण लेखक ने सफलता से किया है। उगनी का देहात के बारे में यह सोचना गलत नहीं है – "देहात में रहना हो तो गुंडा बनो कामेश्वर ! गुंडों से दोस्ती करो, उन्हें खिलाओ–पिलाओ ! तुम उनका काम करो, वे भी तुम्हारा काम करेंगे ------" [79] उपन्यासकार ने उगनी और कामेश्वर के माध्यम से सामाजिक यथार्थ की कहानी बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की है। उपन्यास में दृश्य विधान बड़े यथार्थ, सजीव एवं मार्मिक हैं। उगनी के माध्यम से जिस समाज का चित्रण किया है, वह यथार्थ है।

"इमरतिया" की कथावस्तु का केन्द्र एक ऐसी भावुक युवती है जो साधु–सन्तों और अपराधियों के दुश्चक्र में फंस जाती है। लेखक ने बड़ी कुशलता से उन रहस्यों का उदघाटन किया है जो सामान्यतः हमारी दृष्टि में नहीं आ पाते हैं। सामाजिक यथार्थ को लेखक ने इसमें बड़े रोचक ढंग से और साहित्यिक संयम के साथ चित्रित किया है।

उपन्यास में चार प्रमुख पात्र हैं जो अपनी–अपनी बात स्वंय ही सुनाते हैं। पात्रों का अन्तर्द्वन्द उनके वास्तविक स्वरूप को खोलकर रख देता है। इस उपन्यास का कथानक नागार्जुन के जीवन की एक वास्तविक घटना पर आधारित है। उपन्यास में अभयानंद की पिटाई की गई थी, और वह अपने स्वाभिमान पर दृढ़ रहा। ठीक इसी प्रकार की घटना नागार्जुन के वास्तविक जीवन में घटित हुई है जिससे प्रेरित होकर ही लेखक ने जमनिया के बाबा के मुसलमान होने, नेपाल भाग जाने, वहां से आकर साधु के रूप में मठ चलाने, मठ को व्यभिचार का अडडा बनाने, जनता का शोषण और राष्ट्र विरोधी कार्यों का केन्द्र बनने की घटनाओं को जनता तक पहुंचाने के उद्देश्य से ही "इमरतिया" की रचना की है।

इमरतिया जैसी युवती साधु–सन्तों के बीच में फंसकर इतनी विवश है

कि वह स्वंय की तुलना भिखारिन से करने लगती है – "उस औरत में और मुझ में क्या फर्क है? मैं भी दूसरों का दिया हुआ खाती हूं। वह भी दूसरों का दिया हुआ खाती है। ------ हां, एक बात है। इसे रोज रोज भीख मांगनी पड़ती है, लेकिन मैं कहीं किसी दरवाजे पर मालिक या मालकिन को पुकारने नहीं जाती हूं। मैं लम्बे अरसे के लिए पालतू बना ली गई हूं।" [80] यह इमरतिया की वास्तविक स्थिति ही तो है। रसोइये को देखकर उसके मन मे वासना का भाव उठना अस्वाभाविक नहीं है बल्कि मनोवैज्ञानिक सत्य ही है – "महाराज की जांघ दिमाग के चकले पर बेलन की तरह फिर रही है। महाराज का चौड़ा सीना और चौड़ा होकर मेरी छाती से सट जाएगा ------ जाग रही हूं कि सपना देखने लगी हूं।" [81] मठ में कितने घिनौने कार्य किये जाते हैं उस भ्रष्टाचार का पता इमरतिया के अन्तर्द्वन्द से चलता है – "बेचारी लक्ष्मी। तूने जहर खाकर इस नरक कुण्ड से छुटकारा पाया था न तेरा छः महीने का बच्चा टुकड़े–टुकड़े करके अग्निकुण्ड के हवाले कर दिया गया। अपने लाड़ले को तू बचा न सकी ------ लोगों को इतना भर मालूम है कि जमनियां के मठ की एक सधुइन, लक्ष्मी जहर खाकर मर गई।" [82]

मठ में फैले भ्रष्टाचार और अपराधवृत्ति का लेखक ने पर्दाफाश करने में कसर नहीं उठा रखी है। ये मठ भोली–भाली ग्रामीण जनता को लूटने के अडडे मात्र हैं। कौन सा ऐसा कुकर्म है जो यहां नहीं होता है। और यदि किसी बात का राज खुलने की आशंका हो तो गौरी जैसी अवधूतिनें वहां रहती हैं – "लक्ष्मी के बच्चे की बलि पड़ी तो बाद में लोग डर गए। अफवाह उड़ी कि भरतपुरा का थानेदार तहकीकात के लिए जमनियां पहुंचने वाला है -------- अंत में हुआ यह कि भगौति खुद ही गौरी को साथ लेकर थानेदार की सेवा में पहुंच गए। दोनों चार दिन भरतपुरा रहे। पांचवें दिन खुशी–खुशी लौट आए।" [83]

हिंदू धर्म में अनेक पाखंडी लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए तरह–तरह के ढोंग रख्ते हैं। बाबा का हिंदू समाज के लिए इस प्रकार कहना सत्य ही है – "मेरी पक्की राय है कि हिन्दुओं जैसी लचकीली तबीयत दुनियां की और किसी जाति को नसीब न हुई। नेक, रहम दिल, सहनशील, समझदार हिन्दू समाज बरगद का वह बूढ़ा झमाटदार पेड़ है जिसकी टहनियों से हजारों चमगादड़ लटके रहते हैं, जिसकी छाया में हाथी, ऊंट और बैल साथ–साथ जुगाली करते हैं। कुत्ते, गधे, कछुए सबकी गुंजाइश रहती है।" [84] यही स्थिति

आज के हिंदू समाज की है।

आज देश में निम्न जाति समझे जाने वाले हिन्दुओं के प्रति भेदभाव के कारण एकता समाप्त होती जा रही है। उच्चवर्ग द्वारा हरिजनों को निम्न समझना उनमें असंतोष और विद्रोह को जन्म देता है। ऐसे हिंदू धर्म से क्या लाभ? वे धर्म–परिवर्तन करके इसाई क्यों न बन जाएं? मस्तराम के मुख से नागार्जुन के विचार आज की जाति व्यवस्था पर सीधा प्रहार करते हैं – "जा तू भी ईसाई बन जा ! अगर ऊंची जाति वालों की विस्ठा से छुटकारा चाहता है तो महाप्रभु ईसा मसीह की छत्रछाया में चला जा। भाग जा यहां से। मेरे कहे मुताबिक अगर कल तू ईसाई हो जाएगा तो फौरन तकदीर ऊंची उठ जाएगी, तेरा गोत्र ऊपर उठ जाएगा –––––" [85] निम्नवर्ग के लोग धर्म परिवर्तन करके क्यों न ईसाई या मुसलमान बनकर सम्मान प्राप्त करें? क्यों वे उच्चवर्ग द्वारा दुतकारा जाना सहन करें? ये गंभीर प्रश्न आज के समाज के सामने है जो लेखक ने उठाये हैं।

लेखक ने समाज में व्याप्त अंध श्रद्धा जैसी बुराइयों का यथार्थ चित्रण किया है – "मुसहर जाति की एक जवान औरत एक बार अड़ के बैठ गई कि मस्तराम कम से कम पचीस बार उसकी पीठ पर बेंत फटकारें। मस्तराम ने उसकी पीठ पर, चूतड़ों पर जांघों पर जमकर बेंत फटकारी। ––––– औरतिया बड़ी खुश थी और जमनिया के हमारे दरबार में पांच रोज रही। अगले वर्ष बच्चा लेकर मेरे पैर छूने आई थी।" [86] इन ढोंगी साधुओं की निरर्थकता और व्यर्थता नागार्जुन ने सिद्ध कर दी है। लेखक ने यह दिखाया है कि हमें आज समाज पर भार बनने वाले साधु नहीं चाहिए बल्कि जनता में राष्ट्–प्रेम, एकता का प्रसार करने वाले लोगों की आवश्यकता है जो राष्ट्र विरोधी खतरे का सामना करने के लिए तैयार रहें। इस प्रकार "इमरतिया" एक यथार्थवादी उपन्यास सिद्ध होता है जिसमें समाज में फैली बुराई, अंधविश्वास तथा भ्रष्टाचार का तो पर्दाफाश किया ही गया है साथ ही स्वामी अभयानंद के माध्यम से एक नए समाधान की पृष्ठभूमि भी मिलती है।

नागार्जुन के उपन्यासों में जो यथार्थ प्रस्तुत किया गया है उसमें कोरी कल्पना या अवास्तविकता के दर्शन नहीं होते। यथार्थ और व्यंग्य का जो स्वरूप उनके उपन्यासों में है वह समाजवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। काव्य के क्षेत्र में नागार्जुन के व्यंग्य बड़े पैने और तीखे हैं, उपन्यास के क्षेत्र में भी उनके व्यंग्यों की धार कुण्ठित नहीं हुई है। उनमें वही पैनापन और तीखापन विद्यमान

है। इतना अवश्य है कि लेखक ने कहीं–कहीं राजनीतिक मतवादिता से प्रभावित होकर तत्कालीन सरकार पर कटु प्रहार किए हैं। नागार्जुन एक श्रेष्ठ व्यंग्यकार हैं इसमें कोई संदेह नहीं है।

संदर्भ

1 – डा0 त्रिभुवन सिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ0 43–44
2 – प्रेमचंद : साहित्य का उद्देश्य, पृ0 58
3 – डा0 रामदरश मिश्र : हिंदी उपन्यास, पृ0 34
4 – कुछ विचार, पृ0 72–73
5 – काव्यकला और अन्य निबन्ध, पृ0 120
6 – प्रेमचंद : साहित्य का उद्देश्य, पृ0 57
7 – डा0 रामदरश मिश्र : हिंदी उपन्यास, पृ0 42
8 – डा0 त्रिभुवन सिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ0 66, 9 – वही, पृ0 67
10 – आलोचना (1952)
11 – स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में व्यंग्य, पृ0 17
12 – निराला : जीवन और साहित्य, पृ0 76
13 – हास्य के सिद्धान्त और मानस में हास्य, पृ0 101
14 – नागरी प्रचारिणी पत्रिका : (बेढब बनारसी अंक), जनवरी, 1969, पृ0 22
15 – सदाचार का ताबीज (कैफियत), पृ0 10
16 – रतिनाथ की चाची, पृ0 28, 17 – वही, पृ0 85
18 – वही, पृ0 133, 19 – वही, पृ0 68, 20 – वही, पृ0 33
21 – वही, पृ0 54–55, 22 – वही, पृ0 58, 23 – वही, पृ0 127
24 – वही, पृ0 110, 25 – वही, पृ0 129
26 – डा0 सुषमाधवन : हिंदी उपन्यास, पृ0 304
27 – इन्द्रनाथ मदान : आज का हिंदी उपन्यास, पृ0 47
28 – हिंदी उपन्यास साहित्य का उदभव और विकास, पृ0 303
29 – बलचनमा, पृ0 5, 30 – वही पृ0 19
31 – वही, पृ0 65, 32 – वही, पृ0 102, 33 – वही, पृ0 195
34 – आज का हिंदी उपन्यास, पृ0 46
35 – हिंदी उपन्यास, पृ0 303
36 – डा0 सुरेश सिन्हाः हिंदी उपन्यास उदभव और विकास, पृ0 512

37 – डा0 सुषमाधवन : हिंदी उपन्यास, पृ0 307
38 – नई पौध, पृ0 15, 39 – वही, पृ0 18
40 – वही, पृ0 9, 41 – वही, पृ0 14, 42 – वही, पृ0 98
43 – वही, पृ0 130–31, 44 – वही, पृ0 103
45 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 124, 46 – वही, पृ0 127
47 – वही, पृ0 117, 48 – वही, पृ0 50–51, 49 – वही, पृ0 54
50 – हिंदी उपन्यास उदभव और विकास, पृ0 513
51 – वरूण के बेटे, पृ0 14, 52 – वही, पृ0 22
53 – वही, पृ0 18, 54 – वही, पृ0 46
55 – हिंदी उपन्यास उदभव और विकास, पृ0 513
56 – वरूण के बेटे, पृ0 70
57 – डा0 सुरेश सिन्हा : हिंदी उपन्यास उदभव और विकास, पृ0 513–14
58 – दुखमोचन, पृ0 89
59 – हिंदी उपन्यास साहित्य का उदभव और विकास, पृ0 309
60 – कुंभीपाक, पृ0 5, 61 – वही, पृ0 7
62 – वही, पृ0 37–38, 63 – वही, पृ0 66, 64 – वही, पृ0 74
65 – वही, पृ0 78, 66 – वही, पृ0 95, 67 – वही, पृ0 127
68 – हीरक जयन्ती, पृ0 3–4, 69 – वही, पृ0 16–17
70 – वही, पृ0 17, 71 – वही, पृ0 17–18, 72 – वही, पृ0 21
73 – वही, पृ0 117, 74 – वही, पृ0 129
75 – हिंदी लघु उपन्यास, पृ0 159
76 – डा0 सुरेश सिन्हा:हिंदी उपन्यास और विकास, पृ0 515
77 – उग्रतारा, पृ0 36, 78 – वही, पृ0 15, 79 – वही, पृ0 103
80 – इमरतिया, पृ0 6, 81 – वही, पृ0 22,
82 – वही, पृ0 24, 83 – वही, पृ0 28 – 29, 84 – वही, पृ0 62
85 – वही, पृ0 52, 86 – वही, पृ0 61

5.

नागार्जुन के उपन्यासों की भाषा और शिल्प

उपन्यासों की भाषा -

मानव के विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम माध्यम भाषा है। भाषा मानव की सामाजिकता को पुष्ट करती है। उपन्यास को "मानव चरित्र का चित्र–मात्र" [1] माना जाता है। अतः उपन्यास के लिए ऐसी भाषा की अवश्यकता होती है, जो सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य हो। भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा लेखक अपने विचारों और भावों को सहृदयों तक संप्रेषित करता है। अन्य विधाओं की अपेक्षा मानव–जीवन के विविध रूपों को चित्रित करने का अवसर उपन्यास में अधिक रहता है। उपन्यास में लेखक के सम्मुख जीवन के व्यापक चित्रण का उद्देश्य होता है। जीवन का यह व्यापक चित्रण उतना ही अधिक स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक होगा, उपन्यास की भाषा जितनी स्वाभाविक और सरल होगी। उपन्यास ही नहीं किसी भी साहित्यिक कृति की सफलता में भाषा का विशिष्ट महत्व होता है। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उन्होने अपने उपन्यासों में सुलभ सजीव, प्रभावात्मक एवं चुटीली भाषा को अपनाया।

भाषा–तत्व का उपन्यास की सफलता में विशिष्ट योगदान होता है। "उपन्यास की भाषा में कुछ तत्व ऐसे होते हैं, जो उसे जीवन की गंभीरता के अनुरूप बनाते हैं। उपन्यास की भाषा में न कहानी की सी क्षिप्रता और त्वरित गति होती है और न निबंध की सी शिथिलता ; न कविता की सी भंगिमा और रसमग्नता होती है और न नाटक की सी वार्तालाप शैली ; उपन्यास में ये सभी गुण समन्वित होकर रहते हैं।" [2]

यद्यपि उपन्यास में कथा की प्रमुखता होती है, किंतु कथा में सरसता और रोचकता के लिए यह आवश्यक है कि उस की भाषा सरल, मौलिक और प्रभावपूर्ण हो। "साहित्य में भावों और विचारों की मौलिकता मिलनी तो अत्यंत कठिन है, अभिव्यक्ति को ही आजकल मौलिकता माना जाता है। अभिव्यक्ति की मौलिकता केवल भाषा–शैली की मौलिकता ही है।" [3] अतः भाषा–तत्व में निपुणता उपन्यासकार के लिए अनिवार्य है। उपन्यासों में प्रायः ऐसी भाषा को अच्छा माना जाता है जो मुहावरेदार, प्रवाहपूर्ण, सरल एवं सरस हो। संस्कृतनिष्ठ, बोझिल एवं गंभीर भाषा उपन्यास के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती है।

नागार्जुन जन–जीवन के एक लब्धप्रतिष्ठ एवं कुशल चितेरे हैं। उनके उपन्यासों भाषा–तत्व की विशिष्टता ही उनकी लोकप्रियता का प्रमाण है। उनकी औपन्यासिक यात्रा को पिछले अध्याय में हमने दो भागों में बांटा है – प्रथम 1947 से 1960 तक तथा द्वितीय 1961 से 1998 तक। भाषा पर विचार करने का आधार भी यही उपयुक्त प्रतीत होता है। 1947 से 1960 तक के उपन्यास, जिनमें "रतिनाथ की चाची", "बलचनमा", "नई पौध", "बाबा बटेसरनाथ", "दुखमोचन" तथा "वरूण के बेटे" प्रमुख हैं, आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। अतः इन आंचलिक उपन्यासों की भाषा 1960 के पश्चात लिखे गए अन्य सामाजिक और राजनीतिक उपन्यासों से भिन्न है। 1960 के बाद के उपन्यासों में "उग्रतारा", "हीरक–जयन्ती", "इमरतिया" तथा "कुंभीपाक" मुख्य हैं। अतः नागार्जुन के उपन्यासों की भाषा का अध्ययन हम दो वर्गों में करेंगे –

(1) आंचलिक उपन्यासों की भाषा
(2) आंचलिकेतर उपन्यासों की भाषा

नागार्जुन ने अपने आंचलिक उपन्यासों में उस अंचल को लिया है, जो बिहार राज्य के अंतर्गत मिथिला क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। इस अंचल की भाषा मैथिली है अतः उनके आंचलिक उपन्यासों की भाषा पर मैथिली का प्रभाव

है। अन्य उपन्यासों में "उग्रतारा", "इमरतिया" और "कुंभीपाक" की भाषा अपेक्षाकृत परिष्कृत और प्रभावपूर्ण है पर "हीरक जयन्ती" की भाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य होने के कारण, भाषा मेंबोझिलता आ गयी है।
इस पर हम सविस्तार यहां विचार करेंगे।

(क) आंचलिक उपन्यासों की भाषा -

सामान्य उपन्यास और आंचलिक उपन्यास की भाषा में प्रमुख अंतर भाषा–प्रयोग के रूप का हैं सामान्य उपन्यास की भाषा जन साधारण की भाषा होती है परन्तु आंचलिक उपन्यास की भाषा जन सामान्य की भाषा होते हुए भी आंचलिक रंग में रंगी होती है : अर्थात आंचलिक उपन्यासकार एक ओर आंचलिक रूपों का समावेश कर कथा कहता है तो दूसरी ओर घटनाओं और चरित्रों का विश्लेषण भी करता है। आंचलिक उपन्यास में उपन्यासकार पात्रों में से एक बनकर उपस्थित होता है।[4] आंचलिक उपन्यासों में उपन्यासकार भाषा और वार्तालाप के अन्तर को मिटा देता है। जिससे भाषा अंचल के और अधिक समीप प्रतीत होती है।

प्रायः आंचलिक उपन्यासों की भाषा पर क्लिष्टता का आरोप लगाया जाता है। यद्यपि यह आरोप आधारहीन नहीं है किन्तु इस क्लिष्टता के लिए उपन्यासकार को दोष नहीं दिया जा सकता है क्योंकि वह अंचल की समग्रता को प्रस्तुत करने का उद्देश्य अपने सामने रखकर चलता है और भाषा में उतनी गहराई लाए बिना वह आंचलिकता की सम्पूर्णता को उद्घाटित नहीं कर सकता। जीवन जितना विशिष्ट होगा, उपन्यासकार को भाषा को भी उसी अनुपात में विशिष्ट बनाना होगा। नागार्जुन की भाषा में रेणु जैसी क्लिष्टता तो नहीं है, पर कहीं–कहीं उनका कवि हृदय भाषा में काव्यत्व को प्रस्तुत कर ही देता है।

नागार्जुन के उपन्यासों में आंचलिकता की सृष्टि वातावरण, कथा तथा अनेक लोक उपादानों के माध्यम से की गई है। उपन्यासकार ने अंचल विशेष की समग्रता को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। शब्दों के लोक प्रचलित रूपों, आंचलिक भाषा (मैथिली) के शब्दों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों आदि के विस्तृत प्रयोग द्वारा लेखक ने आंचलिकता के हल्के–गहरे रूप प्रस्तुत किए हैं। इस प्रयत्न में शब्दों के विकृत–रूप प्रभाव–प्रवणता की दृष्टि से अपना विशिष्ट

स्थान रखते हैं। उदाहरण के लिए "बलचनमा" की भाषा इसी प्रकार की है – "मेरी कमर में फटी सी मैली सी बिस्टी झूल रही थी। बिस्टी न तो लंगोटी है न कच्छा, कपड़े के लीरे को अगर तुम कौपीन की भांति पहन लो तो हमारे यहां बिस्ठी कहलायेगी। मलिकाइन ने बिस्टी की ओर इशारा करके कहा – कपड़ा – वपड़ा हमसें नहीं पर लगेगा। यह सुनकर दादी ने दांत निपोड़ दिये। चेहरे की झुर्रियों और लकीरों में बल पड़ गया। दोनों हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाई – "क्या कमी है, मलिकाइन आप लोगों केयहां? आप ही का तो आसरा है, नहीं तो हम जनमते ही बच्चों को नमक न चटा दें ! अरे, अपना जूठन खिलाकर, अपना फेरन–फारन पहना कर ही तो हमारा पर्तपाल करती हैं ––––––––" [5]

इस प्रकार के अनेक स्थल "बलचनमा" में हैं। नागार्जुन ने शब्दों के लोक प्रचलित रूपों को सामान्य शब्दों के साथ मिला कर आंचलिक भाषा का निर्माण किया है। ये लोक प्रचलित–रूप शब्दों के विकृत रूप ही हैं जिनके विकार पर लोक रंग का प्रभाव दिखाई देता हैं उपन्यास में लेखक ने आंचलिक भाषा के अनुरूप ही शब्दों में विशिष्ट परिवर्तन कर दिया है –

"शंकर बाबू ने दूसरी तीसरी दफे पेटमैन से पूछकर मन को पक्का किया कि आधा घंटा और बाकी है तब स्टेशन से बाहर निकलकर पुल के पार एक बाग में पहुंचे और आम की तीन दतुनवें तोड़ लाए। –––––– तार सराय में शंकर बाबा ने इक्का ठीक किया। इक्केवान ने उस पर बांस की दो कैनी लगाकर और ऊपर से बड़ी सी चादर डालकर तम्बुआ बनाया फिर, पर्दा का इन्तजाम हो जाने पर, चाची इक्के पर बैठ गई।" [6]

"रानी छाप के दो सौ नगद रूपये, सौ मन कनक–जीरा चावल, पन्द्रह मन अरहर की दाल, दो मन घी, पांच मन ननगिलाह (लांग क्लाथ), इतना सब सामान लेकर मेवालाल ठाकुर शुभंकरपुर आये थे शादी करने। बारात में कुल चार आदमी थे एक खवास था। गरीब ब्राह्मण के घर को ठाकुर जी ने भर दिया। गहनों से सुमित्रा लद गई। खानदान के पांचों घर की औरतों को एक–एक बिसहत्थी साड़ी मिली थी।" [7]

"कागज–पत्तर, दस्तावेज–तमस्सुक, हिंदलोट (हैंड नोट) वगैरह जिस संदूक में रखे हैं, उसकी चाबियों का गुच्छा किसके जिम्मे है। –––––––– बाप रे ! किसका मज़ाल है जो फलां बाबू के बारे में इतनी बातों का पता लगावे लेकिन नहीं, है एक बहादुर ! घटकराज मटुकधारी पाठक !! अ हा हा हा !!! " [8]

"रतिनाथ की चाची" "बलचनमा" "बाबा बटेसरनाथ" "नई पौध" "दुखमोचन" तथा "वरूण के बेटे" मिथिला अंचल को केन्द्र बनाकर लिखे गए हैं। अतः इन समस्त उपन्यासों की भाषा पर मैथिली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। विवरण और विश्लेषण के अवसर पर भी उनकी भाषा आंचलिक शब्द–रूपों के प्रयोग से स्वाभाविक बन गई है। उनके उपन्यासों से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

"उस लाट फारम पर जब हम पहुँचे तो गाड़ी खड़ी थी। कुली ने सामान भीतर रख दिया। मालिक ने कहा – बैठ बलुआ, मैं चाह पीकर आता हूं। वह गये चाह पीने, मैं चाह से अनजान नहीं था, क्योंकि मेरा बाप ढाका–कलकत्ता घूमा हुआ था। घर पर कभी सरदी–खोंखी होती तो चाह बनवाकर पीता था। चीनी न हुआ तो गुड़ ही सही। दादी को एक बार खांसी हुई जोरी की, तो मीठा के बदले नोन डालकर उसने चाह बनवाई।" [9]

"हिलती–डुलती गाड़ी में ऐसा लग रहा था कि मलिकाइन के बाग में मचकी (झूला) झूल रहा हूं। नीचे, पैर के बिल्कुल नीचे रेल के पहिये हड़ाक–हड़ाक कर रहे थे। जुड़े हुए डब्बे ढब्बर– ढब्बर बोल रहे थे। ऐंजन झज्झ काली, झज्ज काली करती चली जा रही थी। खूब हचकोले लग रहे थे। झूले का मजा आ रहा था। पलकें सौ सौ मन की भारी हो उठीं। आंखें झिपतीं तो झिपतीं ही नहीं। मेरा मथा फूल बाबू को केहुन से उठंग गया । मैं सो रहा।" [10]

"दूल्हें की पलकें तनिक झिप आई थीं, सो पाय की रूनझुन और गहनों की खनखनाहट से चंचल हो उठी। अगहन का उजेला पाख। रात डेढ़ पहर से ऊपर नहीं हुई होगी। बाहर साफ और सुहावनी अंजोरिया का राज था। जंगल की किवाड़ियां डेवढ़ लगी थीं, उनके फांकों से होकर हेमंती ओस की जुहिया नमी भीतर पहुंच रही थी – मिठास भरी सर्दबाला तरूण समीर इस काम में उनकी मदद कर रहा था।"[11]

"मामी की आंखें छलछला आई, रूआंसी आवाज में कहने लगीं – तुम्हें मार डालेंगे इस गांव के लोग! दुनिया भर की मुसीबतें अपने सिर पर ढोए चलते हो ------------ बोटी–भर की मांस है ठठरी पर और रावन–अहिरावन से कुश्ती लड़ेंगे! -------- कैसे कुठांव पर राक्षस ने मारा है ------ राम राम राम राम ---------" [12] इस उदाहरण से अंचल के प्रचलिए शब्दों "ढोए" "बोटीभर" "ठठरी" "कुठांव" आदि के प्रयोग से भाषा में सजीवता आ गई है।

आंचलिक भाषा की दृष्टि से "वरूण के बेटे" नागार्जुन के सभी उपन्यासों में इक्कीस ही सिद्ध होता है। मछुओं के जीवन पर आधारित इस उपन्यास में लेखक ने सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। ऐसा लगता है मानो कोई मछुआ ही उपन्यास में स्वंय बोल रहा हो।

"लाल–लाल मुंह वाले रेहू अपनी रूपहली और सुरमई छिलकों से खूब ही फब रहे थे। दांत नहीं, जीभ नहीं, जबड़े भी अलक्षित थे। गोल–मोल खुला–खुला मुखड़ा ऐसा लगता कि पेट तक खोली ही खोली होगी। इन्द्र धनुषी सूरत, एक–एक बेहद नुकीली मूंछें और लम्बी–छरहरी डील की अपनी खूबियों से बुआरी मछलियां सबको आकर्षित कर रहीं थीं। मटमैली चिकनी सूरत वाले भाकुरों की शान निराली ही थी। चिकन, चपटी रूपहली मोदनी पर तो निगाहें टिकती ही नहीं थीं। भुन्ना का भी यही हाल था। नैनी रेहू का ही सगा लगता था, आकर–प्रकार में मिलने पर भी वजन में कम।"[13]

मछलियों के बारे में सब की अपनी–अपनी पसन्द है। दारू ताड़ी के नशे में मस्त भोला प्रायः गा उठता –

"मुंगरी को मात करती है मेरी प्यारी
वो रंगत और वो चिकनापन
कहां से लाएगी मुंगरी बेचारी
मात करती है मुंगरी को मेरी प्यारी
मेरी जान! मेरी जान! मेरी जान
निछावर है तुझ पे भोला के परान!!"[14]

अर्थात अपने बाल्यकाल से ही भोला को मुंगरी मछलियों की छवि–छटा बहुत पसंद थी और पत्नी उसे मिली तो उसका रंग भी मुंगरी मछली के समान ही था। मछलियों की प्रत्येक किस्म लेखक ने लगभग स्थान–स्थान पर गिनवा दी है पर भाषा को इस रूप ढंग से संवारा है कि उससे आंचलिकता में वृद्धि हो होती है। मछुओं के परिवार की झलक इस प्रकार प्रस्तुत की गई है –

"सूखी–पुरानी कड़कदार फूस हो तो छुआते ही आग भभक उठती है और चूल्हा हंसने लगता है। बरसात में मौसम में चूल्हा रूठता है तो फिर फूस ही उसे मनाती है। मगर यह फूस आवे तो कहां से या तो घर के छप्परों में नोंची जाए या पिलानी से खींची जाए या फिर घिरावे की टटटर से ––––– मछलियां एक तरफ रखकर तीरा गुम–सुम खड़ी रही। कहां से मूंठ भर फूस लाकर वह बहन

को दे।"[15]

उपन्यास में भाषा का प्रवाह सर्वत्र बना रहता हैं मछुओं के वार्तालाप एवं उनके अन्य कार्यकलापों का चित्रण करते समय भाषा भी उसी प्रकार की हो गई है। कुल मिलाकर यह लगता है कि उपन्यासकार एक–एक करके यथार्थ चित्रों का निर्माण कर रहा है।

"बाबा बटेसरनाथ" में ग्रामीणों के मध्य फैले अंधविश्वास, और रीति–रिवाजों का सुन्दर चित्रण किया गया है – "जैकिसुन ने हाथ बढ़ाकर सुपारी ले ली और पूछा– कौन आसरम हैं भाई सहाब आप बैठिए, जरा सुस्ता लीजिए। राहगीर ने बताया, वह केवट है। उसके चाचा ने कसाई के हाथ अपना बूढ़ा बैल बेच डाला है। गांव के लोगों को मालूम हुआ तो खुसुर–पुसुर होने लगी। पंचों ने कहा परास्चित लगेगा अगर बैल नहीं लौटा तो ––––– वह जा रहा है बैल वापस लाने। दिन बड़ा तपता है आजकल, रात के वक्त चला है और सुबह ठंडे–ठंडे में लौट आएगा। बैठेगा तो अलसा जाएगा ––––––––।"[16]

आंचलिक उपन्यासों में नागार्जुन प्रायः भावुक हो उठते हैं और उनका कवि रूप प्रकट हो जाता है परिणामस्वरूप भाषा भी ऐसी लगने लगती है जैसे कोई गद्यगीत हो ––––––" काले पाख की दशमी तिथि का अधूरा पिलपिला चांद निकल आया था। तारे अब भी ढीठ बने हुए थे। अपनी–अपनी शान से चमक रहे थे। गरोखर की हल्की–हल्की पतली–पतली भाप ऊपर उठकर पूस के उन कुहासों को घना बना रही थी।"[17]

"झींगुरों की अविराम झंकार पृष्ठभूमि में शहनाई का काम कर रही थी। रात बढ़ रही थी। चांद चढ़ रहा था। मां से बिछुड़ा हुआ कोए का एक बच्चा कच्ची आवाज में कांव–कांव कर उठा तो मधुरी सचेत हुई।"[18]

उपन्यासकार और कवि दोनों रूपों में एक साथ अभिव्यक्त होते हुए भी नागार्जुन की भाषा स्वाभाविकता का आंचल नहीं छोड़ती। ऐसी भाषा के कुछ चित्र प्रस्तुत हैं –

"जेठ की पूनम क्या बरसा रही थी, गाढ़ा कढ़ा दूध बर्फ की तरावट लेकर भूतल को शीतल बना रहा था। दिन की झुलसी हुई प्रकृति इस अमृत–वर्षा में जुड़ा रही थी।"[19]

"चिन्ता और शोक के मारे मैं सूखने लगा। टेसू निकलते जरूर मगर अगले ही दिन जली हुई मूंगफली की शक्ल के हो जाते। नये पत्तों की लाली

जाने कौन पी गया! बाकी पत्ते हरियाली के लिए तरसा करते, अकाल की कृपा से भूरा–पीला और चितकबरा बदरंग उनके रेशों पर हावी हो आया। छालें सिकुड़ गयीं, तनें अकड़ गए। डालों को सूखा सताने लगा, टहनियां ठिठक गई। जड़ के सिरे और सोर लाख कोशिश करके भी धरती माता से कुछ अधिक रस नहीं पा रहे थे।" [20]

"दुखमोचन" में भी लेखक ने कवित्वपूर्ण भाषा का प्रयोग आंचलिकता की रंग गरिमा के साथ किया है – "उजली पंचमी का तिहाई चांद कब का डूब चुका था। बैठक वाले पक्के मकान के बरामदे में लालटेन की धीमी रोशनी ऊंघ रही थी। सीढ़ियों के दोनों ओर रात–रानी की घनी झाड़ें थीं, उनसे उलझ–उलझकर मद्धिम प्रकाश आंगन की सफेद मिट्टी पर चितकबरी परछाई बना रहा था।" [21]

"कुंए के आगे मचान पर सफेद और बैंगनी सेम की बेलें लतरी हुई थी। पत्तों, फूलों और फलियों से लता–वितान ढका पड़ा था। जरा हटकर क्यारियों में पात–गोभी के बीसएक मुकुटनुमा पौधे इठला रहे थे। बैंगन के बौने झाड़ों पर बुढ़ापा उतर आया था। पके–पाढ़े दानेदार गुच्छों के वजन से भी सौंफ की डंठलें झुकी नहीं थी।" [22]

"रतिनाथ की चाची" में प्राकृतिक परिवेश का चित्रण करते समय भाषा नितांत काव्यात्मक हो गई है – "शरद ऋतु की चांदनी में नील निर्मेघ आकाश बिखरे नक्षत्रों की अपनी जमात के साथ बजुआहा पोखर के श्यामल वक्षस्थल पर जब प्रतिफलित हो उठता, तो भिंड (भीट) पर बैठे हुए निपट निरक्षर दुसाध–मुसहड़ भी कवि की तरह उसासें भरा करते! उन्हें जाने अपने जीवन की मधुमय घड़ियां एक–एक कर याद आती या क्या।" [23]

"आगे खेतों में धान के हरे–हरे पौधे लहरा रहे थे। उनसे परे आमों के नील–निविड़ कुंज थे। उनसे भी परे सुदूर उत्तरी आकाश में हिमालय की धवल–धूमिल चोटियां थी जो उगते सूरज की पीली किरणों से उदभासित होकर स्वर्ण–शृंग सी लग रही थी।" [24]

कथोपकथनों को सजीवता तथा स्वाभाविकता का पुट देने के लिए नागार्जुन ने पात्रों की वास्तविकता भाषा के कुछ शब्दों, मुहावरों या प्रचलित वाक्यों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए "वरूण के बेटे" में मोहन मांझी और खुरखुन का वार्तालाप देखिए –

"सहसा उसने पूछ लिया – "रात का खाना खुरखुन?"

नीरस पका रहा है, कह के आता हूं। तुम्हारा भी पक जाएगा।

अच्छा, सुना खुरखुन? अंचलाधिकारी का तबादला होने जा रहा है——————

अरे !

सच, तुम्हारी कसम !

तुम तो कहते थे कि नहीं होगा।

मैं कोई विधाता थोड़ी हूं

ऊं !

ऊ ! सतधरा के जमींदारों का जाल कोई मामूली जाल है?

कसूर यही था कि गरीब ने हमारा पच्छ लिया ——————।"[25]

इसी प्रकार स्टेशन मास्टर का हिंदी में बंगला उच्चारण स्वाभाविक ही लगता है – "हां, ठांढा – माफिक सोचने शे शोब (सब) काम शुभिरता (सुभिता) से हो जाएंगी ! बाबू , आप आ गिया, शो (सो) आच्छा हुआ ! न्यू ब्लड़ है न? हूं—————।"[26]

बाढ़ से घिरे लोगों ने जब रेल के डिब्बों को अपना आश्रय स्थल बना लिया तो स्टेशन अधिकारी उनहें बाहर निकालने के लिये तुले हैं। क्रोध में युवक की यह भाषा कितनी स्वाभाविक है – "युवक ने आदेशपूर्ण स्वर में मांझी से कहा " "आइए कामरेड, देखिए राक्षसों का यह तांडव ! बड़े मियां तो बड़े मियां, छोटे मियां सुभान अल्लाह ! रेलवे वालों के दिमाग तो जाने किस धात के बने हैं।——————— और वह चिकाउर (सद्यः प्रसूता) बेचारी ——————— कामरेड मैं आग लगा दूंगा स्टेशन में ! ईंट से ईंट बजा दूंगा। ——————"[27]

नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों की भाषा की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है – नाद–युक्तता। शब्दों को इस प्रकार नाद–युक्त कर दिया गया है कि घटंना का चित्र साकार हो उठता है। "वरूण के बेटे" में मछली पकड़ने की सम्पूर्ण क्रिया को उपन्यासकार ने इस प्रकार शब्दों में बांधा है –

"– बीच – बीच में फुसफुसाहट ——————

– खुरखुन !

– हां

– कितनी हुई कुल

– पन्द्रह और सात !

– फिर थूक फेंकने की आवाज, पिच्च !

फिर जाल फेंकने की तैयारी। नाव हिलने लगी। मोटी आवाज, धब्ब ! पानी में मानों लोंदा गिरा। यह मछलियों के लिए चारा डाला गया था। दो जोड़ी सतर्क आंखें गहन तिमिर की मोटी पर्त छेदकर पानी पर जमीं थीं।

बुल – बुल – बुल – बुल – बुल – बुल – बुजुब – बुब – बुब ———— बुलबुले, उनकी बुड़बुड़ाहट ! महीन और मीठी !" [28]

"रतिनाथ की चाची" में तकली कातने का वर्णन इस प्रकार हुआ है – "उनकी तकलियां किर्र – किर्र करके कांसे के कटोरों में नाच रहीं थीं और पूनी से खिंचकर सर्र – सर्र निकलता जा रहा था सूत।" [29]

पायलों की ध्वनि, घंटी की ध्वनि तथा अन्य छोटी से छोटी वस्तु के नाद को नागार्जुन ने मानो शब्दों में बांध दिया है – "पायलों की रून–झुन रून–झुन हौले–हौले शून्य में समा गई। दुखमोचन ब्लेड से नाखून काटने लगे। उधर दालान पर सुखदेव शालिग्राम की पूजा कर रहे थे। छोटी घण्टी की टुन–टुन टिन–टिन आवाज लगातार आ रही थी।" [30]

सोते समय खर्राटों को भी उपन्यासकार ने शब्दों में बांध दिया है – "बीच में इतना बड़ा कुकांड मच जाने पर भी घटकराज की नींद नहीं टूटी थी, अब भर श्रषभ–स्तर में वह अपनी नाक बजाये जा रहे थे ठर्र र्र र्र र्र र्र ———— ठों ों ों ों : ठर्र र्र र्र र्र र्र ———— बड़ी पुष्ट और और लयबद्ध ध्वनि थी, ऐसी कि सुनने पर कान तिरपित हो उठते और हृदय का अंजरा–कोना गुदबुदा जाता!"[31] इस प्रकार के शब्दों के द्वारा उपन्यासकार ने उठती ध्वनि को ठीक–ठीक शब्दों में बांध दिया है और अपने प्रयास में वह सफल रहा है।

आंचलिक उपन्यासों में आंचलिक शब्दों का बाहुल्य तो है ही साथ ही एक अन्य विशेषता भी दिखाई देती है; वह है शब्दों को तोड़कर रखने की। उपन्यासकार ने शब्दों को तोड़कर शब्द–लाघव के प्रयास में नया आकर्षण उपस्थित किया है। "फिर उसकी एक हथेली को अपने कपार से लगाया और बोली – नहीं गे, कौन कहता है कि बुखार भितराया हुआ है।" [32]

छोटी से छोटी बात पर भी लेखक ने अपनी दृष्टि डाली है। घटनाओं और दृश्यों के सूक्ष्म ब्यौरे सफलतापूर्वक दिए गए हैं। डा0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार – "देहाती जीवन की साधारण घटनाओं को चित्रित करने में उसके

छोटे–छोटे सुखें के सूक्ष्म निरीक्षण तथा सजीव चित्रण में, जमींदारों के निरंकुश व्यवहार तथा उत्पीड़न में, नये जीवन के स्पन्दन में अंचल विशेष के मुहावरे को पकड़ने में, तद्भव शब्दों के प्रयोग में पग–पग पर परिवेश की गन्ध में उपन्यास का ताना बाना बुना गया है।"[33] डा0 मदान ने जो बातें "बलचनमा" के लिए कहीं हैं, वास्तव में वे नागार्जुन के समस्त आंचलिक उपन्यासों के लिए उपयुक्त प्रतीत होती हैं। "नई पौध" में लोकोक्तियों और मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है – "बुड्ढा चमक उठा, पागल और घवहा कुत्ते की तरह भौंकने लगा – तुम लोग गुंडई पर उतर आए हो ! सारी काबिलियत घुसाड़ दूंगा। देखो तो भला, सावन जनमा गीदड़ और भादों आई बाढ़ और गिदड़वा चिल्लाया बाप रे! ऐसी बाढ़ कभी न देखी। बच्चू, अभी तो कुल जमा चार रोज के हौवे किये हो, नाभी की नार तक नहीं कटी है अभी ! अभिए चले हमें सबक सिखाने? चार अच्छर पढ़ लिख लिए हो तो क्या बूढ़–पुरनिया लोगों की गंजी चांद पर चप्पल मारोगे? –– "[34]

"रतिनाथ की चाची" में भी मुहावरों तथा कहावतों का सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है – "जिला किसान सभा के एक प्रमुख नेता रमापति झा परसौनी के रहने वाले थे, तीन साल तक ऐड़ी चोटी का पसीना एक करके उन्होने राजा बहादुर के रेयतों को जगाया था और अब उनके मुंह से भी लार टपकने लगी।"[35]

"कुछ क्षण चुप रहकर नित्या बाबू अपने आप बोलने लगे – हे रावणेश्वर बम्भोलेनाथ, यह कैसा जमाना आया है ! जात–पात और धर्म पर संकट ही संकट लदता चला जा रहा है –––––– कल के छोकरे हम बूढ़ों की नाक में कौड़ी बांध रहे हैं।"[36]

"मगर कहावत है कि बंभोला को अक धतूर ! जिसकी मौल कौड़ी भी नहीं, मदार और धतूर का वही फूल शंकर जी को पसंद आता है ––––––"[37]

भाषागत प्रयोग कथाकार की वैयक्तिक रूचि, संस्कार के परिणाम होते हैं। नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों की भाषा में स्थानीय प्रचलित शब्दों, बोलियों, मुहावरों, लोकोक्तियों तथा किंवदन्तियों का प्रयोग तो है ही साथ ही साथ लोक गीतों का माधुर्य भी स्थान–स्थान पर जोड़ा हुआ है। स्थानीय शब्दों का प्रयोग करते समय उपन्यासकार ने एक विशेष बात पर ध्यान रखा है वह यह कि उसने शब्द का अर्थ नीचे रेखांकित करके दे दिया है। इससे पाठक को बड़ी सुविधा हो जाती है। यह बात सत्य है कि मैथिली आदि प्रादेशिक भाषाओं का हिन्दी से गहरा साम्य है किंतु कई बार प्रादेशिक भाषाओं में ऐसे शब्द मिल जाते हैं,

जिनकी अभिव्यक्ति का पैनापन हिन्दी के शब्दों में नहीं मिलता। नागार्जुन की भाषा में ऐसे ही शब्दों को अधिक स्वीकार किया गया है और साथ ही बोधगम्यता का ध्यान भी रखा है किंतु बोधगम्यता को आंचलिकता के मूल्य पर नहीं रखा गया है। यदि इन आंचलिक शब्दों को उपन्यासों से निकाल दिया जाय तो अचंल का सही स्वरूप उभर कर नहीं आ सकता। भाषा–शिल्प के दृष्टिकोण से नागार्जुन सफल सिद्ध हुए हैं।

आंचलिकेतर उपन्यासों की भाषा -

नागार्जुन हिंदी, मैथिली और संस्कृत के विद्वान हैं। आंचलिकेतर उपन्यासों में उनकी संस्कृतनिष्ठ भाषा के दर्शन होते हैं। हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण भाषा भी इन उपन्यासों में है जो तीखी पैनी और सीधा प्रहार करने वाली है। प्रकृति वर्णनों में नागार्जुन के कवि ने उनके उपन्यासकार को यहां भी पीछे छोड़ दिया है। स्थान–स्थान पर गम्भीर चिन्तन प्रधान भाषा का प्रयोग किया गया है। "कुंभीपाक" जैसे सामाजिक उपन्यास में बड़े ही स्वाभाविक रूप से मुहावरों, कहावतों और लोकोक्तियों तथा इंगित–गर्भित भाषा ने अभिव्यक्ति को अत्यंत सशक्त बना दिया है। भाषा और कथोपकथन सोद्देश्य प्रयुक्त किए गए हैं।

आंचलिकेतर उपन्यासों की भाषा में विविधता देखने को मिलती है। सरल हिंदी, संस्कृत तत्सम शब्दों से युक्त हिन्दी, उर्दू मिश्रित हिंदी तथा ग्रामीण और अंग्रेजी शब्दों से युक्त हिन्दी का नागार्जुन ने प्रयोग किया है। इसका कारण पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करना ही है। उनके पात्र सुशिक्षित नागरिक, ग्रामीण, हिन्दू, मूस्लिम, स्त्री, पुरूष सभी प्रकार के हैं।

(अ) सरल हिन्दी :- सरल हिंदी में किसी विशेष प्रकार के शब्दों के प्रयोग का आग्रह नहीं रहताहै, वरन शब्द की कसौटी उसकी भावगत उपयुक्तता होती है। "उग्रतारा" "इमरतिया" तथा "कुंभीपाक" की भाषा इसी प्रकार की है। यथार्थ को पाठकों तक पहुंचाने के लिए नागार्जुन ने सरल हिंदी का प्रयोग किया है –

"बाहर से उसी तरह मोल – भाव की आवाज आ रही थी। उगनी को लगा, पेट में दर्द उठा है। दर्द का यह एहसास और भी बढ़ता गया क्योंकि बाहर

सहजन की पतली छांहों के तले वह नौजवान आकर बैठ गया था, उगनी अपना दिल जिसके हवाले कर चुकी थी। फेरीवाला तो वह खास मतलब से बना है, दर–असल वह राजपूत नौजवान है। मढ़िया सुन्दरपुर का रहने वाल कामेश्वर सिंह। वह उगनी को किसी भी हाल में छोड़ नहीं सकता।" [38] प्रस्तुत उदाहरण में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है, जो बोलचाल की हिंदी में प्रयुक्त न किया जाता हो। एहसास (अरबी) तथा दरअसल (फारसी) शब्दों का हिन्दी में प्रायः प्रयोग होता हैं वाक्य छोटे भी हैं और बड़े भी। नागार्जुन यदि चाहते तो इन फारसी और अरबी के शब्दों को भी अधिक सुगठित बना सकते थे किंतु भाषा को सरल रखने के लिए उन्होने यहां साधारण बोलचाल जैसी भाषा का प्रयोग किया है। कुछ अन्य उदाहरणों से भी यह बात सिद्ध होती है कि नागार्जुन का उद्देश्य ऐसी भाषा का प्रयोग करना है जो सरस, सुबोध और स्वाभाविक हो –

"उम्मी की मां आगे बढ़ती हुई सोचती रही – बलिहारी है जीवट की, तुम्हारे मां–बाप स्वाभिमानी, मस्त और दबंग किस्म के लोग होंगे ——————झिझक, तंगदिली, डर और उदासी तुमसे भागे–भागे फिरते हैं। खुशी और मस्तानापन तुम्हारे कदम–कदम पर निछावर है। मुर्दा के अन्दर जान फूंक दी तुमने —————— भुवनेसरी लाश नहीं तो और क्या थी! चुटकी बजाकर उस मैना को उड़ा दिया तुमने! ————————— और एक मैं हूं, रोज लात खाती हूं————————— कभी इन रगों में भी ताजा लहू दौड़ता था अब तो बस दुर्गन्ध और बासी पानी भर गया है इनमें – उस हुक्के का पानी जिससे कई होंठ अघा गए हों ————————" [39]

"मस्तराम को जाड़े ने कभी नहीं सताया। हां, चरस और गांजे की तलब ने मस्तराम को सताया है। छटांक आधा पाव माल झोली में पड़ा रहे तो तबीयत मस्त रहती है ——————— जो न पीवे गांजे की कली, उस लड़के से लड़की भली ——————— बमभोले की गली ——————— अपनी तो तबियत चली ——————— भली रे भली —————— इन शब्दों को यों भी वक्त–बेवक्त दोहरा दो तो बदन में गर्मी दौड़ जायेगी। मुझे जरूरत नहीं पड़ेगी, इन कम्बलों के इस्तेमाल की। बस आसन के तौर पर इन्हें काम में लाया जाएगा। जेल वाले चाहे तो मेरे लिये दस कम्बल और डाल जाएं। कम्बलों के ढेर पर बैठकर मस्तराम विचार सागर का पाठ किया करेगा।" [40]

(ब) संस्कृत तत्सम शब्दों से युक्त भाषा :- सुशिक्षित पात्रों के तर्क–वितर्क एवं उनके जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रकाशन के समय, नागार्जुन ने प्रायः

संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग किया हैं ऐसे स्थलों की भाषा अधिक परिष्कृत एवं परिमार्जित है। "हीरक जयन्ती" का एक चित्रण इस प्रकार है – "खंडिता नायिका की शंख–सुडौल गर्दन का झुकी देखकर धीर–उदात्त नायक के अवचेतन में अनुकम्पा का भाव आ गया और फिर दोनों चेहरों की चारों आंखें बाल–सुलभ शरारत में तैरती सी कौंध पड़ी कि उस सरकारी कार के हार्न का आकुल स्वर सुनाई पड़ने लगा जिसमें बाबूजी चलते थे –––––" [41]

"बहुजन की रूचियों पर हम भला ध्यान कैसे नहीं देंगे? लोकाचार की अवज्ञा करे तो वह लोकयुग ही क्या! फूल–पत्तियों ही सही, किंतु आभूषित लता जब श्वसुर–कुल में प्रवेश करेगी तब जो मांगलिक द्रव–अच्छत उसके माथे पर पड़ेंगे वे सौभाग्य के ही प्रतीक होंगे!" [42]

"भुवनमोहिनी –––– मुंदी आंखों की पलकों का स्पंदन भला कम क्यों होता?

भुवनमोहिनी –––––– दिनांत की प्रलंबित छाया अपने छोर भला दिगंत तक क्यों न पसारती?

भुवनमोहिनी –––––– पावस की कौंधती बिजली भला महामेघ के नेपथ्य को बेदाग क्यों छोडती?" [43]

"कुंभीपाक" में भी नागार्जुन ने परिमार्जित तथा संस्कृत तत्सम शब्दों से युक्त भाषा का प्रयोग किया है – "नील–निर्मल आकाश और विराट सूनापन, चंपा को लगा कि यह उसकी ही रिक्तता असीम और नीलाभ बनकर ऊपर छाई हुई हैं दिन का वक्त है। ढलता सूरज पच्छिम की तरफ मकान की ओट में चला गया है। तारे नहीं हैं तो नीलिमा और सूनापन दिल पर और भी गहरा असर डालते हैं –––––" [44]

"बस–बस, यही आत्म विश्वास में स्त्रियों में देखना चाहता हूं चम्पा! हम बडी जात वालों ने महिलाओं को पंगु बना रखा है, जीवन का सारा रस निचोड़कर सिट्ठी बनाकर छोड़ दिया है –––––– अपवाद हो सकते हैं लेकिन यह तो दूसरी बात हुई न –––––– श्रम, प्रज्ञा, सहयोग, विवेक और सुरूचि – सभी आवश्यक है चम्पा! जीवन में इन पांचों का समन्वय करना होगा।" [45]

"रात्रि–शेष का शिशिर–समीर दूसरे कमरे की खुली खिड़कियों से होकर अन्दर आने लगा तो उगनी के रोएं कंटकित हो उठे।" [46]

प्राकृतिक सौन्दर्य तो संस्कृत शब्दों से युक्त अलंकारिक भाषा में प्रस्तुत किया गया है, किंतु किसी भी स्थान पर भाषा न तो बोझिल हो पायी है और न ही

जटिल। पाठक के लिए बोधगम्यता आदि से अंत तक बनी रहती है।

(स) मुहावरे - कहावतों एवं लोकोक्तियों से युक्त भाषा :- आंचलिक उपन्यासों की तरह आंचलिकेतर उपन्यासों में भी नागार्जुन ने मुहावरों कहावतों एवं लोकोक्तियों का स्वाभाविक एवं उचित प्रयोग किया है। इनके प्रयोग से भाषा के सौन्दर्य में निखार आ गया है। यद्यपि आंचलिकेतर उपन्यासों में कहावतों और मुहावरों का प्रयोग आंचलिक उपन्यासों की अपेक्षा कम हुआ है तथापि जहां पर भी उनका प्रयोग हुआ है, उन्होने "सोने में सुहागा" का काम किया है। एक विशेष बात यह भी द्रष्टव्य है कि आंचलिकेतर उपन्यासों के मुहावरें व कहावतों पर मैथिली का प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही है। यहां कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं–

"तुम मुझे कहीं का न रखोगी! तुम मुझे बे आबरू कर दोगी! मेरी नाक में कौड़ी किसी ने नहीं बांधी थी, यह श्रेय भी तुम्हीं को हासिल होगा चम्पा!" [47]

"कम्पाउन्डर की बीबी ने दिल ही दिल में अपने से कहा, "छिनाल कहीं की! उड़ती चिड़िया की पूंछ में हल्दी लगाने वालोरांड! किस कदर बात बनाती है –––––– फूफा जी पोस्टमास्टर थे! मामा जी मिनिस्टर थे! चुड़ैल कहीं की।–––––"" [48]

"उड़ती चिड़िया की पूंछ में हल्दी लगाना" जैसी लोकोक्ति का नवीन प्रयोग पाठक को चमत्कृत कर देता है।

"पिछले दो दिनों से सर्दी बेहद बढ़ गई थी। आसमान और धरती को कोहरा एक बनाए हुए था। –––––– लगता था कि सूर्य की किरणों के लिए कोई आकर लक्ष्मण रेखा खींच गया है।" [49]

"लाखें की रकम बटोर ली गई है। यह जयन्ती नहीं है, जयन्त की चोंच का चोंचला है––––––––" [50]

"मैं पालतू हूं किसके दिए निवाले गटकता हूं मैं" [51]

"अभी देर तक नींद नहीं आयेगी। महाराज की जांघ दिमाग के चकले पर बेलन की तरह फिर रही है।" [52]

"कहते हैं औरतों के नखरे पहाड़ को बिछा देते हैं, फौलाद को गला डालते हैं। मैं उनसे बचता रहा हूं। आगे राम जाने।" [53]

"अच्छी तरह जानता हूं, इस सवाल के जवाब में यह आदमी कुछ कहेगा नहीं, दांत निपोरकर हंसता रहेगा।" [54]

"कब तक अकेले रहिएगा बाबू साहेब? शादी नहीं कीजिएगा? अभी तो खैर दस वर्ष जवानी की उमंग में दूसरी शादी न करने का हठ भी निभा लीजिएगा, आगे चलकर आप के साथी भी वही मुहावरा जुड़ेगा कि गुड़ खाकर गुलगुले से परहेज------झूठ कहती हूं?" [55]

"जो खुद बहत्तर घाट का पानी पीके आई है, वह किसी की लड़की – पतोहू को क्या सिखलाएगी -----" [56]

"उगनी उस छोकरी की इन बातों पर दंग रह गई। मन ही मन उसने गीता को गालियां दीं – मंथरा की नानी कहीं की। --------" [57]

(द) अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग :- पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित वातावरण के चित्रण में एवं पात्रों के कथोपकथन में नागार्जुन ने यत्र–तत्र अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। ये शब्द जनसाधारण के प्रयोग के हैं और कहीं–कहीं कुछ ठेठ अंग्रेजी के भी हैं। ग्रामीण पात्रों द्वारा अंग्रेजी के अशुद्ध शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है तो शिक्षित पात्र अंग्रेजी के पूरे–पूरे वाक्य ही बोल जाते हैं।

"कोई डिस्टर्ब नहीं करेगा। ----- बाहर गेट से तख्ती लटक रही होती है। डॉग इज डन्जरस ! बी कॉसस ।" [58]

"सब कुछ कम्पलीट है। अभिनंदन ग्रंथ छप गया है ----- केन्द्रीय मंत्री माननीय घासीराम जी फ्लाई कर चुके हैं, उनका प्लेन ठीक साढ़े बारह बजे एरोड्रम पर आ धमकेगा।" [59]

"बाबूजी ने जवाब दिया – घंटाभर बाद आडियेनस कई गुना अधिक बढ़ जायेगी। ----- कालिजिएट छोकरे और दफ्तर वाले लोग भला पांच बजे क्यों आने लगे।" [60]

"हुंह, डेली हमारे दफ्तर में चौदह ठो दैनिक आता है ! सात ठो वीकली ! हम तो बस इत्मीनान से वहीं देखते रहते हैं ----- यहां तो हेडलाइन भर झांक लेते हैं ---" [61]

"मर्डर, रेप, स्मगलिंग, जासूसी, जोर–जुल्म कौन–सा चार्ज नहीं लगाया गया है इस बाबा पर ------- स्वामी के साथ एक पोलिटिकल पार्टी के दो–तीन लीडर भी थे।" [62]

अन्य विशेषताएं :- आंचलिकेतर उपन्यासों में कहीं–कहीं भाषा का लाक्षणिक

प्रयोग भी देखने को मिल जाता है –

"पास–पड़ोस के कमरों से जब बहुत अधिक धुआं भर गया तो अंगीठियों को हंसी आ गई और उनके चेहरे लाल हो उठे।" [63]

कोयलों के जलकर लाल हो जाने के लिए लेखक ने अंगीठी का हंसना कहा है। यह एक सुन्दर प्रयोग है।

भाषा के लिए कुछ नए शब्द भी लेखक ने निर्मित किए हैं। जैसे साबुन लगाने के लिए "सबुना रहा" [64], ठीक करके रखने के लिए "ढिठिया के रखेंगे" [65] आदि। भाषा में जो मैथिली, अंग्रेजी या उर्दू के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे सभी जन सामान्य में प्रचलित हैं। आंचलिकेतर उपन्यासों की भाषा परिमार्जित भी है और प्रवाहपूर्ण भी। पात्रानुकूलता का गुण भी भाषा में विद्यमान है कहीं कोयले बेचने वाले की भाषा को उसी लहजे में प्रस्तुत कर दिया गया है। [66] तो कहीं रोने, चुप करने आदि भावों को नाद–युक्त शब्दों में बांध दिया गया है। [67] नागार्जुन की भाषा के बारे में डा0 बेचन का कथन है कि "जहां तक नवीन भाषा–शैली का संबंध है, नागार्जुन आधुनिक हिन्दी गद्य निर्माताओं में एक प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं।" उन्होने हिन्दी को न केवल नए–नए शब्द और मुहावरे दिये बल्कि एक नई शैली दी जिसे "नागार्जुन शैली" कह सकते हैं और जिस शैली में मैथिली भाषा की पूरी आबादी बोलती है। [68]

नागार्जुन के उपन्यासों में प्रयुक्त शब्दावली

तत्सम शब्द

अंततोगत्वा,	अकर्मण्यता,	अतिशय,	अन्तश्चक्षु,
अनुचिंतन,	अनुलाभ,	अनुश्रुतियां,	अनुवांशिक,
अभिमंत्रित,	अरूणाभ,	अल्पज्ञता,	अलक्षित,
अक्षय,	आकण्ठ,	आप्लावित,	आभिजात्य,
आसन्नप्रसवा,	उच्छवासित,	उदभासित,	उद्रेक,
उन्निद्र,	एतद्विषयक,	एतिद्विरामायणम,	किंजल्क
कंदर्प,	ग्रीष्मान्त,	चन्द्रिका,	ताप विगलित,
तिमिरतोम,	दिनांत,	देहयष्टि,	धवल–पाण्डुर,
निर्धूम,	निमीलित,	निरामिष,	निर्निमेष,

निभूत,	नीलाभ,	पुण्याह,	प्रच्छन्न,
प्रत्यवाय,	प्रपितामह,	प्रवण,	प्रलम्बित,
प्रसवण,	भक्तिव्य,	भास्वर,	भ्रमर–कुंचित,
भृत्कुणी क्रन्दन,	मत्स्यगंधा,	मधुश्रावणी,	मातृक,
मंजुषा,	लोकारण्य,	वर्जना,	वर्णन–क्षमता,
विद्रूप,	विष्ठा,	विक्षोभ,	वैष्ठित,
शुचिता,	श्रुतिमधुर,	सद्यः स्नातः,	सहस्त्रशीर्षा,
संघटित,	संपर्कित,	संपुटित,	संवर्द्धना,

तद्भव शब्द

अमरित	अलच्द	अवगुन	आसरम
आसिरबाद	इमरित	ईसर	करन पिसाची
किरपा	किरिया करम	गुनमन्त	गिरस्ती
गाहक	छेतर	जतन	जोतखी
तिरिया	धरमतमा	नबेद	निछावर
निठुर	परगट	परपंची	पर्तपाल
परितोख	पांख	पोरूख	बरख
बरहम	रेंन	लच्छन	ललिसा
सन्तोख	सराप		

फ़ारसी शब्द

आरजू,	आहिस्ता,	उस्ताद,	कामयाबी,
कारपर्दाज,	काश्तकार,	खराद,	खुशामद,
गरीबनवाज,	गिरफ्त,	गुफ्तगू,	गुनाह,
गुलजार,	जायदाद,	जिन्दगानी,	तजुर्बेकार,
दरअस्ल,	दरख्त,	दरम्यान,	नागवार,
नाबालिक,	निगरानी,	प्यादा,	पुख्ता,
पेशानी,	बरकरार,	बदतर,	बन्दोबस्त,
बदौलत,	बाअदब,	बाशिन्दे,	बुनयादी,
बुलन्द,	बेकसूर,	बेताब,	लाजिम,

शिकन्जा,	शिकस्त,	शिकारगाह,	शिगूफा,
शैदाई,			

अरबी शब्द

अखरा,	अदना,	अलबत्ता,	अरसा,
असलातन,	अहदी,	आदमखोर,	आला,
ईर्द–गिर्द,	कबाला,	काबिल,	किफ़ायत,
किल्लत,	कैफियत,	खवास,	खाम–ख्याली,
खालिस,	खुमारी,	खुलासा,	खुराफ़ात,
ग़बन,	गाफ़िल,	तजुर्बेकार,	तदबीर,
तफसील,	तबदील,	तरतीब,	तहकीकात,
तादाद,	तालीम,	जायदाद,	जाहिर,
दखल,	दायरे,	नफ़ीस,	नसल,
पशोपेश,	फतवा,	फ़रीक,	फ़ारिग,
फिदा,	फिलहाल,	बरकत,	मजमून,
मर्तबा,	मशगूल,	माकूल,	मिजाज,
मिल्कियत,	मुखातिब,	मुताबिक,	मुलाजिम,
मुस्तैदी,	मौकूफ,	मौजूद,	लिबास,
विरासत,	शोहरत,	सलामत,	हरकत,
हबिस,	हालत,	हिकारत,	हिना,
हिफ़ाजत,	हैसियत,	हौलदिल,	

आंचलिक तथा ग्रामीण शब्द

अखूट,	अगराती,	अगौछी,	अज़गुत,
अदगोई–बदगोई,	अधेली,	अनगुत्ते,	अपनापा,
अल्हुआ,	इनारा,	उत्ती,	उपरले,
ओरयानी,	ओसारे,	ओहार,	कछौटी,
कलछी,	कहनाम,	काज परीजन,	कुटमैती,
कोचिया,	खंभली,	गिरहथ,	घूनस,

चमच्चा, चावश, चुक्की माली, चुक्कड़,
चुटपुटिया, चोटटे, चगेरा, छपरिहा,
छिकी, छितोनी, छिपिया, जजमनिका,
जथा–जाल, जेहल–डामूल, झोटा, झंग,
टनमना, टपकर, टुकुरी, टंचार,
तिनपटिया, तिन्नले, तीमन, तीसी,
थाला, दइयनि, दरमहा, दिशा–फराकत,
दुतल्ले, दुम्बा, दुसाध मुसहड़, देवल,
धूंकता, निमस्तीन, नेड़ी, पगाह,
पछोरकर, पथरौटी, पनही, पिंजरापोल,
पिपही, पिसान, पकड़ा, फकड़ा,
फटटक, फुलही, वसूली, बिजनी,
बित्ताभर, बिलमे, बुड़बक, बुदउती,
भकरार, भोगीदर, भोस, मगरैला,
मीता, मुंह–झोंसी, रमझिड.नी, रोनीदार,
लफलफा, लिमड़ा, सरबेटा, सलकिया,
सीथ, सुड़की, सुरफुरना, सुगर खोका,
हड़हड़ाती, हड़ाही,

अंग्रेजी शब्द

अण्डर–ग्राउण्ड, अरेस्ट, असेम्बली, असिस्टेन्ट,
ऑनरेबिल, इनफार्मेशन, इयरिंग, एक्सटेंशन,
एक्सक्यूज, एडजस्ट, एडमिनिस्ट्रेशन, एडवांस,
कमेन्ट्री, काउन्टर, कॉटेज इण्डस्ट्री, केमिकल,
कामर्शियल, क्रैक, गार्जियन, गेस्ट,
चैम्बर, चेयरमेन, टेक्नीकल कोर्स, ट्रेवलिंग,
डवलपमेंट, डेनजरस, डैमोक्रेसी, थाइसिस,
न्यूज–एडीटर, नेशनल–सेविंग्स, नोमिनेट, पर्सनल,
पिकेटिंग, प्रोजेक्ट, प्रोपराइटर, प्रोविजन,
प्रोसिडिंग्स, फंक्शन, फॉरेस्ट, फुल–स्केल साइज,

फैमिली प्लानिंग, फोल्डिंग, ब्लू ब्लैक, मर्डर,
मार्जिन, रिफ्रेशमेन्ट, रिलीफ, स्कवायर,
साइडरोल, मिलिटरी शैल रीच हीयरं अर्ली इन द मोर्निंग

नागार्जुन के उपन्यासों में प्रयुक्त कुछ मुहावरें तथा कहावतें

1 – अकेली राधा कितनी नाचे, (नई पौध, पृ0 27)
2 – अहिल्या पड़ी होगी छू जाने की आशा में (दुखमोचन, पृ0 16)
3 – आंखें का तारा होना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 38)
4 – आग में घी डालना, (बलचनमा, पृ0 95)
5 – आग लगते झोपड़ी जो निकले सो लाभ, (वरूण के बेटे, पृ0 33)
6 – आप बीती तो जग बीती, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 22)
7 – आप भला तो जहान भला, (बलचनमा, पृ0 147)
8 – आसमान फट पड़ना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 122)
9 – आसमान माथे पर उठा लेना, (बलचनमा, पृ0 147)
10 – एक जायेगा एगारह आयेगा, (बलचनमा, पृ0 40)
11 – ऐड़ी चोटी का पसीना एक करना, (रतिनाथ की चाची, पृ0 96)
12 – कन्नी काटना, (बलचनमा, पृ0 66)
13 – कपार की रगें फटना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 12)
14 – कलेजा सूख जाना, (बलचनमा, पृ0 6)
15 – कलेजा फटना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 11)
16 – कलेजा सुखकर सोंठ होना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 60)
17 – कलेजी सूखना, (उग्रतारा, पृ0 111)
18 – कलेजे पर लात मारना, (बलचनमा, पृ0 61)
19 – कसाई की रांड होना, (दुखमोचन, पृ0 164)
20 – केले के पत्ते की तरह कांपना, (रतिनाथ की चाची, पृ0 5)
21 – खीसें निपोरना, (हीरक जयन्ती, पृ0 110)
22 – खुशी के मारे दुहरा होना, (हीरक जयन्ती, पृ0 6)
23 – खूब कसकर दुहना, (उग्रतारा, पृ0 68)

24 – ग़म खाना (नई पौध, पृ0 5)
25 – गले का ढोल होना, (बलचनमा, पृ0 55)
26 – गाल बजाना, (नई पौध, पृ0 39)
27 – गुड़ खाकर गुलगुलों से परहेज (उग्रतारा, पृ0 36)
28 – घिग्घीं बंधना, (हीरक जयन्ती, पृ0 49)
29 – चकले पर बेलन की तरह फिरना, (इमरतिया, पृ0 22)
30 – छछूंदर का दिल पाना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 18)
31 – जयन्त की चोंच का चोंचला होना, (हीरक जयन्ती, पृ0 74)
32 – जहां धड़ तहां घर, (रतिनाथ की चाची, पृ0 132)
33 –जाके पांव न फटी बिबाई वो क्या जाने पीर पराई (बलचनमा, पृ0 181)
34 – झक मारना, (नई पौध, पृ0 93)
35 – टकटकी बंधना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 24)
36 – टस से मस न होना, (बलचनमा, पृ0 183)
37 – ठूंठ पीपल की गांठ होना, (नई पौध, पृ0 32)
38 – डर के मारे पसीना–पसीना होना, (इमरतिया, पृ0 71)
39 – तलुआ चाटना, (दुखमोचन, पृ0 73)
40 – तेल छिड़कना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 57)
41 – तेल जरें तेली का और फटे मसालची का (बलचनमा, पृ0 167)
42 – थूक चाटना, (बलचनमा, पृ0 115)
43 – थाह लेना, (उग्रतारा, पृ0 36)
44 – दम साधकर सुनना, (बलचनमा, पृ0 181)
45 – दांत बजाना, (कुंभीपाक, पृ0 5)
46 – दांत निपोरना, (इमरतिया, पृ0 50)
47 – दांतों तले उंगली दबाना, (इमरतिया, पृ0 70)
48 – दिमाग का गूदा चट हो जाना, (बलचनमा, पृ0 7)
49 – दिल रेहन करना, (नई पौध, पृ0 112)
50 – दुम घिसा गीदड़ होना, (नई पौध, पृ0 102)
51 – धोखे की टट्टी, (कुंभीपाक, पृ0 62)
52 – नाक में कौड़ी बांधना, (दुखमोचन, पृ0 94)
53 – नाक लम्बी होना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 21)

54 – नवाब का नाती समझना, (बलचनमा, पृ0 10)
55 – निवालें गटकना, (हीरक जयन्ती, पृ0 1)
56 – पत्थर पर दूब जमाना, (इमरतिया, पृ0 117)
57 – पापड़ बेलना, (नई पौध, पृ0 118)
58 – पानी में आग लगना, (बलचनमा, पृ0 93)
59 – पशोपेश में पड़ना, (हीरक जयन्ती, पृ0 16)
60 – प्राण पखेरू उड़ना, (उग्रतारा, पृ0 24)
61 – फूटा ढोल होना, (नई पौध, पृ0 5)
62 – फूलकर कुप्पा होना, (दुखमोचन, पृ0 19)
63 – बडेमियां तो बडेमियां छोटेमियां सुभानअल्लाह, (वरूण के बेटे, पृ0 100)
64 – बांछें खिलना, (बलचनमा, पृ0 175)
65 – बंभोला की आक धतूर, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 32)
66 – बहत्तर घाट का पानी पीना, (उग्रतारा, पृ0 72)
67 – भागते भूत की लंगोटी भली, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 17)
68 – मटकी मारना, (रतिनाथ की चाची, पृ0 70)
69 – मज़ा किर किरा होना, (बाबा बटेसरनाथं, पृ0 20)
70 – मात खा जाना, (रतिनाथ की चाची, पृ0 167)
71 – मन को अपने में टांगे रहना, (उग्रतारा, पृ0 40)
72 – मन चंगा तो कठौती में गंगा, (उग्रतारा, पृ0 11)
73 – माले मुफत दिले बेरहम, (दुखमोचन, पृ0 89)
74 – मुख पर कालिख पुतना, (रतिनाथ की चाची, पृ0 15)
75 – मुंह से लार टपकना, (रतिनाथ की चाची, पृ0 96)
76 – मिजाज चढ़ जाना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 21)
77 – रग–रग में सोखना, (हीरक जयन्ती, पृ0 117)
78 – रगों का लहू चूसना, (कुंभीपाक, पृ0 118)
79 – रामनाम सत्य होना, (उग्रतारा, पृ0 16)
80 – रोम–रोम झनझना उठना, (कुंभीपाक, पृ0 78)
81 – लंगोटिया यार होना, (दुखमोचन, पृ0 117)
82 – लक्ष्मण रेखा खींचना, (कुंभीपाक, पृ0 5)
83 – शराफत की पुतंली होना, (नई पौध, पृ0 139)

84 – सत्तर चूहे खा के बिल्ली हज को चली, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 18)
85 – सर पटक के रहना, (उग्रतारा, पृ0 43)
86 – सात घाट का पानी पीना, (कुंभीपाक, पृ0 18)
87 – हड्डी–हड्डी में समा जाना, (कुंभीपाक, पृ0 5)
88 – हाथ धोकर पीछे पड़ना, (रतिनाथ की चाची, पृ0 44)
89 – हाथ से तेल चूना, (रतिनाथ की चाची, पृ0 48)
90 – हवा का रूख पलटना, (इमरतिया, पृ0 121)
91 – हवा पीकर रहना, (हीरक जयन्ती, पृ0 56)
92 – हवा लगना, (बाबा बटेसरनाथ, पृ0 90)
93 – त्राहि–त्राहि कर उठना, (उग्रतारा, पृ0 44)

नागार्जुन का औपन्यासिक शिल्प

साहित्य एक ललित कला है। किसी विचार, भावना या सिद्धान्त को भाषाबद्ध करने मात्र से साहित्य का सृजन नहीं हो जाता है, अपितु साहित्य का सृजन तभी होता है, जब उस भाषाबद्धता में स्थायित्व तथा रागात्मक तत्व आ जाते हैं। साहित्यकार किसी भावना या विचार को न केवल कलात्मक स्वरूप प्रदान करता है बल्कि वह एक विशेष शिल्प भी प्रदान करता है। शिल्प, साहित्य की विभिन्न विधाओं में विविध रूपों में प्रस्फुरित हुआ है। साहित्यिक रचनाओं में साहित्य के विभिन्न अंगों के साथ–साथ साहित्य–शिल्प का भी शनैः–शनैः विकास हुआ। यह विकास प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकारों द्वारा समय–समय पर अपने सतत् श्रम और प्रयोग द्वारा प्रस्तुत हुआ है। साहित्य के आरम्भिक रूप का अवलोकन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आदि काल में शिल्प की कोई निर्धारित रूपरेखा नहीं थी। साहित्यकार अपने परीक्षण, अन्वेषण और विभिन्न प्रयोंगों के द्वारा शिल्प संबंधित मान्यताओं को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते गए और उनमें से कतिपय समय और वातावरण द्वारा स्वीकृत होते गए।

शिल्प क्या है? -

"शिल्प" शब्द अंग्रेजी शब्द "टेकनीक" (Technique) का हिन्दी पर्याय है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी में "टेकनीक" की परिभाषा इन शब्दों में दी गई है –

"कलात्मक कार्यवाही की वह रीति, जो संगीत अथवा चित्रकला में प्राप्य है तथा कलात्मक कारीगरी।"[69] इसी से मिलती जुलती परिभाषा "वृहत हिन्दी कोश" में दी गई है – "शैली से ज्यादा व्यापक वह उपादान, जिसके द्वारा रचनाकार अपनी भावनाओं को किसी विशेष ढंग से व्यक्त कर पाता है।"[70]

"टेकनीक" शब्द के अनेक पर्यायवाची हैं, जैसे – क्रैफ्ट (Craft), स्ट्रक्चर (Structure) तथा फॉर्म (Form) । इन तीनों शब्दों में से सर्वाधिक प्रयोग फॉर्म का होता है, जिसका हिन्दी में पर्याय है, "रूप"। किन्तु रूप ही टेकनीक नहीं है, शिल्प–विधि का वास्तविक पर्याय रूपाकार है, जो किसी भी साहित्यिक कृति को एक विशिष्ट आकार देता है, स्वरूप प्रदान करता है। यह रूपाकार साहित्य की रूढ़ि या परम्परा भी नहीं है , जो साहित्यकार के मनोभावों, आवेगों तथा संवेदनाओं को एक स्थिर रूप से रूपायित करके रख दे। मनोभावों के प्रेषण के लिए कलाकार भाषा, शैली तथा रूपाकार का आश्रय लेता है। इन तीनों में रूपाकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि रचना की प्रभावान्विति अधिकतर बाह्य रूप पर ही निर्भर रहती है। प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक ई0 एम0 फास्टर ने लिखा है। – "रूपाकार साहित्य परम्परा अथवा रूढ़–कला सिद्धान्त नहीं, यह तो युग–युग पीढ़ी दर पीढ़ी परिवर्तित होने वाले हैं।"[71]

अपनी कला, अपने शिल्प तथाा रूपाकार के प्रति प्रत्येक स्वतंत्रचेता कलाकार सचेत रहता है। तभी तो साहित्य के बाह्य परिधान की महत्ता को स्वीकार करते हुए विलियम वान–ओ–कानर का कथन है – "रूप तो विचार का बाह्य परिधान है, इसलिय यह रूप जितना ही विचारानुकूल होगा, उतना ही उत्कृष्ट माना जाएगा।"[72]

शिल्प विधि या रूपाकार की आवश्यकता वस्तुतः किसी भी रचना में आन्तरिक और बाहय सन्तुलन की स्थापना के लिए होती है। कुछ आलोचक तथा उपन्यासकार रूपाकार को वस्तु की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण मानते हैं। स्कॉट जेम्स का कथन है – "यह (रूपाकार) तो कलाकार के मन द्वारा विषयवस्तु पर आरोपित बाहयाकार है।"[73] स्कॉट जेम्स के इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि रूपाकार अनावश्यक है। उसकी स्थापना है कि मनोयागिता से लिखितप्रत्येक उपन्यास विधि ओर प्रवधि में अपनी पृथक समस्या प्रस्तुत करता है।[74]

सुप्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र ने लिखा है – "शिल्प अनावश्यक नहीं है।

कारीगरी को किसी तरह छोटी चीज नहीं समझा जा सकता। लेंकिन उनसे किनारे बनते हैं। नदी का पानी नहीं बनता।" [75] जैनेन्द्र जी का मत है शिल्प द्वारा तटों का निर्माण होता है, प्राण प्रवाह करने वाले जल का नहीं। शिल्प का कार्य ही साहित्य को गति देना है। "टेकनीक" उस ढांचे के नियमों का नाम है। पर ढांचे की जानकारी की उपयोगिता इसी में है कि वह सजीव मनुष्य के जीवन में काम आये। वैसे ही "टेकनीक" साहित्य सृजन में योग देने के लिए है। शरीर–शास्त्र–विद् हुए बिना भी जैसे प्रेम के बल पर माता–पिता बनकर शिशु–सृष्टि की जा सकती है, वैसे ही बिना "टेकनीक" की मदद के साहित्य सिरजा जा सकता है। [76] जैनेन्द्र जी की धारणा के विरोधी, हेनरी जेम्स का कथन है – "वह समय बीत गया जब शिल्प को मात्र साधन माना जाता था, जिसके द्वाराअनुभूत सत्य को गठित कर अपने हित में ढाल दिया जाता था।" [77] हेनरी जेम्स ने तो टेकनीक को साधन न मानकर साध्य की सीमा तक खींचकर रख दिया है।

रूपाकार और शिल्प–विधि के इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शिल्प का महत्व मनोवेगों और भावों को स्पष्ट आकार देने में सहायक सिद्धहोता है। अच्छा शिल्प या रूप वही है, जो सही वस्तु को, सही समय, सही परिप्रेक्ष्य में उचित ढंग से प्रस्तुत कर दे। इसके लिए उचित विषय का चुनाव भी एक अनिवार्य शर्त हैं अब प्रश्न यह उठता है कि कथाकार किस ढंग से अपनाये? किस शिल्प–विधि का आश्रय ले? उपन्यासों के तत्वों के साथ शिल्प–विधि का क्या सम्बन्ध है?

उपन्यास रचना में जिस प्रक्रिया से लक्ष्य तथा संवेदनानुभूति उसके तत्वों–कथानक, पात्र, वातावरण आदि में परिणित हो औपन्यासिक रूप का निर्माण करते हैं, वही उनकी शिल्प विधि है। दृष्टिकोण तथा मूल अनुभूति शिल्प का नियत करते हैं, और शिल्प से ही वे ध्वनित होते हैं [78] – अतः दोनों का ही समान महत्व है। सारांश में "सुविन्यस्त उपन्यास की पहचान यही हैं कि सारा शिल्प विषयाभिव्यंजन करे और सारा विषय शिल्पित हो जाए।" [79] इससे न शिल्प से अधिक विषय होगा, न विषय से अधिक शिल्प और यही दोनों की अविच्छिन्न एकता की स्थिति है।

निजी दृष्टिकोण या उद्देश्य द्वारा किसी भी कथाकार की शिल्प–विधि का निर्धारण तथा संचालन होता हैं किन्तु दृष्टिकोण की सार्वभौमिकता के

आधार पर वस्तु तत्व या उपन्यास के किसी अन्य तत्व की पूर्ण अवहेलना करना संभव नहीं है। विषय वस्तु को भी शिल्प के समतुल्य रखा जा सकता है।वस्तु तत्व के महत्व को कोई भी कथाकार यदि नकारता है तो यह उसके लिए आत्मघाती सिद्ध हो सकताा है। "वस्तु तत्व के अन्तर्गत कथा सूत्र, मुख्य कथानक, प्रासंगिक कथा, अन्तर्कथा तथा विभिन्न घटनाएं आती हैं। पर शिल्प वस्तु तत्व से अधिक शक्तिमान एवं समृद्ध विधा है, क्योंकि इसके अन्तर्गत वस्तु गठन योजना, चरित्रांकन विधि, संवाद, परिकल्पना, वातावरण नियोजन, विचार संचालन तथा भाषा और शैली तत्व नियोजित होते हैं।" [80]

रूचि का शिल्प–विधि में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि रूचि एवं संस्कार के अनुरूप ही उपन्यासकार किसी कृति का सृजन करता है। पाठक की रूचि की पकड़ भी एक जटिल समस्या है। कथाकार के सामने पाठक की रूचि के साथ–साथ आत्म रूचि का भी प्रश्न होता है। यदि कभी जासूसी कथा की मांग, तिलिस्म के स्वप्न, ऐयारी संसार की सैर पाठक की रूचि का केन्द्र रही है। तो उसी के अनुरूप उपन्यास शिल्प का निर्माण हुआ है। कभी पाठकों की रूचि घटना वैचित्र्य, आकर्षक संवाद और घुमावदार वातावरण वाले उपन्यासों पर केन्द्रित रही और तत्कालीन कथाकारों की रूचि भी उसी के अनुरूप रही। शिल्प ही वह साधन है जिसके द्वारा उपन्यासकार अपने विषय की खोज, जांच पड़ताल तथा विकास करता है। जीवन और जगत बहुतव्यापक है। इनकी तुलना में कथाकार जो मानव–सत्य और मान्यताओं का अन्वेषक है, बहुत छोटा है। कथाकार की भी अपनी सीमाएं होती हैं, उसके अपने संस्कार होते हैं और उसका स्वलन्त्र दृष्टिकोण होता है, जिनके सहारे वह अपने औपन्यासिक शिल्प की रचना करता है।

शिल्प एवं शैली -

शिल्प तथा शैली दोनों का संबंध अभिव्यक्ति से है, अतएव दोनों में पर्याप्त साम्य भी है और विभिन्नता भी। शैली और शिल्प के विषय में विचार करने से पूर्व शैली के लक्षण पर विचार करना भी आवश्यक है।

शैली को संस्कृत के आचार्य वामन ने "रीति" की संज्ञा देते हुए इसे काव्य की आत्मा माना है तथा रीति की परिभाषा इस प्रकारदी है –

"विशिष्ट पद रचना रीति।" [81] इस प्रकार सामान्य धरातल के स्थान पर

विशिष्ट धरातल प्र प्रतिष्ठित करके "रीति" की व्याख्या की गई है। आचार्य वामन का "रीति" शब्द जिस रचना कौशल की ओर संकेत करता है उसका भाव "शैली" में आ गया है। शैली का संबंध शील से अर्थात व्यक्ति के स्वभाव से मानने के कारण उसके अन्तर्गत रचयिता के व्यक्तित्व का समावेश हो जाता हैं "रीति" शब्द से केवल रचना वैशिष्ट्य का ही अर्थ निकलता था परंतु शैली से "व्यक्तित्व विशेष के प्रभाव" का अर्थ निकलने लगा। शैली और लेखक के व्यक्तित्व को इतना अभिन्न माना गया है कि शैली के विश्लेषण द्वारा लेखक के व्यक्तित्व की जानकारी प्राप्त करने का दावा करते हुए श्री राबर्ट पेन वारेन ने लिखा है – "शैली में बनावटीपन को स्थान नहीं, यह तो लेखक के चिन्तन (अर्थात व्यक्तित्व) की स्वाभाविक एवं सही अभिव्यक्ति है।" [82]

शैली में लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता स्वीकार करने के अतिरिक्त इसे "अभिव्यक्ति का विशिष्ट ढंग भी कहा गया है।" [83] इस प्रकार शैली का संबंध रचना कृति के बाहय परिधान से हो जाता है, जिसका निर्धारण भाषा एवं शब्दों के विशिष्ट प्रयोग द्वारा हो जाता है, अभिव्यक्ति के बाहय रूपसे संबद्ध होने के कारण शैली को भाषा का ऐसा रूप चमत्कार कहा जा सकता है, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रधान रूप से विद्यमान रहता है। शैली भाषा का चमत्कार है। इसी कारण भारतीय चिन्तकों ने अभिव्यक्ति की विशिष्टता तथाा भाषा के रूप चमत्कार का मेल होने के कारण शैली को साहित्य रचना के चौथे तत्त्व की संज्ञा दी है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है – (1) शैली का लेखक की आत्मिक या वैयक्तिक विशिष्टता, विचारधारा एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों से घनिष्ठ संबंध होता है। (2) विचार या विषय वस्तु का माध्यम ही शैली है। (3) भाषा–प्रयोग की विशिष्टता एवं प्रेषणीयता ही शैली है। (4) पाठक या श्रोता की विशिष्टता या प्रयोजन वैशिष्टय का भी शैली पर प्रभाव पड़ता है। [84]

शिल्प शैली का दिशान्यास करता है, आवश्यकतानुसार इसे सीमित, विश्लेषित, वर्णनात्मक, सांकेतिक या नाटकीय विधि द्वारा संयोजित करते हुए इसका मार्ग दर्शनकरता है। क्योंकि शिल्प विधि का संबंध रूप–रचना की समस्त प्रक्रियाओं से है अतः किसी भी रचना की शिल्प विधि की खोज करने के लिए हमें उस रचना में काम आने वाली विधियां, रीतियां तथा अन्य ढंगों की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। शिल्प–विधा का संपूर्ण ढांचा है तो शैली उस ढांचें की अभिव्यक्ति की रीति है। इसीलिए शैली की जानकारी के लिए शिल्प की भांति

पूर्ण ढांचे पर ध्यान न देकर इसके कथ्य, पात्रों, वातावरण, जीवनदर्शन आदि अन्य तत्वों पर केन्द्रित न करके इसकी भाषा, भाषा प्रवाह की रीति (मन्द, द्रुत, व्याख्यात्मक, समासात्मक) आदि पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ती है।शिल्प शैली का स्वामी है। शिल्प का लक्ष्य यही रहता है कि कथा किस भांति संयोजित हो, पात्र किस प्रकार नियोजित हों, जीवनदर्शन किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए आदि–आदि। शिल्प के इस लक्ष्य की प्राप्ति में सबसे बड़ी सहायक शैली है।

अभिव्यक्ति की समस्त प्रक्रियाओं से संबंध होने के कारण जहां शिल्प–विधि का क्षेत्र व्यापक है, शैली का क्षेत्र संकुचित हैं शिल्प वस्तुपरक है, तो शैली व्यक्तिपरक है। साहित्यकार की रूचि उसके शिल्प को तो प्रभावित करती है, परन्तु उसके अनुरूप ही शिल्प का निर्माण नहीं हुआ करता है, अनुकरण होता है, जबकि शैली तो कथाकार की रूचि के अनुरूप ही नियोजित होती है। समाज, इतिहास या अंचल का प्रबन्धात्मक चित्रण मात्र वर्णनात्मक शिल्प विधि द्वारा ही संयोजित हो सकता हैं अतएव यह वस्तुपरक हुआ, जबकि समाज, व्यक्ति, इतिहास या मनोविज्ञान आदि किसी भी विषय–वस्तु के चित्रण के लिए अनिवार्य रूप से किसी एक शैली को अपनाना उपन्यासकार के लिए आवश्यक नहीं है। "गबन", "परख", "सुनीता", "लज्जा", "सन्यासी", "शेखर एक जीवनी", "नदी के द्वीप" – प्रेमचन्द्र, जैनेन्द्र, जोशी तथा अज्ञेय की श्रेष्ठतम रचनाएं शिल्प की दृष्टि में वस्तु अनुरूप शिल्प द्वारा नियोजित हुई रचनाएं हैं, जबकि इनमें तदानुकूल शैली वैविध्य वस्तुपरक न होकर विषय–प्रधान है।

उपन्यास शिल्प के प्रकार -

शिल्प–प्रकार के संबंध में अधिकांश आलोचक निश्चयात्मक रूप के कुछ कहने में संकोच करते रहे हैं। प्रसिद्ध आलोचक डा0 त्रिभुवन सिहं लिखते हैं – "ऐसे ही न जाने कितने प्रयोग आधुनिक उपन्यास साहित्य में किये जा रहे हैं। यह उस का विकासकाल है, अतः शिल्प–प्रकार के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना न तो संभव है और न उचित ही।" [85] उपन्यास शिल्प के पांच प्रकार हैं – [86]

(1) वर्णनात्मक शिल्प–विधि (Descriptive Technique)
(2) विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि (Analytical Technique)
(3) प्रतीकात्मक शिल्प–विधि (Symbolic Technique)

(4) नाटकीय शिल्प–विधि (Dramatic Technique)
(5) समन्वित शिल्प–विधि (Mixed Technique)

इस विभाजन के आधार पर नागार्जुन के औपन्यासिक शिल्प का विवेचन किया जा रहा है।

वर्णनात्मक शिल्प-विधि -

वर्णनात्मक शिल्प–विधि, में उपन्यास में जीवन के विस्तृत क्षेत्र का चित्रण विवरण सहित किया जाता है। चित्रण को बढ़ा–चढ़ाकर व्याख्या सहित प्रस्तुत किया जाता है। इस विधि को अपनाने वाला कथाकार जीवन के किसी भी क्षेत्र को अपनी कथा का माध्यम बना सकता हैं घटना–बाहुल्य, पात्र–आधिक्य, लम्बे–संवाद तथा भाषण–योजना इसी विधि से सरलतापूर्वक चित्रित की जा सकती है। इस विधि में कथाकार को वातावरण के प्रसार तथा दार्शनिक विवेचन की भी पूर्ण सुविधा रहती हैं। हिन्दी उपन्यास में इस विधि का प्रयोग सर्वप्रथम उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने किया है।

वर्णनात्मक शिल्प–विधि के उपन्यासों का कथानक इतिवृत्तात्मक होता है। इसमें घटनाओं का एक जाल सा बिछ जाता हैं कथावस्तु अधिकतर तिहरी या दुहरी होती है। कथा–भाग सुन्दर, भले ही संगठित न हो किंतु इस विधि की रचना में एक विशेष विचार, एक समस्या अवश्य ही उठाई जाती है और यथासंभव उसका हल भी जुटाने का प्रयास उपन्यासकार करता है। उठाए जाने वाली समस्याओं में अधिकांशतः सामाजिक होती हैं किंतु कतिपय रचनाओं में आर्थिक, धार्मिक राजनैतिक प्रश्न भी उठाये गए हैं। इस शिल्प विधि के उपन्यासों के कथावस्तु व्यापक होती है जिससे कहीं–कहीं पर अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश हो जाता हैं वर्णनात्मक शिल्प–विधि के चरित्र–चित्रण में पात्रों की संख्या अधिक होती है। ये पात्र अधिकतर किसी न किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपन्यासकार का ध्यान कथा और चरित्र के साथ–साथ विचार और समस्या की ओर भी केन्द्रित रहता है। वर्णनात्मक शिल्प विधि में लिखा गया उपन्यास साहित्य चार शैलियों में उपलब्ध है। अतः शैली की दृष्टि से इसे चार रूपों में देखा जा सकता है –[87]

(1) अन्य पुरूष शैली,
(2) आत्मकथात्मक शैली,
(3) पत्र शैली,

(4) डायरी शैली

नागार्जुन के अधिकांश उपन्यासों में वर्णनात्मक शिल्प को अपनाया गया हैं वर्णनात्मक शिल्प के उपन्यास हैं – "रतिनाथ की चाची", "बलचनमा", "नई पौध", "वरूण के बेटे", "दुखमोचन", "उग्रतारा", "इमरतिया", तथा "कुंभीपाक"। "बलचनमा", "बाबा बटेसरनाथ" तथा "इमरतिया" में आत्म कथात्मक शैली का प्रयोग किया गया है जबकि "रतिनाथ की चाची", "नई पौध", "वरूण के बेटे" "दुखमोचन", "कुंभीपाक" तथा अन्य पुरूष शैंली में लिखे गए उपन्यास हैं।

"रतिनाथ की चाची" वर्णनात्मक शिल्प का उपन्यास हैं शिल्प के क्षेत्र में इसमें कुछ नवीनता नहीं है। इस उपन्यास के माध्यम से समाज द्वारा प्रताड़ित एक कुलीन विधवा के जीवन की करूण कथा का चित्रण है। विधवा समस्या हिन्दू समाज के लिए एक कोढ़ के समान है। गौरी पाठक के सामने अपनी समस्त संवेदनाएं जिस प्रकार रखती है, पाठक उससे प्रभावित होता चला जाता हैं किंतु अंत में नागार्जुन ने समस्या को समस्या के हल के बिना ही छोड़ दिया है जिससे उपन्यास दुखांत बनकर रह गया है।

"नागार्जुन के उपन्यास "रतिनाथ की चाची" के मूल में समाजवादी बोध है जो इसके वस्तु–शिल्प को रूपायित करता है। इस तरह "गोदान" का सामाजिक उद्देश्य, जिसका स्वरूप सामान्य है, "रतिनाथ की चाची" में विशिष्ट रूप धारण करता है, समाजवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रभावित है। आधुनिकता की प्रक्रिया मार्क्सवादी चिन्तन से प्रेरित जान पड़ती है।" [88]

"रतिनाथ की चाची" में मिथिला के जीवन में व्याप्त सामाजिक समस्याओं का प्रभावशाली ढंग से उदघाटन किया गया है। मिथिला के ब्राह्मणों में कुलीनता के प्रति बड़ा मोह हैं कुल उच्च हो चाहे वह व्यक्ति कितना ही निर्धन हो कई–कई विवाह करके "बिकौआ" [89] बन जाता था। उच्च कुल में कन्या का विवाह करने की सनक का शिकार गौरी भी बनी। महादरिद्र, दमा के रोगी, प्रकृति के सुस्त गौरी के पति कुलीनता में बड़े थे। दो सन्तानों को छोड़कर गौरी की युवा अवस्था में ही स्वर्गवासी हो गए और वैधव्य का भार ढोने के लिए गौरी को छोड़ गए। रतिनाथ के पिता जयनाथ विधुर हैं और गौरी विधवा। स्वाभाविक था कि वे एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते। जयनाथ से गौरी को गर्भ रह जाता है। समाज की टीका टिप्पणी से भयभीतहोकर वह अपनी माँ के घर जाकर गर्भ गिराने में सफल हो जाती हे। लेकिन उसकी यह भूल उसके लिए जीवन भर का अभिशाप बन

जाती है। समाज से बहिष्कृत, अपने पुत्र उमानाथ और पुत्री प्रतिमा से प्रताड़ित गौरी को एकमात्र स्नेह मिलता है जयनाथ के पुत्र रतिनाथ से। समाज गौरी की घटना को भुला भी देता है लेकिन उसका अपना पुत्र जयनाथ उसे मरने के बाद भी क्षमा नही कर पाता और गौरी का अन्तिम संस्कार रतिनाथ के द्वारा ही होता है। परिच्छेद – 14 में वर्णित विधवा निवास की सुशीला की कथा अनावश्यक प्रतीत होती है।

"रतिनाथ की चाची" में उस अंचल में बोली जाने वाली भाषा का प्रयोग हुआ है। गाजी–गलौच ही नहीं, साधारण बोलचाल की भाषा में भी स्थानीय भाषा का पुट है। विवरण और विश्लेषण की भाषा आंचलिक रूपों के प्रयोग से स्वाभाविक बन गई है। पात्रों के चरित्र वर्णन में बाह्य आकार, रूप, वेश–भूषा आदि का विस्तार पाया जाता है।[९०]

गौरी का चरित्र उसी के इस कथन का प्रतिरूप है – "किसी भी युग में स्त्री को अमृत पीने का सुयोग नहीं मिला। पुरूष को अमृत पिलाकर वह विष–पान ही करती आई है।"[९१] रतिनाथ के चरित्र में लेखक के निजी जीवन को भी आंका जा सकता है। उपन्यास के केन्द्र में रतिनाथ की चाची का निजी व्यक्तित्व है। उसका स्वाभिमानी एवं स्नेहशील स्वभाव उसे स्वस्थ दृष्टिकोण की देन है। ताराचरण का व्यक्तित्व समाज में नई समाजवादी जाग्रति का प्रतीक है। दयमन्ती सामाजिक रूढ़ियों और अपनी कुटिल बुद्धि द्वारा ग्रामीण नारी समाज का संचालन करती है। रतिनाथ के चरित्र को रेखांकित करने का उद्देश्य भी गौरी को गौरवान्वित करना है।[९२] उपन्यास में नागार्जुन ने समाजवादी यथार्थवाद को चित्रित करने का प्रयास किया है और इसमें वे सफल भी हुए हैं।

शिल्प की दृष्टि से उपन्यास सफल नहीं कहा जा सकता है। आरंभ से अंत तक कथानक की शिथिलता और मंद गति से पाठक ऊबने लगता है। नीरस प्रसंगों की भी उपन्यास में कमी नहीं है। वास्तव में गौरी के गर्भ गिराने तक ही कथानक अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाता है बाद में अन्त तक उसे व्यर्थ ही घसीटा गया है। उपन्यास की भाषा, अंचल की संस्कृति का चित्रण, गौरी का चरित्र चित्रण ही शिल्प की दृष्टि से सफल प्रतीत होते हैं।

"बलचनमा" आत्मकथात्मक शैली के रूप में लिखा गया एक सफल आंचलिक उपन्यास है। "बलचनमा" की रचना वर्णनात्मक शिल्प–विधि के अन्तर्गत आती है। "उपन्यासकार नागार्जुन लोक–जीवन और देहात की सामंती

संस्कृति के बीच से उगे और उठे हुए एक साधारण जन है। वे उत्तर बिहार के छोटे से मैथिल अंचल के ग्रामीण पंडित हैं। वे मार्क्सवादी लेखक हैं। यह सब कुछ उन्होने अपने जीवन–अनुभवों को गहराई से देखा–समझा पाया है। –––––– नागार्जुन ने "आंचलिकता" के केन्द्र को नये और अछूते अंचल के मोह से बाहर निकालकर उसे वैज्ञानिक प्रक्रिया ओर सामाजिक चेतना के समकालीन हाशियों से जोड़ा। "बलचनमा" में एक ऐसा ही सशक्त एवं सार्थक विकास हुआ है।"[93] "बलचनमा" में बिहार राज्य के दरभंगा जिले के जमींदारों के शोषण का वर्णन बालचंद राउत उर्फ बलचनमा द्वारा किया गया है। आधा खेतिहर–मजदूर, आधा–किसान, "बलचनमा" इस उपन्यास का नायक है। जमींदारों द्वारा निर्धनों पर किए गए अत्याचारों का वर्णन उपन्यास में विशेष रूप से किया गया है। अपने जीवन की प्रथम स्मृति के रूप में जमींदारों द्वारा किए गए निर्दयी कृत्यों और निर्धनों की बेबसी के वर्णन से ही वह उपन्यास को प्रारम्भ करता है।

"बलचनमा" में आंचलिक भाषा का बड़ा सधा हुआ प्रयोग देखने को मिलता है। चूंकि उपन्यास आंचलिक है, अतः गाली–गलौच ही नहीं, साधारण बोल–चाल की भाषा में भी क्षेत्रीय–पुट है। पात्रों के चरित्र–चित्रण में बाह्य आकार, रूप, वेश–भूषा आदि का विस्तार देखने को मिलता है। छोटी मालकिन की नौकरानी की वेश–भूषा, रूप आदि का वर्णन मे इसी प्रकार का विस्तार देखने को मिलताा है।[94] "बलचनमा" में मैथिल भूमि के रहन–सहन, रीति–नीति, धर्म, भाषा तथा लोकगीत आदि जीवन की छोटी से छोटी घटना का चित्रण भी अति विस्तार के साथ किया गया है। नायक की अनुभूतियां सीमित नहीं हैं। हर अनुभूति ने उसे एक नया पाठ पढ़ाया है और उसके परिवर्तित गतिशील चरित्र के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है। उसमें मानवीय संवेदना पूर्ण रूप से विद्यमान है, किन्तु इसी मानवीय संवेदना का अभाव उसे अपने निकटवर्ती समाज और व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होता है उसके मालिक उसकी सयानी बहिन रेवती को छेड़ते हैं यह घटना उसके लिए अप्रत्याशित नहीं है, क्योंकि वह जमींदारों के पाशविक–रूप से परिचित है, किंतु जब वह भागकर जान बचाता हुआ फूल बाबू के पास पहुंचता है और उनसे सारी घटना का सार कहता है, वे भी इस मामले की अवज्ञा कर देते हैं, तब उसके पांव तले से धरती खिसक जाती है, यह उसके जीवन की नवीनतम अनुभूति है, जो उसके संस्कारों, विश्वासों और सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन ले आती है। उसे क्रान्ति की ओर उग्रसर करती है। वह अपने

स्वत्व के लिए मर मिटने को तैयार हो जाता है।[95] देहाती जीवन की साधारण घटनाओं को सूत्रित करने में उसके छोटे–छोटे सुखों के सूक्ष्म निरीक्षण तथा सजीव चित्रण में, जमींदारों के निरंकुश व्यवहार तथा उत्पीड़न में नये जीवन के स्पंदन में, अंचल विशेष के मुहावरों को पकड़ने में, तदभव शब्दों के प्रयोग में पग–पग पर परिवेश की गन्ध में उपन्यास का ताना–बाना बुना गया है।[96]

शिल्प की दृष्टि से "बलचनमा" नागार्जुन का एक श्रेष्ठ उपन्यास है। अंचल के चित्रण में यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाना, कथानक के आरम्भ–अन्त की कुशलता, बलचनमा की चारित्रिक सजीवता, विषय की एकता, आत्म–कथात्मक पद्धति की आत्मीयता तथा रमणीयता ने उपन्यास को प्रभावशाली बना दिया है। डा0 रमेश कुन्तल मेघ का कथन है – " "बलचनमा" उपन्यास विधा का चुनौती देता है। आत्म कथा शैली में लिखा गया यह उपन्यास विशेष अंचल (दरभंगा जिला) तथा विशेष वर्ग (खेतिहर मजदूर) पर केन्द्रित है। इसलिए इसकी पहली प्रामणिकता अंचल के भौगोलिक एवं प्राकृतिक विवरण में है जो ग्रामीण संस्कृति के रूप विधायक हैं। दूसरी प्रमाणिकता इसकी अति साधारण जनता का अति साधारण परिवेश है जो सच्चा और जीवंत है। इसकी तीसरी प्रमाणिकता पात्रों की पहचान तथा उनके माध्यम से समाज के अंतर्विरोधों एवं समस्याओं की समझ है। चौथी प्रामाणिकता एक जनपदीय भाषा और नई कथा शैली की खोज है।"[97]

"नई पौध" में उपन्यासकार ने हिन्दू समाज की एक और समस्या "अनमेल विवाह" को उठाया है और उठाया ही नहीं उसका समाधान भी सुन्दर ढंग से किया है। यदि हमारे ग्रामीण युवक "बमपाटी" की तरह ग्रामीण समस्याओं के प्रति जागरूक हो जायें तो समाज और राष्ट्र उत्थान असंभव नहीं है। शिल्प की दृष्टि से उपन्यासकार ने कोई नया चमत्कार तो नहीं दिखाया है पर " सौराठ" के मेले में विवाह के लिए सौदेबाजी, मधुबनी के न्यायालय का दृश्य, ग्रामीण क्षेत्र में चीनी, मिट्टी के तेल के वितरण की धांधली, ब्राह्मणों के विभिन्न क्रिया कलाप और वर्तमान शासन की यत्किंचित आलोचना, इन सब ने मिलकर कथा–शिल्प को सरस और सुगठित बना दिया है। इसी से विषय वस्तु के नवीन न होने पर, और कथानक के साधारण होने पर भी आरंभ से अंत तक रोचकता का निर्वाह हुआ है। "आंचलिक" शब्द प्रयोग आदि के द्वारा यथार्थ सामाजिक जीवन के चित्रित किये जाने से मिथिला का अंचल सजीव साकार हो उठा है। वर्णनात्मक

शिल्प में लिखा गया यह उपन्यास "रतिनाथ की चाची" की अपेक्षा अधिक सफल है।

उपन्यास में मैथिल ब्राह्मणों के समाज की कुरीतियों, आडम्बर और रूढ़ियों पर कटु प्रहार किया गया है। खोंखाई झा एक प्रसिद्ध कथावाचक है जिनकी जजमनिका कई जिलों में है। अपनी छः पुत्रियों को वे लालचवश पैसे लेकर, अपात्रों के हाथ कन्यादान देकर उऋण हो चुके हैं। बिसेसरी उनकी लड़की की पुत्री है और उसके साथ भी वे ऐसा ही करना चाहते हैं। 14 वर्षीय बिसेसरी का विवाह 60 वर्षीय चतुरानन चौधरी के साथ नौ सौ रूपए लेकर तय कर दिया जाता है। गांव के प्रगतिशील नवयुवक इसका विरोध करते हैं और वृद्ध चतुरानन चौधरी को गांव से खाली हाथ भागना पड़ता है। बाद में प्रगतिशील विचारों के युवक नेता दिगम्बर के बाल्यमित्र वाचस्पति से बिसेसरी का विवाह बिना किसी आडम्बर के सम्पन्न हो जाता है। इस विवाह में परम्परागत रूढ़िवादिता की पराजय और "नई पौध" की विजय होती है।

उपन्यासकार ने खोंखाई झा, घटकराज, माहे, बूलो, दिगम्बर दुर्गानन्द तथा चतुरानन चौधरी आदि के चरित्र में सजगता दिखाई है। चरित्रों को यथार्थ जीवन से चुना गया है और सभी पात्रों के पारिवारिक इतिहास की ओर संकेत कर उनके चारित्रिक विकास के लिए अनुवांशिक एवं पारिवैशिक पृष्ठभूमि तैयार की है जिससे पात्र विशेष को यथार्थ रूप में समझा जा सके।

उपन्यास में स्थानीय प्रचलित शब्दों, बोलियों, मुहावरों, लोकोक्तियों तथा किंवदन्तियों का प्रयोग, लोकगीतों का माधुर्य स्थल–स्थल पर जुड़ा हुआ मिलता है। एक विद्वान आलोचक का यह कथन सर्वथा उचित है – "यह रचना अपनी सभी पहली खामियों से वंचित है। न तो इसमें कहीं भद्दगी है और न किसी प्रकार के राजनीतिक या सैद्धान्तिक विचारों का अन्य मोह ही है। कवि, लेखक और कलाकार को जिस प्रकार क्षुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठकर जीवन में मुक्त हृदय होकर प्रवेश करके उसकी रसानुभूति करना चाहिए, वैसी दृष्टि नागार्जुन के इस नये उपन्यास में है।" [98]

"वरूण के बेटे" में नागार्जुन ने मछुओं के जीवन का यथार्थ चित्रण वर्णनात्मक शिल्प–विधि के द्वारा प्रस्तुत किया है। "मछुओं के जीवन–संघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए उनके जीवन्त–परिवेश की अवतारणा की गई है। उनके रीति–रिवाज, भाषा–गीत, सभी उनके जीवन–यथार्थ को सजीवता से उभारते

हैं।" ⁹⁹ "वरूण के बेटे" एक सशक्त आंचलिक उपन्यास होते हुए भी शिल्प की दृष्टि से कमजोर उपन्यास सिद्ध होंता है। उपन्यास में दो कथा स्थल हैं – मलाही गोंढ़ियारी का ग्राम्यांचल जहां मछुओं के जीवनाधार गढ़पोखर की बेदखली और उसकें फलस्वरूप संघर्ष होता है।द्वितीय स्थल है चमुड़िया स्टेशन है, जहां बाढ़ पीड़ित लोग पहली बार संगठन तथा सहयोग का पाठ सीखते हैं और अपनी यातनाओं को असहाय ढंग से सहने का संकल्प करते हैं।

गढ़–पोखर मीलों लम्बा जलाशय है जो मछलियों का अमित भंडार है। मछुओं का जीवन इसी पर आधारित हैं जमींदारी उन्मूलन के समय जमींदारों ने गढ़–पोखर को बेचना शुरू कर दिया। नये जमींदार ने इस जलाशय को अपने बन्दोबस्त में ले लिया मछुए इसका विरोध करते हैं। यही संघर्ष उपन्यास का मुख्य विषय है। इस संघर्ष में मछुआ संघ की स्थापना होती है। मोहन मांझी, खुरखुन, भोला, मंगल तथा मधुरी अब एक जुट होकर इस नई विपत्ति से जूझते हैं।अन्त में पुलिस इन सब को पकड़कर ले जाती है, लेकिन मछुआ–संघ निश्चय अटल रहता है कि वे किसी भी स्थिति में घुटने नहीं टेकेंगे। मोहन मांझी द्वारा दिया गया ओजपूर्ण भाषण वर्णनात्मक शिल्प का ज्वलन्त उदाहरण है। रेहू, मोदनी, भाकुर, बुआरी, भुन्ना, नैनी, सिंगी, मुंगरी आदि मछलियों की नामावली तथा मछलियां पकड़ने का ढंग वर्णनात्मक शिल्प में वृद्धि करते हैं।

शिल्प–विधि की एक विशिष्टता उपन्यास में दृष्टिगोचर होती है वह है – प्राकृतिक वातावरण के उद्‌दीपन द्वारा वातावरण की पुष्टि किया जाना। प्राकृतिक वातावरण एक विशिष्ट जाति और व्यवसाय से संबंधित है, जो बिल्कुल नवीन है, यही कारण है कि उसमें लोक–संस्कृति की ताजगी, सामाजिकता की प्राणमयता तथा वातावरण की मौलिकता है। वातावरण की सृष्टि में ध्वनियों का प्रयोग चित्र–शैली को उपन्यास कला का भी तथा टेकनीक का भी एक विशिष्ट अंग बना देता हैं। वातावरण की सृष्टि के लिए दस मन भारी महाजाल का डाला जाना, डालने की संपूर्ण क्रिया का वर्णन मनोहारी है। मछुओं का उल्लास और ताल उनके द्वारा गाए जाने वाले गीत से प्रकट होता है। "तीव्र संवेदना और कल्पना–दृष्टि को उन्मुक्त करने में यह लेखक का नया टेकनीक है जो "बाबा बटेसरनाथ" की प्रतीकात्मकता से आगे और अन्य सब उपन्यासों की वर्णनात्मकता के अतिरिक्त कलात्मकता का अधिक ध्यान रखता है।प्रथम परिच्छेद में भेला–खुरखुन का केले के थंभों की नाव पर सवार होकर कड़ाके की

ठंड, अथाह पानी और नीले आकाश तले शिकार करना या महाजाल पड़ने के वातावरण की सजीवता और मादकता कला, वातावरण सृष्टि, भाषा–क्षमता सभी की दृष्टि से श्रेष्ठता की एक परिणति है।" [100]

उपन्यास का रचना–तंत्र अत्यंत शिथिल है। कुछ परिच्छेद अनावश्यक प्रतीत होते हैं, और उपन्यास की मुख्य धारा के साथ उनका कोई प्रवाह नहीं है। ऐसे प्रसंगों में जैसे खुरखुन का ताडीशाला जाना और वहां पर ताड़ी पीकर मस्त होना, खुरखुन का मगर का शिकार करना आदि। कुछ परिच्छेद उपन्यासकार ने शायद ग्रामीण प्रथाओं या किसी ग्रामीण पहलू को चित्रित करने के लिए जोड़ दिए हैं। "------ इस प्रकार के परिच्छेद कथावस्तु या कार्य व्यापार को वेग देने के उद्देश्य से किंचित असंबद्ध भी हैं। किंतु इसके साथ ही रचना–तंत्र में एक अन्य सौन्दर्य है, वह है – विपरीत – दृश्यों (Contrasting pictures) का। एक वातावरण का चित्रित करनेके बाद उसी परिच्छेद मे ही बिल्कुल उसके विपरीत या विरोधी (Complementary) वातावरण को चित्रित किया गया हैं इस रचना–कौशल द्वारा लेखक ने भावी–समाजवादी देश और संक्रातिकालीन–वर्तमान देश की तुलना तो की ही है, साथ ही साथ लोक–संस्कृति, लोक–कला एवं प्रचलित साहित्य–सोद्देश्यता, आदर्शोन्मुखता एवं वास्तविकता, मधुरता एवं संवेदना को भी एक ही रंग पटल पर द्वंद्वात्मक कंट्रास्टों के रूप में रखा है।" [101] "वरूण के बेटे" में लघु उपन्यास की दुर्बलताएं और सीमाएं है तथा रचना शिल्प में भी कुछ कमियां हैं लेकिन कलात्मक आयामों में ग्रहण शीलता है।

"दुखमोचन" में उपन्यासकार ने टमका कोइली गांव के नवनिर्माण की गाथा प्रस्तुत की है। ग्रामीण अंचल में व्याप्त गुटबन्दी, ईर्ष्या–द्वेष, चोरी–चकारी, गाली–गलौच, गन्दगी, नैतिक, धार्मिक धारणाओं का दंभ, नशा व्यभिचार केवल टमका कोइली का ही कहानी नहीं है बल्कि देश के नाना ग्रामों की कहानी है। दुखमोचन का यह कथन उपयुक्त ही है – "कौन सी बदमाशी छूटी है गांव वालों से । लोभ–लालच, छल–प्रपंच, झूठ–बेईमानी, ठगी और विश्वासघात -------- वह कौन सा औगुन है जो यहां नहीं है।" [102] "दुखमोचन" वर्णनात्मक शिल्प विधि की रचना है जिस का नायक दुखमोचन है। दुखमोचन इसी टमका कोइली गांव का पला हुआ मुसीबतों का मारा एक टाइप पात्र है। यह उपन्यास नागार्जुन की उपन्यास–धारा से हटकर है। कथानक सीधा–सादा हैं घटनाओं

की जटिलता भी इसमें देखने को नहीं आती है। कथानक में कहीं भी चरम सीमा नहीं आने पाती है। गांव के यथार्थ चित्रण के साथ–साथ लेखक ने आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया है। कपिल और माया की कथा के माध्यम से विधवा–विवाह की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

"दुखमोचन" में नागार्जुन ने "किसी वाद या मत विशेष से प्रभावित न होकर तत्कालीन शासन व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया है।"[103] ग्रामीण जीवन का नागार्जुन ने स्वंय अनुभव किया है अतः खेतों, खलिहानों, बैल और ग्रामीण जीवन के अन्य रमणीक चित्र अंकित करने में वे सफल हैं। "बैल बस दो थे – तन्दरूस्त और नाटे कद के। सूरत उनकी संवलिया थी ––––––– जिन खेतों में धान उपजते हैं, बैसाख–जेठ की जुताई के समय उनकी मिटटी बेहद कड़ी होती है। जवान हलवाहा हो, मजबूत बैल हों, तेज़ और नुकीली फार हो, तभी वे खेत जोते जा सकते हैं।"[104] नागार्जुन ने ग्रामीण जीवन की समस्याओं का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। ग्रामी के किसानों की समस्याएं, आपसी फूट, वैवाहिक नियम के जड़ बन्धन आदि का यथार्थवादी अंकन उन्होंने किया है। इस प्रकार उपन्यास के पात्र तो आंचलिक कहे जा सकते हैं, उनकी भाषा मं आंचलिकता नहीं हैं केवल ग्रामीण वातावरण ही उपन्यास का सजीव पक्ष कहा जा सकता है।[105] शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास विशेष सफल नहीं रहा है।

"कुंभीपाक" वर्णनात्मक शिल्प–विधि का एक सफल उपन्यास है जिसमें उपन्यासकार ने विधवा, असहाय या निराश्रित महिलाओं के जीवन को आधार बनाया है। किस प्रकार ये महिलाएं अधेड़ और घुटी हुई तबियत के लोगों की वासना का शिकार बन कर जीते जी कुंभीपाक का नरकीय जीवन जीने को विवश हो जाती हैं। इन सभी स्थितियों में नारी के सामने एक प्रश्न आता है कि वह इस नरक से छुटकारा कैसे पाये और किस प्रकार सम्मानपूर्वक जीवन यापन करे। चम्पा और भुवन दो नारी पात्रों के माध्यम से नागार्जुन ने समाज में व्याप्त सडांध, अनैतिकता, अवसरवादिता, राजनीतिक स्वार्थपरता का सुन्दर यथार्थवादी चित्रण किया है।

"कुंभीपाक" के कथानक का ताना–बाना चम्पा के जीवन परिवर्तन की घटना, प्रकाशकों द्वारा लेखकों का शोषण, महिम और मामी की प्रेम कहानी आदि घटनाओं से अच्छी प्रकार पूरा किया गया है। चम्पा के पिछले जीवन के बारे, उपन्यास के मध्य में उसके मन में उभरते विचारों से ज्ञात होता है। शिल्प

की दृष्टि से उपन्यास रोचक हैं बहुत सी ऐसी घटनाएं उपन्यास में हैं जिनका मुख्य घटना से सम्बन्ध नहीं है, किंतु उनके माध्यम से यथार्थ रूप हमारे सामने उभरकर आता है। "यह उपन्यास गल्जवर्दी आदि से प्रभावित है, जहां वर्णन का विस्तार देखने को मिलता है। ऐसे उपन्यासों में छोटी–से–छोटी वस्तु का भी वर्णन होता है। "कुंभीपाक" में दो रूपये दो आने की मद्रासी लुंगी से लेकर लेमनचूस, बिस्कुट, अखबार, हॉकर, कोयलावाला, चोली में साबुन लगाना, सेकेण्ड हेण्ड सिलाई मशीन, पान के बीड़े आदि तक की चर्चा होती है। बीच–बीच में सामयिक समारोहों की चर्चा आती है ––––––।" [106]

पात्रों के चरित्र–चित्रण में भी लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। पात्रों के चरित्र परिवर्तनशील हैं। पात्रों के अन्तर्द्वन्द के द्वारा भी उनके चरित्र को उभारने में लेखक ने कुशलता का परिचय दिया हैं उम्मी की मां, तथा चम्पा के पूर्व जीवन के बारे में उनके अन्तर्द्वन्द से ही पाठक को ज्ञात होता है। रंजना के स्वप्न द्वारा उनके अंतर्द्वन्द का सूक्ष्म–चित्रण किया गया है। [107] पात्र और चरित्र–चित्रण में कुछ असंगतियां भी आ गई हैं : जैसे – चम्पा के चरित्र चित्रण में। [108] कुल मिलाकर "कुंभीपाक" शिल्प के दृष्टिकोण से एक सफल उपन्यास है।

"उग्रतारा" नागार्जुन का एक और सामाजिक उपन्यास है जिस में एक अन्य सामाजिक समस्या को उठाया गया है : वह समस्या है – उगनी जैसी विधवा नारियों की जो समाज के भेड़ियों द्वारा भ्रष्ट की गई है। समाज में बढ़ते व्यभिचार को रोकने के लिए भी लेखक ने रचनात्मक समाधान प्रस्तुत किए हैं। यह उपन्यास भी वर्णनात्मक शिल्प विधि में लिखा गया है पर अन्तर्द्वन्दों और मनोवैज्ञानिक चित्रण ने इसके शिल्प को नया स्वरूप प्रदान कर दिया है। कथानक में घटनाओं का संगुम्फन इस प्रकार किया गया है कि आरम्भ से अन्त तक पाठक के मन में कौतुहल बना रहता है। जेल का आन्तरिक व बाह्य चित्रण, मठिया में उगनी और कामेश्वर की भेंट के दृश्य और अन्य घटनाएं राजीव बन पड़ी हैं। लेखक ने एक–के–बाद–एक घटना पर से पर्दा उठाया है और इस प्रकार पाठक की एक–एक जिज्ञासा की तृप्ति धीरे–धीरे की है।

एक आलोचक ने लिखा है – "उग्रतारा" में नागार्जुन एक उठायी गयी समस्या उठाते हैं, "फिर उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं, लेकिनदृष्टिकोण परिचित है, भावुकता, रूमान और पुरानी।" [109] किंतु उपन्यास की समस्या रूमानी

और भावुकता से पूर्ण न होकर एक श्रेष्ठ समाज की स्थापना के लिए उठाया जाने वाला कदम है। उपन्यास का नायक कामेश्वर पराये गर्भ को ढोने वाली प्रेमिका को फिर से बिना हिचकिचाहट के अपनाता है, यह कदम साहसिक प्रगतिशील और विस्तृत दृष्टिकोण का परिचायक है। उगनी परिस्थितियों में विवश होकर उसके जेल के वार्डर भभीखन सिंह से शादी करनी पड़ती हैं उगनी प्रेम और विवाह की इन दोनों स्थितियों में अलग–अलग ईमानदारी से जीती है और कामेश्वर से भेंट होने पर वह बिना किसी संकोच या हिचकिचाहट के भभीखन सिंह को छोड़कर कामेश्वर के साथ चली जाती है। कामेश्वर के पास पहुंचकर वह भभीखन सिंह को पत्र लिखती है जिसमें उसकी संतान को समय आने पर सौंपने की बात वह कहती है। इस पत्र से उगनी की अलग–अलग ईमानदारी का परिचय मिलता है।

उगनी के चरित्र–चित्रण को उभारने में उपन्यासकार ने मनोविज्ञान का सहारा लिया है। उगनी के आंतरिक रहस्य को प्रकट करने के लिए आत्म–विश्लेषण की टेकनीक अ[illegible]यी है जो अपेक्षित प्रभाव छोड़ने में समर्थ हैं उपन्यास के सभी पात्र लगभग यथार्थ के धरातल पर ही जीते हैं। कामेश्वर का चरित्र चित्रण भी ढंग से किया गया है। औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से उपन्यास काफी सफल है। वातावरण तथा वर्णनात्मकता का अनावश्यक विस्तार कथानक में नहीं है। कथा की तीव्र गति, संवेदनात्मक अनुभूति एवं सांकेतिकता ने उपन्यास को काफी रोचक बना दिया है। "उपन्यास शिल्प की दृष्टि से कदाचित नागार्जुन का यह सबसे सफल उपन्यास है।" [110]

"इमरतिया" वर्णनात्मक–शिल्प का एक पात्र मुखोद्‌गीरित उपन्यास है। इस तरह के शिल्प में उपन्यासकार को जिस प्रकार की दक्षता अपेक्षित है नागार्जुन उसमें सफल रहे हैं। कथा के चार मुख्य पात्र हैं, माई इमरतीदास, बाबा, मस्तराम तथा भगौती। उपन्यास के चारों पात्र अपने मुंह से अपनी बात कहते हैं, इससे स्वाभाविकता और रोचकता आ गई है। चरित्र–चित्रण के लिए अभिनयात्मक विधि का प्रयोग किया गया है जिसमें समस्त पात्र कथा को अपने कथन के द्वारा आगे बढ़ाते हैं और अन्य पात्रों का तथा अपना परिचय भी प्रस्तुत करते चलते हैं। "इमरतिया" उपन्यास "जमनिया का बाबा" नाम से भी प्रकाशित हुआ है। इन दोनों उपन्यासों में परिच्छेदों का क्रम बदल गया है। श्री विजेन्द्र नारायण सिंह ने यह प्रश्न उठाया है – "क्या किसी उपन्यास का कोई परिच्छेद कहीं भी रखा जा

सकता है। क्या उसके क्रम–निक्षेप में कथा की कोई अन्विति नहीं रहती।"[111] उपन्यासकार ने दोनों ही उपन्यासों में जिस प्रकार घटनाओं का गुम्फन किया गया है उसमें कहीं भी कोई कमी दृष्टिगोचर नहीं होती है। एक उपन्यास को चाहे किसी भी कारण से उन्होने दो शिल्पों में रखा है पर शिल्प की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि ही कही जायेगी।

नेपाल की तराई को छूता हुआ बिहार का उत्तरी भूभाग इन दिनों तस्कर व्यापार का मुख्य केन्द्र बना हुआ है। जमींदारों और व्यापारियों ने इस क्षेत्र में सरकार और जनता की आंखों में धूल झोंकने के लिए धर्म और साधना के अड़डे स्थापित किये हैं। सम सामयिक समाज के इसी भ्रष्टाचार को नागार्जुन ने "इमरतिया" में रूपायित किया है। उपन्यासकार ने समाज के बगुल भगतों, विभिन्न वर्गो की प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष का मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थ वर्णन किया है। अनेक स्थलों पर नागार्जुन का व्यंग्य बड़ा तीखा हो गया हैं यथार्थवाद के मोह में कहीं, कहीं फूहड़ प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। पृष्ठ आठ पर इमरतिया के मासिक धर्म की चर्चा, पृष्ठ दस पर नीद में कपड़े खराब हो जाना ऐसे ही प्रसंग हैं। इसी प्रकार का एक प्रसंग पृष्ठ सत्ताईस पर है जिसमें गौरी गर्माये घोड़े को ठंडा करने को कहती है। इस प्रकार के प्रसंगों से बचा जा सकता था।

औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से "इमरतिया" नागार्जुन का एक नवीन प्रयोग है। लेखक सारे परिच्छेदों को एक सूत्र में बांधने में समर्थ है। कथागत बिखराब भी उपन्यास में नहीं है। सारी घटनाओं और परिच्छेदों में वर्णित ब्यौरों का अन्त तक ठीक ढंग से निर्वाह किया गया है। घटनाओं में एक सूत्रता, स्वाभाविकता और गति है। चरित्रगत और भाषागत कुछ असंगतियों को छोड़कर "इमरतिया" का औपन्यासिक शिल्प ठीक ही है।

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि -

हिन्दी उपन्यास शिल्प के विकास में विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि एक बड़ा मोड़ है। इस शिल्प–विधि में उपन्यासकार सम्पूर्ण जीवन के विस्तृत क्षेत्र को छोड़कर, जीवन के किसी एक पहलू पर विशेषज्ञतापूर्वक प्रकाश डालता है। "कथा संक्षिप्त होने लगी और कथाकार कथा वहन के स्थान पर भाव एवं विचार–वहन के कार्य में संलग्न हुआ। प्लाट–प्रधान विषय वस्तु का ह्रास विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि के विकास के साथ ही आरम्भ हुआ। उपन्यास की

कथा में बाह्य क्रियाकलापों की कमी होने लगी। अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों और आन्तरिक कारणों से ही कथा संबंध जोड़ने लगी। धीरे–धीरे कथा बाह्यात्मकता से युक्त हो अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप पर आधारित हुई मानव के बाह्य जीवन की लीला का वर्णन न कर उसके अन्तर्मन के आलोडन पर उपन्यासकार की दृष्टि केन्द्रित हुई। उसके अन्तर्मन में परस्पर विरोधी विचारों, घूर्णन, प्रतिघूर्णन, संघर्ष, तनाव, कुण्ठा, संत्रास, चिन्ता, आशंका को अभिव्यक्ति मिलने लगी।" [112]

वर्णनात्मक शिल्प–विधि को अपनाने वाले उपन्यासकारों ने जहां समाज, इतिहास, अंचल, परिवार या राजनीति को उपन्यास का विषय बनाया विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि के प्रणेताओं ने वैयक्तिक जीवन को विषय वस्तु बनाया है। उपन्यासकार वैयक्तिक जीवन का इतिहास नहीं अपितु उसके अचेतन मन की पर्तें खोलकर रख देता है। मनोविज्ञान के तीव्रगति से होने वाले विकास ने कथा साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि को चार भागों में विभक्त किया जा कसता है – मनोविज्ञान प्रधान, दर्शन प्रधान, चेतना–प्रधान, तथा पूर्व–दीप्ति शिल्प–विधि। [113] नागार्जुन का कोई भी उपन्यास विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि पर आधारित नहीं है।

नाटकीय शिल्प-विधि -

परिस्थिति, घटना और चरित्र का एक दूसरे क संघात में उद्घाटन करने वाले उपन्यास नाटकीय शिल्प–विधि के अन्तर्गत आते हैं। इस विधि के उपन्यास अन्य विधि के उपन्यासों की तुलना में अधिक आकर्षण शक्ति रखते हैं। इस शिल्प–विधि के बारे में एडविन म्यूर का कहना विल्कुल सही है – "पात्र कथानक रूपी काल का भाग नहीं हैं, न ही वस्तु चरित्रों के चारों ओर घूमने वाली वस्तु है। इसके विपरीत दोनों अविभाजित रूप से गुम्फित होते हैं। चरित्र विषयक विशषताएं ही क्रिया–कलापों की निर्णायक हैं और बदले में क्रियाएं ही चरित्रों को तीव्रता के साथ परिवर्तित करती हैं और इस प्रकार सभी तत्व अन्तिम फल की ओर अग्रसर होते हैं।" [114] एडविन म्यूर को इस कथन से स्पष्ट होता है कि नाटकीय शिल्प–विधि में कथावस्तु और कार्य–व्यापार में अदभुत समन्वय रहता है। भगवतीचरण वर्मा का "चित्रलेखा" और वृन्दावन लाल वर्मा का "मृगनयनी" इसी शिल्प–विधि के उपन्यास हैं। नागार्जुन की कोई भी रचना इस शिल्प–विधि की नहीं है।

प्रतीकात्मक शिल्प-विधि -

प्रतीकात्मक शिल्प–विधि वह विधि है जिसमें बात सीधी नहीं कही जाती बल्कि प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है। अमूर्त को प्रकट करने के लिए रूपकों का सहारा लेना पडता हैं अगर सांकेतिकता में स्पष्टता नहीं होती तो वहां पर कृत्रिमता का आभास होने लगता है। प्रतीक प्रस्तुत वस्तु और अर्थ को सांकेतिक भाषा में व्यक्त करने वाल विधान है अतः उपन्यासकार के लिए बड़ी कुशलता अपेक्षित है। प्रतीकों को समझने क लिए पर्याप्त बौद्धिकता का होना आवश्यक है, जिसके अभाव में प्रतीक विधि का प्रयोग संभव नहीं और न ही पाठक के लिए मूर्त बिम्बों का ग्रहण करना सहज कार्य है। डा0 राम अवध द्विवेदी ने लिखा है – "प्रतीकों में सूक्ष्म निर्देशन की जो शक्ति होती है उसकी कोई सीमा नहीं हैं किसी निर्देश से उसका कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है, अतः प्रतीकात्मक कथन में संकेतात्मकता के बाहुल्य के साथ–साथ सामान्य जनों के लिए अस्पष्टता की प्रतीति भी स्वाभाविक है।"[115] प्रतीकात्मक शिल्प–विधि में विषय, वस्तु विन्यास, पात्र, वाणी, परिवेश, विचार सब प्रतीक के आश्रयी बनकर अभिव्यक्त होते हैं।

हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचन्दोत्तर युग में विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि के साथ–साथ ही प्रतीकात्मक शिल्प–विधि का विकास हुआ है। "नदी के द्वीप" (अज्ञेय), "सूरज का सातवां घोड़ा" (धर्मवीर भारती) "बया का घोंसला और सांप" , "काले फूल" (लक्ष्मीनारायण लाल) "डूबते–मस्तूल" (नरेश मेहता) "बूंद और समुद्र" (अमृत लाल नागर) आदि उपन्यास इस शिल्प–विधि की रचनाएं हैं। शुद्ध प्रतीकात्मक शिल्प–विधि के अन्तर्गत नागार्जुन के किसी उपन्यास को नहीं रखा जा सकता है। "बाबा बटेसरनाथ" का प्रारम्भ प्रतीकात्मक अवश्य है पर बाद में उसका निर्वाह नहीं किया गया हे, जिसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

समन्वित शिल्प-विधि -

जीवन को समग्र रूप से प्रस्तुत करने के लिए उपन्यासकारों ने इस शिल्प–विधि को अपनाया है क्योंकि कभी–कभी अलग–अलग परिस्थिति, घटना, चरित्र और वातावरण के लिए एक विधि अपूर्ण सिद्ध होती है। यह आवश्यक नहीं कि वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, नाटकीय तथा प्रतीकात्मक इन चारों

शिल्प–विधियों का प्रयोग समन्वित शिल्प–विधि में हो ही। एक से अधिक शिल्प–विधियों का सम्मिलित प्रयोग कृति को समन्वित शिल्प प्रदान कर देता है।

"प्रस्तुत विधि के अनुसार मूल विषय विश्लेषणोन्मुख होता है। वस्तु–विन्यास का गठन साधरणतया वर्णनात्मक–विधि के आधार पर संयोजित होता है। जब कथाकार पात्र के विषय में बोलने लगता है, तब वह वर्णनात्मक शिल्प का प्रयोग करता है। आत्म केन्द्रित, अन्तर्मुखी, आत्मविश्लेषक पात्र, विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि द्वारा चित्रित होते हैं। इस विधि की रचना में समाज के फोटोग्रैफिक चित्रण भी संभव हो गए हैं। कुछ प्रतीकों की योजना करके सामाजिक चेतना की गहराईयों और वैयक्तिक अचेतन मन की ग्रन्थियों को सम्बद्ध और असम्बद्ध मूर्ति विधानों, रेखाचित्रों और संकेतों तथा रूपकों द्वारा रूपायत कर दिया जाता है।" [116] यह विधि आर्थिक समस्या, धार्मिक परम्परा, राजनीतिक घटनाओं को प्रस्तुत करने में प्रभावशाली सिद्ध होती है। नागार्जुन के दो उपन्यास "बाबा बटेसरनाथ" और "हीरक जयन्ती" इसी शिल्प–विधि की रचनाएं हैं।

"हीरक जयन्ती" एक व्यंग्यात्मक लघु उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने प्रशासन एवं प्रशासकीय दल के नेताओं की विभिन्न कमजोरियों का यथार्थ चित्रण किया है। वर्तमान प्रशासकीय दल में भ्रष्टाचार का एक मुख्य कारण यह भी है कि उसमें व्याप्त व्यक्ति पूजा को साधन बना लिया गया हैं अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए नेतागण और उनके समर्थक क्या–क्या कृत्य करते हैं इन सबका पर्दाफाश "हीरक जयन्ती" में किया गया है। मन्त्रिगणों की अपने स्वागत एवं अभिनन्दन समारोहों की लिप्सा उपन्यास का मुख्य विषय है।

उपन्यास में लेखक ने कई शिल्प–विधियों का प्रयोग किया है इसीलिये इस समन्वित शिल्प–विधि का उपन्यास माना गया हैं प्रथम परिच्छेद "उद्योगपर्व" में वर्णनात्मक शिल्प–विधि का प्रयोग किया गया है। द्वितीय परिच्छेद "परिचय–पत्रिका" में भी इसी शिल्प–विधि का सहारा लिया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में विश्लेषणात्मक शिल्प–विधि को अपनाया गया है जिसमें सभी पात्रों की काली करतूतों पर प्रकाश अन्तर्द्वन्द तथा अभिनयात्मक विधि से डाला गया है। पांचवे परिच्छेद "आठ बजे दिन" में नाटकीय शिल्प–विधि को अपनाया गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण उपन्यास के आठ परिच्छेदों में अलग–अलग

शिल्प–विधि देखने को मिलती है।

चरित्र–चित्रण में लेखक ने अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मकदोनों उपायों का सहारा लिया है। चरित्रों का चुनाव यथार्थ जीवन से किया गया है किंतु "सभी पात्रों का चरित्र कथा के स्वाभाविक घात–प्रतिघात से विकसित न होकर लेखक के द्वारा वर्णित होने के कारण अत्यन्त प्रभावहीन और निर्जीव हो गया है।" [117] उपन्यास का कथानक अत्यंत संक्षिप्त है जिसमें विभिन्न स्थलों पर रोचकता और कौतूहल की सृष्टि उपन्यासकार ने की है किंतु कथा संगठन बिल्कुल बिखरा हुआ है। आठों परिच्छेदों में अलग एक सूत्रता नहीं है। "कथा कहीं भी अपनी स्वाभाविक गति से नहीं चल पाती, न किसी स्थल पर मर्म ही उभर पाता है और न पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताओं का प्रभावशाली चित्रण हो पाया है। कथा में संगठन तथा परस्पर सम्बद्धता का भी अभाव हैं लेखकर हर स्थिति के वर्णन में कथा पर हावी रहता है और अपनी दृष्टि से सारे प्रसंगों तथा हर पात्र को देखने के लिए बाध्य करता है।" [118] नागार्जुन ने अपनी दृष्टि केवल व्यंग्य और यथार्थ तक ही सीमित रखी है। कथा संगठन की ओर उन्होने ध्यान नहीं दिया है जिससे उपन्यास में शिल्पगत नवीनता के होते हुए भी लेखक को सफलता नहीं मिली है।

"बाबा बटेसरनाथ" नागार्जुन की वह औपन्यासिक कृति है जो रूप शिल्प की दृष्टि से एक नया प्रयोग है। नया प्रयोग इसलिए भी है कि उपन्यास का नायक कोई व्यक्ति नहीं, एक पुराना छतनार वृक्ष है, जिसे उपन्यासकार की सृजनात्मक कल्पना में एक जीवन्त व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। अपनी सम्प्रेषणीयता की ताजगी और संवेदनामूलक अनुभूतियों के कारण "बाबा बटेसरनाथ" का उपन्यास साहित्य में विशेष स्थान है। "यदि यह वृक्ष केवल किसी का माध्यम बनकर ही रह जाता, तो बहुत कुछ सुनाता हुआ भी निर्जीव ही कहा जाता। लेखक की कुशलता इस वट वृक्ष के सजीव मानवीकरण– उसे अपना व्यक्तित्व देंने में है।" [119]

उपन्यास का शीर्षक और आरम्भिक चित्रण प्रतीकात्मक है शेष रचना में वर्णनात्मक शिल्प–विधि का प्रयोग किया गया हैं बिहार प्रान्त के दरभंगा ज़िले में स्थिति रूपउली ग्राम की समस्त आंचलिक विशेषताओं का वर्णन उपन्यास में किया गया है। वट वृक्ष मानव रूप धारण करके जैकिसुन को इस जनपद के रूपउली ग्राम का चार पीढ़ियों का इतिहास सुनाते हैं। रूपउली ग्राम की कथा

का पूर्वार्द्ध जो उसके भूतकाल का इतिहास है, बाबा बटेसरनाथ द्वारा वर्णित है, वर्तमान समय का इतिहास जैकिसुन मुखोद्‌गीरित है। इन दोनों वर्णन में कहीं भी सांकेतिकता के दर्शन नहीं होते हैं। रूपउली ग्राम का विवरण, शिव मंदिर का चित्रण, ग्राम–वासियों की अन्ध–भक्ति, जमींदार और उनके गुणों के जुल्म का वर्णन, अकाल का प्रकोप, तथा असहयोग–आन्दोलन, सभी वर्णनात्मक शिल्प में प्रस्तुत किये गए हैं जिससे वर्णनात्मकता अधिक हो गई है और प्रतीकातमकता कम। "जहां तक शीर्षक का संबंध है वह अवश्य प्रतीकात्मक है। वट वृक्ष भारतीयों की दृष्टि में शान्ति, सुख और समृद्धि का प्रतीक है। इसकी पूजा परम श्रद्धा एवं भक्ति के साथ सम्पन्न होती है। अपने प्रति जनसाधारण की आस्था को अटूट बनाये रखने के लिये, बटेसरनाथ एक स्वप्न का आश्रय लेते हैं, जिसके फलस्वरूप जनता में भक्ति–भाव, पूजा–पाठ और अनंत श्रद्धा–भाव उत्पन्न हो जाते हैं। टुनाई पाठक और जैनारायण उसे जमींदार से खरीदकर कटवाना चाहते हैं, यहीं से उपन्यास में संघर्ष और वास्तविक हो जाता है।" [120]

उपन्यास का कथानक आकर्षणहीन और अधूरा सा लगता है। इसका कारण लेखक की प्रगतिशील विचारधारा का तीव्र आरोपण है। पात्र, घटनाए आदि सभी पर लेखक की पकड़ कड़ी है। उपन्यास का अन्त स्वाधीनता! शान्ति! प्रगति! के नारे के साथ होता है जो साम्यवादी दल का नारा है इससे लेखक की विचारधारा स्पष्ट रूप में सामने आ जाती है। डा0 चुघ का कहना है – "इस तरह उपन्यास के अन्तिम प्रतीकात्मक कथा–कौशल से जहां सारे उपन्यास की कथा शृंखलित हो गई है, वहां राजनीतिक प्रचारण शिक्षण को साहित्यिक स्वरूप भी मिल गया है।" [121] उपन्यास में रेखाचित्रात्मक दृश्य–स्वरूप तथा अनुकूल वातावरण–विधान में उपन्यासकार की कलात्मक शैली के दर्शन होते हैं।

"कुल मिलाकर, नागार्जुन ने "बाबा बटेसरनाथ" में कथा–शिल्प संबंधी, अपने ढंग का अभिनव लोक शिल्पात्मक प्रयोग किया है। इसमें रिपोर्ताज–शैली से भी सहायता ली गई है। लेखक की मतवादिता ने इस उपन्यास के चारित्रिक पक्ष को दुर्बल तथा अपनी एकांगिता से प्रभाव को सीमित कर दिया है। फिर भी, बाबा बटेसरनाथ के रूप में सजीव एवं स्मरणीय पात्र सृष्टि के माध्यम से अंचलीय चित्रण में लेखक को पर्याप्त सफल रहा है।" [122] डा0 सत्यपाल चुघ का यह कथन उचित ही है। वृक्ष का बोलना और "बहुजन हिताय" की बातें कहना हिन्दी उपन्यास में रूप–शिल्प का नवीन प्रयोग है।

संदर्भ

1 – प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ0 71
2 – मक्खन लाल शर्मा : हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा, पृ0 89
3 – मक्खन लाल शर्मा : हिन्दी उपन्यासः उद्‌भव और विकास, पृ0 89
4 – डा0 आदर्श सक्सेना : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि, पृ0 261
5 – बलचनमा, पृ0 7
6 – रतिनाथ की चाची , पृ0 63,   7 – वही, पृ0 76
8 – नई पौध , पृ0 16
9 – बलचनमा, पृ0 45,   10 – वही, पृ0 46
11 – नई पौध, पृ0 142
12 – दुखमोचन, पृ0 102
13 – वरूण के बेटे, पृ0 72 – 73,   14 – वही, पृ0 80,   15 – वही, पृ0 84
16 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 65
17 – वरूण के बेटे, पृ0 11,   18 – वही, पृ0 55
19 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 12,   20 – वही., पृ0 63
21 – दुखमोचन, पृ0 91,   22 – वही, पृ0 103
23 – रतिनाथ की चाची, पृ0 40,   24 – वही, पृ0 115
25 – वरूण के बेटे, पृ0 99,   26 – वही, पृ0 101
27 – वही, पृ0 100,   28 – वही, पृ0 8
29 – रतिनाथ की चाची, पृ0 3
30 – दुखमोचन, पृ0 14
31 – नई पौध, पृ0 56–57,   32 – वही, पृ0 69
33 – आज का हिंदी उपन्यास, पृ0 47
34 – नई पौध, पृ0 58
35 – रतिनाथ की चाची, पृ0 96
36 – दुखमोचन, पृ0 94
37 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 32
38 – उग्रतारा, पृ0 6–7
39 – कुंभीपाक, पृ0 71 – 72
40 – इमरतिया, पृ0 32–33
41 – हीरक जयन्ती, पृ0 60,   42 – वही, पृ0 89–90,   43 – वही, पृ0 114–115

44 – कुंभीपाक, पृ0 88, 45 – वही, पृ0 130
46 – उग्रतारा , पृ0 112
47 – कुंभीपाक, पृ0 115, 48 – वही, पृ0 20, 49 – वही, पृ0 5
50 – हीरक ज़यन्ती, पृ0 75, 51 – वही, पृ0 1
52 – इमरतिया, पृ0 22, 53 – वही, पृ0 71, 54 – वही, पृ0 51
55 – उग्रतारा, पृ0 36, 56 – वही, पृ0 72, 57 – वही, पृ0 58
58 – हीरक जयन्ती, पृ0 62, 59 – वही, पृ0 109, 60 – वही, पृ0 125
61 – कुंभीपाक, पृ0 13
62 – इमरतिया, पृ0 99
63 – उग्रतारा, पृ0 15
64 – कुंभीपाक, पृ0 16
65 – हीरक जयन्ती, पृ0 35
66 – कुंभीपाक, पृ0 13, 67 – वही, पृ0 7
68 – स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य, पृ0 260
69 – "Mode of Artistic execution in Music, painting & technical skill in Art, "Oxford Dictionary of Current English. P. 1258
70 – वृहत हिन्दी कोश : पृ0 1130
71 – "Form is not tradition. It alters from generation to generation".
"Two cheers for Democracy," P. 103.
72 – "Form is the objectifying of idea and its excellence, it would seen, depends upon its appropriateness to the idea."
- Forms of Modern Fiction. P-1.
73 – "It is objective order that has been imposed on matter by the mind"
- The making of Literature. P-305.
74 – "Every carefully written novel presents its own separate problem in method and technique." The Making of Literature. P-37
75 – साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ0 335, 76 – वही, पृ0 370
77 – The time has long passed when technique could be taken simply to mean the ways in which a given body of experience once may be organised and manipulated to the best advantage. "
- Time and the Novel. P- 324
78 – "Your form is your meaning and your meaning dictates the form".
- Joyce Cary : 'Writers At work'. P. 51
79 – "The well made book is... in which the mater is all used up in the form, in which the form expresses all the matter."
- Percy Lubbock, 'The Craft of the Fiction' P-40
80 – डा0 प्रेम भटनागर, हिन्दी उपन्यास शिल्प, बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ0 14

81 – काव्यालंकार सूत्र, 1/2/7–8

82 – "Style is not pretention of effectedness, that it is natural and sincere, that it is the authentic expression of the writer's mind"

-"Fundamentals of Good writing". P-438

83 – "Style is the technique of expression".

-Middleton Murry. "The Problems of Style". P-5

84 – डा0 गणपति चन्द्र गुप्त : साहित्य की शैली, पृ0 215

85 – डा0 त्रिभुवन सिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ0 148

86 – डा0 प्रेम भटनागर : हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ0 38

87 – डा0 प्रेम भटनागर : हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ0 40

88 – डा0 इन्द्रनाथ मदान, आज का हिंदी उपन्यास : पृ0 45

89 – रतिनाथ की चाची, पृ0 20, 90 – वही, पृ0 21, 91 – वही, पृ0 100

92 – डा0 इन्द्रनाथ मदान, आज का हिंदी उपन्यास : पृ0 46

93 – डा0 रमेश कुन्तल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है : पृ0 279–80

94 – बलचनमा, पृ0 20–21

95 – डा0 प्रेम भटनागर : हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ0 152 –53

96 – डा0 इन्द्रनाथ मदान, आज का हिंदी उपन्यास : पृ0 47

97 – क्योंकि समय एक शब्द है : पृ0 282–83

98 – आलोचना : अंक 13, पृ0 211

99 – डा0 रमदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास, पृ0 196

100 – डा0 रमेश कुंतल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है : पृ0 304–305

101 – डा0 रमेश कुंतल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है : पृ0 305

102 – दुखमोचन, पृ0 122

103 – डा0 लक्ष्मी कान्त सिंहा, हिन्दी उपन्यास/साहित्य का उदभव और विकास, पृ0 309

104 – दुखमोचन, पृ0 75

105 – प्रकाश वाजपेयी : हिंदी के आंचलिक उपन्यास : पृ0 79–80

106 – डा0 लक्ष्मी कान्त सिंहा, हिन्दी उपन्यास/साहित्य का उदभव और विकास, पृ0 310

107 – कुंभीपाक, पृ0 59–69, 108 – वही, पृ0 96

109 – डा0 लक्ष्मी कान्त सिंहा, हिन्दी उपन्यास/साहित्य का उदभव और विकास, पृ0 312

110 – डा0 सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास उदभव और विकास, पृ0 516

111 – धर्मयुग, जुलाई, 1969

112 – डा0 प्रेम भटनागर : हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ0 46

113 – वही, पृ0 53–54

114 – "The characters are not part of the machinery of the plot; nor is the plot merely a rough frame work round the characters. On the contrary, both are inseperably knit together. The given qualities of the characters determine the action in turn progressively changes the characters and

thus everything is brone forwarded to an end."
- 'The Structure of the Novel.' P. 41.

115 – आलोचना : (अंक 33), "वाक्य में प्रतीक विधान" लेख, पृ0 26
116 – डा0 प्रेम भटनागर : हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ0 61
117 – रामपाल सिंह : आलोचना, अंक 28, पृ0 131, 118 – वही, पृ0 132
119 – डा0 सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प–विधि, पृ0 614
120 – डा0 प्रेम भटनागर : हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ0 154
121 – प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ0 621, 122 – वही, पृ0 622–23

6.

नागार्जुन के उपन्यासों में आंचलिकता

अंचल और आंचलिकता -

आधुनिक विश्व का वर्तमान स्वरूप मानव के उत्तरोत्तर विकास की गाथा है। हजारों वर्ष पूर्व सभ्यता का विकास प्रारंभ हुआ था किंतु इतने विकास के बाद देश के अनेक भागों में लोग अभी भी आदिम जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ये लोग आज भी देश की व्यापक सभ्यता से अछूते रहकर अपने ढंग से अलग से ही हैं। संपूर्ण देश का सामान्य जीवन सरिता–धारा है तो इन लोगों के निवास करने वाला क्षेत्र (अंचल) एक तालाब के समान है। सरिता के किनारे वास करने वाले समृद्ध लोग तालाब और उनमें खिले कमलों को चाव से देखने जाते हैं। आज के कृत्रिम व आधुनिक जीवन से ऊबकर लोग जिस प्रकार मन को स्वस्थ एवं सहज बनाने के लिए प्रकृति की शरण में जाते हैं, उसी प्रकार आज का कथा साहित्य नगरों के कोलाहल से ऊबकर आंचलिक जीवन की ओर उन्मुख हो रहा है। सभ्यता के तुमुल कोलाहल से, उस क्लान्ति से छुटकारा पाने के लिए आज का कथाकार अंचल की शरण में आ रहा है क्योंकि इस अंचल की कथा में उसे कुछ नवीनता और सहज–स्वाभाविकता के दर्शन हो रहे हैं। डा0 नन्द दुलारे वाजपेयी ने कथाकार की बदलती प्रवृत्ति के बारे में ठीक ही लिखा है –

"इधर उपन्यास की विषय वस्तु और लेखन–प्रक्रिया में एक प्रकार की स्थिरता और गतिहीनता की स्थिति को देखकर कुछ लेखकों ने अपने लेखन की पुरानी परिपाटी बदली और नागरिक जीवन की भूमिका को छोड़कर दूरवर्ती और विलक्षण रीति नीति वाली जातियों और स्थितियों के चित्रण को अपनाया।" [1]

आंचलिक शब्द "अंचल" में "इक" प्रत्यय लगने से बना है जिसका अर्थ है अंचल से संबंधित। अंचल संज्ञा शब्द से विशेषण बन गया है जिसके संस्कृत में विभिन्न अर्थ हैं जैसे साड़ी का छोर, पल्ला, क्षेत्र या "जनपद" जो अपने में एक पूर्ण भौगोलिक ईकाई होता है। "हिन्दी साहित्य कोश" के अनुसार – "आंचलिक शब्द प्रायः उपन्यास लेखन के प्रसंग में प्रयुक्त होता है यद्यपि कहानी, व्याख्यादि अन्य विधाएं भी इससे अछूती नहीं है। आंचलिक रचनाओं में कोई विशिष्ट अंचल व क्षेत्र या उसका कोई एक भाग ही प्रतिपाद्य व विवेच्य होता है। इस प्रकार उपन्यास का क्षेत्र अत्यधिक सीमित हो जाता है। आंचलिकता की सिद्धि के लिए स्थानीय दृश्यों, प्रकृति, जलवायु, त्यौहार, लोकगीत, बातचीत का विशिष्ट ढंग, मुहावरे, लोकोक्तियां, भाषा व उच्चारंण की विकृतियां लोगों की स्वाभावगत व व्यवहारगत विशेषताएं, उनका अपना रोमांस नैतिक मान्यताएं आदि का समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानी से किया जाना अपेक्षित है। आंचलिक रचना भले ही सीमित क्षेत्र से सम्बद्ध हो, पर प्रभाव की दृष्टि से वह सार्वजनीन हो सकती है, बशर्ते उसका सृष्टा वैसी प्राणवत्ता व अतल–स्पर्शी सूक्ष्म दृष्टि रखता हो तथा उसके विचारों में गरिमा और कला में सौष्ठव हो।" [2] अंचल का अभिधार्थ होता है – "वस्त्र का प्रांत भाग" किंतु जब इसे देश के प्रांत–भाग के अर्थ के रूप में ग्रहण किया जाता है तब मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है। परंतु देश को वस्त्र के संबंध में रखने से संबंधित अर्थ स्पष्ट हो जाता है – आंचलिक अर्थात अंचल (देश के प्रांत–भाग) से संबंधित। देश का कोई भी विशेष भाग जिसकी अपनी संस्कृति हो, अपनी एक भाषा हो, अपनी समस्याएं हो अंचल कहा जा सकता है।

"प्रत्येक भू–भाग की मिटटी की एक खास महक होती है और उस मिट्टी में पनपी हुई वनस्पतियों के पत्ते–पत्ते और फूल–फूल में एक विशेष गंध होती है। उसी के अनुरूप वहां के समस्त जीवधारियों, मानव प्राणिरों में भी अपनी एक अलग मनःस्थिति या गंध होती है जो किसी अन्य भू–भाग में उगे हुए फूल–पत्तों और प्राणियों की गंध से भिन्न होने के कारण अपनी एक विशिष्टता रखती है।" [3] आज हम देश के छोटे–छोटे अंचलों की बात करने लगते हैं जिनकी अपनी

संस्कृति एवं सभ्यता है। इन अंचलों का अस्तित्व और व्यक्तित्व भी विशिष्ट प्रकार का है इस कारण से ये इन्हें एक विशिष्ट इकाई के रूप में चित्रित किया जा सकता है। किसी नदी के किनारे पर स्थित किसी पहाड़ी की गोद में बसे, सागर के तट पर फैले तथा किसी जंगल के बीच बसे हुए ग्रामों को, जिनकी बोली, रहन–सहन, संस्कार, लोकगीत, उत्सव त्यौहार आदि एक से होते हैं और एक सी जीवन व्यवस्था से बंधे होते हैं तथा एक ही तरह की समस्याओं से घिरे होते हैं अंचल की संज्ञा से अभिहित किए जा सकते हैं। अंचल को आंचलिकता प्रदान करने वाले चार तत्व हैं –

1 – अंचल की भौगोलिक स्थिति,

2 – अंचल की भौगोलिक परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याएं,

3 – समस्याओं के कारण उत्पन्न पिछड़ापन,

4 – पिछड़ेपन के परिणामस्वरूप – विशिष्ट प्रकार का जन जीवन, मान्यताएं, अंधविश्वास, रीति–रिवाज, संस्कार समग्र रूप में, एवं विशिष्ट संस्कृति तथा लोक संस्कृति।

ग्रामीण और शहरी अंचल -

इस बात पर कि आंचलिक जीवन या आंचलिक उपन्यास का क्षेत्र केवल ग्राम तक सीमित हो या नगर भी इसके अन्तर्गत आना चाहिए, साहित्यकारों में मतभेद है। एक मत है कि अंचल में आदिम जीवन की प्रधानता होती है अतः नगर से इसका संबंध होने को कोई प्रश्न ही नहीं है। आंचलिकता एक प्रवृत्ति है – आदिम जीवन जीना या आदिम जीवन के प्रति लगाव होना। विशिष्ट भूखण्ड की दशा, आर्थिक स्थिति, अशिक्षा तथा अलगाव ने ही इस प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इन सब के प्रभाव ने उस विशिष्ट भूखण्ड के वासियों के मनोविज्ञान को बनाया है। यदि ऐसी कोई जाति अंचल को छोड़कर शहर में जाकर बस जाती है और अपनी इस नई बस्ती में आकर भी आंचलिकता को बनाए रखती है तो यह बस्ती भी आंचलिक कही जा सकती है। गढ़िया लोहार जो अपने आप को महाराणा प्रताप का वंशज बताते हैं इसके उदाहरण हैं। ये लोग काफिले के रूप में देश भर में घूमते रहते हैं पर उनका विशिष्ट परिवेश बना रहता है।

गांव के विशिष्ट अंचल को ही आंचलिक मानने वाले साहित्यकारों में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डा0 धनंजय वर्मा, डा0 रामदरश मिश्र, डा0

हरदयाल, डा0 विवेकीराय, डा0 विश्वंभरनाथ उपाध्याय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। शहरी मुहल्लों या कस्बों के जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले उपन्यासों को भी आंचलिक कहने वाले साहित्यकारों में डा0 सुरेश सिन्हा, महेन्द्र चतर्वेदी, राजेन्द्र अवस्थी तथा कान्तिवर्मा आदि के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। आंचलिकता का संबंध ग्रामीण जीवन के साथ जुड़ा है। शहर में आंचलिकता की खींचतान करना व्यर्थ ही है। आंचलिक उपन्यास का मूल विषय है आदिम व्यक्ति, आधुनिकता से सर्वथा अपरिचित। वह आधुनिकता से दूर भागता है। उसमें जैसी भी स्थिति है उसी के प्रति संतोष है, हताश नहीं। अपने उस विशिष्ट जीवन और अंचल के प्रति उसे आस्था है और अपनी परंपराओं के प्रति मोह भी है, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी का कथन इस बात को और भी स्पष्ट करता है – "उपन्यास के ऐतिहासिक विकास को देखते हुए और आंचलिक उपन्यास के सीमित और पारिभाषिक अर्थ का ध्यान रखते हुए नगर से संबंधित उपन्यासों को आंचलिक नहीं कहा जा सकता। वह वैचित्र्य, वह स्वच्छन्द व्यवहार, सभ्यता के दोषों से रहित वह आदिम मानव–प्रकृति जो आंचलिक उपन्यासों की केन्द्र वस्तु है, नागरिक चित्रण में नहीं आ सकती।" [4]

आंचलिक उपन्यास -

शहरी तथा ग्रामीण अंचल के स्पष्टीकरण के साथ ही आंचलिक उपन्यासों की रूपरेखा भी स्पष्ट होने लगती है। आंचलिक उपन्यासों का उदय आज की भौतिकता के पीछे दौड़ और पाश्चात्य सभ्यता के विद्रोह के फलस्वरूप हुआ है। नगर के जीवन से संबंधित उपन्यासों में नग्नता, मूल्यहीनता, आक्रोश, कुंठा, संत्रास, बेईमानी, नपुंसक आतंक आदि को उपन्यासों में इतना अधिक चित्रित किया गया है कि पाठक को अरूचि होने लगी। कला के उच्च स्वरूप का ह्वास होने लगा। श्री हीरा प्रसाद त्रिपाठी ने सत्य ही कहा है – "कला का व्यापक तथा संभावनापूर्ण रूप हमें ऐसे (आंचलिक) उपन्यासों में ही मिलता है जो विशुद्ध रूप से ग्रामीण है।" [5] विभिन्न विद्वानों ने आंचलिक उपन्यास के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। कुछ प्रमुख विचार इस प्रकार हैं –

"आंचलिक उपन्यास मनुष्य की उस दृष्टि का विकास है जो "भूमा" को छोड़कर "अल्प" को देखती है और एकता को दुर्लङ्घ्य मानकर अनेक रूपता में मानव–जीवन का आभास पाना चाहती है।" [6]

"आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल विशेष को स्वीकार करके उपन्यासकार उसका यथार्थवादी चित्रण करता है। उस अंचल के निवासियों का रहन–सहन, वेश–भूषा, खान–पान, रीति–रिवाज, जादू–टोना, राजनीतिक–धार्मिक दशा आदि का पूरा ब्यौरा इन उपन्यासों में रहता है।" [7]

"आंचलिक उपन्यास तो अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है.उसका संबंध जनपद से होता है ऐसा नहीं, वह जनपद की कथा है।" [8]

"आंचलिक उपन्यास वे हैं जिनमें अविकसित अंचल विशेष के आदिवासियों अथवा आदिम जातियों का विशेष रूप से चित्रण किया है।" [9]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि आंचलिक उपन्यास का अपना एक चुना हुआ क्षेत्र होता है जिसकी अपनी भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताएं होती हैं जिनका उपन्यास में समग्र चित्रण किया जाता है। क्षेत्र विशेष की विशेषताएं भी असमान्य प्रकार की होती है जो उस अंचल विशेष के विशिष्ट रीति–रिवाजों व जीवन–यापन के ढंग को जन्म देती है। इस प्रकार समग्र रूप में आंचलिक उपन्यास एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और इस प्रकार अपने उद्देश्य में भी विशिष्ट होता है।

आंचलिक उपन्यासों की संरचना -

आंचलिक उपन्यासों की औपन्यासिक संरचना में नए आयाम विकसित हुए हैं। इन नए आयामों के कारण आंचलिक उपन्यासों की भी सम्पूर्णता की दृष्टि से आंका जा सकता है। इन उपन्यासों में ग्रामीण जीवन की सोंधी गंध लिए हुए धूल–धूसरित जीवन की व्यथा–कथा कहने वाले स्वर मुखरित हो रहे हैं। इन उपन्यासों की दृष्टि भी बहु आयामी है क्योंकि अंचल की समस्त संगतियों और असंगतियों का उद्घाटन इन में होता है। "आंचलिक उपन्यास की गति एक दिशा में नहीं चारों दिशाओं में होती है। वह स्थान की अपेक्षा समय में जीता है। अंचल की विविधता को रूप देने के लिए लेखक कभी इस कोण पर खड़ा होता है कभी उस कोण पर, कभी ऊंचाई पर, कभी नीचाई पर। इसमें अनेक पात्रों की आवश्यकता रहती है। हर पात्र की सत्ता महत्व की है। इनमें कोई पात्र एक–दूसरे के निमित्त नहीं होता, वे सब अंचल के निमित्त होते हैं। इस उद्देश्य को न समझ पाने के कारण ही लोगों को कथानक का, पात्रों का, सांस्कृतिक पक्षों का बिखराव दीखता है उनमें एकसूत्रता और एक दिशागामिता नहीं

दीखती।" [10] आंचलिक उपन्यासों की संरचना प्रक्रिया अपनी अलग ही है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तरह इन उपन्यासों में न तो पात्रों का मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है और न ही घटना प्रधान उपन्यासों की तरह विभिन्न घटनाओं के द्वारा मानसिक यात्राएं प्रस्तुत की जाती हैं। आंचलिक उपन्यासों की संरचना के बारे में डा0 रामदरश मिश्र का कथन बिल्कुल सही है – "अंचल के जटिल जीवन–चित्र को अंकित करने के लिए लेखक कहीं मोटी रेखाएं खींचता है, कहीं पतली, कहीं अवकाशों को भरने के लिए दो चार बिन्दु अपनी तूलिका से झाड़ देता है। अनेक पर्वो, उत्सवों, परम्पराओं, विश्वासों, व्यथा के अवसरों, गीतों, संघर्षो, प्रकृति के रंगों, नए पुराने जीवन मूल्यों, जातियों आदि से लिपटा हुआ अंचल का जीवन नवीन अभिव्यक्ति केनए माध्यम की अपेक्षा करता है। अतः आंचलिक उपन्यासकार एक दिशा में बहने की अपेक्षा पूरे अंचल की चतुर्मुख यात्रा करता है और इन उपादानों को यहां से, वहां से चुनता है जो मिलकर अंचल की समग्रता का निर्माण करते हैं।" [11]

वैज्ञानिक प्रगति के कारण अब ग्रामीण जगत में भी नित नए परिवर्तन हो रहे हैं। अंचल के निवासियों की मनःस्थिति में भी परिवर्तन हो रहा है। भाषा में कुछ नए शब्द इस प्रकार घुल मिल गए हैं कि भाषा पंचमेल खिचड़ी सी लगती है। इस प्रकार के शब्द हैं – ट्रैक्टर, थ्रेसर ट्यूबवैल, कल्टीवेटर, टिलर, आदि–आदि। किंतु इस प्रकार की गड्डमगड्ड भाषा में भी अपनी कुछ मधुरता और सौन्दर्य है जो जीवन यथार्थ के चित्रण का सही माध्यम बनती है। वैज्ञानिक प्रगति ने अंचल के जीवन दर्शन को तो बदला ही है साथ औपन्यासिक संरचना को भी एक नवीन दिशा और गति प्रदान की है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों की संरचना को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्व हैं – "नवीन कथा विन्यास, जटिल यथार्थवादी विशिष्ट परिवेश, पात्रों की परिवर्तित मनःस्थितियां, आंचलिक सन्दर्भो एवं स्वरों से रचित भाषा तथा बिम्बों, प्रतीकों ओर रंगों की अदभुत योजना। इनके पारस्परिक रचाव में ही वस्तुतः संरचना की सफल परिणति व्याप्त है।" [12]

आंचलिक उपन्यासों का नामकरण -

आंचलिक उपन्यासों का नामकरण अचानक हुआ है किंतु आंचलिक उपन्यासों का विकास अचानक नहीं हुआ है। प्रेमचन्द युग से वर्तमान युग तक नए–नए प्रभाव ग्रहण करती हुई आंचलिकता की छोटी सी धारा स्वातंत्रयोत्तर

काल में आकर भगीरथी के रूप में परिवर्तित हो गई। "आलोचना" का उपन्यास विशेषांक जो 1954 में प्रकाशित हुआ उसमें आंचलिक शब्द या विधा की चर्चा तक नहीं है। आंचलिक उपन्यास एवं उपन्यासकारों को यथार्थवाद के विकास तथा यथार्थवादी उपन्यासों के अन्तर्गत रखा गया है।[13] नागार्जुन को साम्यवादी उपन्यासकारों के अन्तर्गत रखा गया है।[14] इस वर्गीकरण का कारण यही है कि इस समय तक फणीश्वर नाथ रेणु का "मैला आंचल" प्रकाशित नहीं हुआ था और न ही तब तक आंचलिक विधा का नामकरण हुआ था। यद्यपि इससे पूर्व भी आंचलिक विशेषताओं से परिपूर्ण उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे जिनमें "रतिनाथ की चाची" (1948), "बलचनमा" (1952), "बहती गंगा" (1952), "नई पौध", "रथ के पहिये" तथा "काका" (1953) प्रमुख हैं। वर्तमान समय में आंचलिकता की प्रवृत्ति अधिक व्याप्त हो गई है। विशुद्ध रूप से आंचलिक उपन्यास वहीं हैं जो अंचल विशेष (ग्रामीण परिवेश) से संबंधित हों।

नागार्जुन के आंचलिक उपन्यास -

अनेक विद्वानों ने नागार्जुन के समस्त उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास माना है। डा0 रमदरश मिश्र के अनुसार "नागार्जुन के सारे उपन्यास आंचलिक कहे जाते हैं और उनमें कहीं वैसा बिखराव नहीं है जैसा कि "मैला आंचल" "बूंद और समुद्र" "पानी की प्राचीर" आदि में है। कारण स्पष्ट है। नागार्जुन के उपन्यास अंचल विशेष के पात्रों और घटनाओं को लेते हैं लेकिन अंचल की समग्रता अंकित करना उनका उद्देश्य नहीं होता।"[15] किंतु नागार्जुन के समस्त उपन्यास आंचलिक नहीं हैं। जो उपन्यास 1960 के बाद लिखे गए हैं वे ग्रामीण अंचल से दूर हटे हुए हैं। इस दृष्टि से उपन्यासों को दो वर्गों में रखा जा सकता है –

(1) आंचलिक उपन्यास – "रतिनाथ की चाची", "बलचनमा", "नई पौध", "बाबा बटेसरनाथ", "वरूण के बेटे", तथा "दुखमोचन"।

(2) आंचलिकेतर उपन्यास – "उग्रतारा", "हीरक जयन्ती", "इमरतिया" तथा "कुंभीपाक"।

"उग्रतारा" (1963) में उपन्यासकार ने जेल जीवन का यथार्थवादी चित्रण किया है। जेल के वातावरण को आंचलिकता के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता है। "उगनी" की जेल से छूट जाने की कथा बड़ी मर्मस्पर्शी एवं मधुर है। किंतु

इस में पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही अधिक है। उपन्यास में कहीं भी आंचलिकता की अवतारणा नहीं है। स्थान विशेष अथवा जीवन विशेष के चित्रण मात्र से उपन्यास आंचलिक नहीं हो जाता है। आंचलिकता की भावना के साथ अन्य विशेषताएं भी सम्बद्ध होती हैं। "हीरक जयन्ती" (1962) में लेखक की दृष्टि व्यंग्य प्रधान है। सम्पूर्ण उपन्यास में लेखक ने कांग्रेसी नेताओं तथा उनके चापलूसों की अवसरवादिता, धनलोलुपता, कामुकता, आत्म प्रशंसा तथा राजनीतिक पैतरेबाजी पर तीव्र व्यंग्य किया है। स्पष्ट है कि यह उपन्यास आंचलिकता का स्पर्श तक नहीं करता है। "इमरतिया" (1968) तथा "जमनिया का बाबा" (1968) दोनों एक ही कथानक और शिल्पवाले उपन्यास हैं। कथानक ग्रामीण अंचल का होते हुए भी उपन्यास में आंचलिक भाषा या आंचलिक परिवेश की झलक नहीं है। उपन्यासकार ने जिस जीवन का चित्रण उपन्यास में किया है वह आंचलिक न होकर पाखण्ड और भ्रष्टाचार का नागरी जीवन है। "इमरतिया" तथा "जमनिया का बाबा" का विषय आंचलिकता की परिधि में आता था किंतु कथा की प्रकृति तथा शैली से उपन्यास सामाजिक उपन्यास ही बनकर रह गये हैं। "कुंभीपाक" (1960) में लेखक ने समाज में व्याप्त गलनशीलता, सड़ांध, अनाचार तथा भ्रष्टाचार को चित्रित किया है। कथा अंचल से संबंधित न होकर नगर के इर्द–गिर्द घूमती है। अतः इसे आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में कुल छः ही उपन्यास हैं – "रतिनाथ की चाची", "बलचनमा", "नई पौध", "बाबा बटेसरनाथ", "वरूण के बेटे" तथा "दुखमोचन"।

नागार्जुन प्रगतिशील चेतना के साहित्यकार हैं। उनके उपन्यास रेणु के अर्थों में आंचलिकता नहीं है बल्कि एक विशिष्ट अर्थ में आंचलिक है। उनके उपन्यासों में कथा तो एक अंचल से ली गई है किंतु आंचलिक उपन्यासों की तरह एक विशिष्ट अंचल के समस्त संश्लिष्ट जीवन की अभिव्यक्ति उनमें नही है। "नागार्जुन अंचल से संश्लिष्ट जीवन की कथा कहने के स्थान पर अंचल से लिये गये पात्र की कहानी कहते हैं। अधिकतर यह कहानी सपाट वर्णनात्मकता लिए होती है। अंचल विशेष मात्र उस कथा को परिवेश प्रदान करता है। यह परिवेश आंचलिकता की तीन छायायें लिए होता है – एक प्रकृति की, दूसरी भाषा की, तीसरी वहां के स्थानीय रीति–रिवाज अथवा चले आ रहे रूढ़ संस्कारों की। नागार्जुन का कथा–नायक इसी परिवेश में बीच से गुजराता हुआ अपनी

कथा यात्रा तय करता है, जिसमें अधिक पडाव अर्थात संश्लिष्ट पर्तों के स्थान पर गति होती है।" [16] उनके उपन्यासों में सामाजिक–यथार्थवादी परम्परा को जिसकी स्थापना प्रेमचन्द ने की थी सही अर्थों में आगे बढ़ाया गया है। विशिष्ट क्षेत्र की क्या समस्याएं हो सकती हैं – उसी क्षेत्र में तथा वैसे ही पात्रों द्वारा कथाकार ने उन्हें प्रस्तुत किया है जिससे उनके उपन्यास विशिष्ट अर्थों में आंचलिक बन पड़े हैं। उन्होने प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी ग्रामीण समस्या को उठाया है और सभी समस्याओं का मूल आधार आर्थिक विषमता को ही ठहराया है। यही कारण है कि उनके उपन्यास अन्य आंचलिक उपन्यासों की तुलना में अधिक गति लिए हुए हैं और रोचक भी हैं।

(1) उपन्यासों में चित्रित भौगोलिक परिवेश -

भौगोलिक वातावरण का निर्माण प्रकृति के उपादानों से होता है। इसको हम भौगोलिक परिवेश भी कह सकते हैं। आंचलिक उपन्यासों के वातावरण–चित्रण में तथा अन्य उपन्यासों के वातावरण चित्रण में एक विशिष्ट अन्तर यह है कि अन्य प्रकार के उपन्यासों में केवल वातावरण अथवा भौगोलिक एवं सामाजिक परिवेश के अभौतिक रूप पर ही विशेष बल दिया जाता है जबकि आंचलिक उपन्यासों में जहां एक ओर प्राकृतिक विशेषताओं का चित्रण होता है तो दूसरी ओर सामाजिक विशेषताओं का भी तथा इन दोनों के द्वारा निर्मित भौगोलिक एवं सामाजिक वातावरण का भी चित्रण हो जाता है। भौगोलिक परिवेश से आशय उन प्राकृतिक परिस्थितियों से होता है जिनमें कोई समाज निवास करता है। ये परिस्थितियां उस समाज के जीवन पर गंभीर प्रभाव डालती हैं। इसका कारण यही है कि मनुष्य अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर आश्रित है। विभिन्न भौगोलिक परिवेश में रहने वाले मनुष्यों की जीवन पद्धति एवं क्रिया कलापों में पर्याप्त अन्तर होता है। समुद्र के तट पर अथवा झीलों और नदियों के किनारे रहने वाले लोगों के जीवन पर जल का व्यापक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है ऐसे प्रदेशों में ही मछुओं का जीवन फूलता फलता है। तालाब, झील, नदियां एवं समुद्र उनके जीवन के आवश्यक अंग बन जाते हैं और उनकी सामाजिक मान्यताओं और विश्वासों पर छा जाते हैं। नागार्जुन के प्रसिद्ध उपन्यास "वरूण के बेटे" में सरोवर के किनारे रहने वाले मछुओं का पहनावा, उनका भोजन, उनकी समस्याएं सभी सरोवर से प्रभावित हैं। परिवेश

मानव के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करता है। एक परिवेश जन–जातियां बना देता है तो दूसरा ग्राम–समाज का निर्माण करता है। भिन्न–भिन्न भौगोलिक परिवेशों में निवास करने वाले लोगों के खान–पान, रहन–सहन, रीति–रिवाज, तथा सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं में अन्तर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उत्तरी ध्रुव के एस्कीमों, आस्टे्लिया के बाण्टु, अमेरिक के रेड–इण्डियन तथा अरब के बद्दुओं की तुलना से यह स्पष्ट है कि ये आपस में बिल्कुल भिन्न हैं। इस भिन्नता का कारण भौगोलिक परिवेश की विशिष्टता ही है। अतः यह स्पष्ट है कि भौगोलिक परिवेश का समाज के निर्माण में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

अंचल को अंचल बनाने में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका भौगोलिक परिवेश की होती है। भौगोलिक परिवेश अंचल को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदानकरता है तथा सामान्य सामाजिक जीवन से उसे भिन्न बनाता है। कई उपन्यास भौगोलिक परिवेश की सफल सर्जना के कारण आंचलिक लगने लगते हैं। नागार्जुन के उपन्यासों में ग्राम्य वातावरण की अभिव्यक्ति प्रकृति–चित्रण तथा समस्याओं के कुशल उदघाटन द्वारा की गयी है। "दुखमोचन" मे टमका–कोइली ग्राम की स्थिति बड़ी कुशलता से अंकित की गई है – "गांव के बीचों बीच जो रास्त उत्तर से दक्षिण की ओरगया था वह कच्चा था, पक्का नहीं : गांव के उत्तर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड वाली पक्की सड़क से जुड़ा था और दक्षिण की ओर सात–आठ मील जाकर सहसौला बाजार में खत्म होता था। बस्ती सहसौला जिला बोर्ड की उस सड़क के किनारे आबाद थी जो पश्चिम से आकर सीधे पूरब की तरफ चली गयी थी।" [17] पाठक के मन पर गांव की स्थिति को अंकित करने में उपन्यासकार सफल है। इसी तरह के अनेक सुन्दर चित्रण लेखक ने प्रस्तुत किए हैं जो सजीवता और स्वाभाविकता लिए हुए हैं। "बाबा बटेसरनाथ" में बस्ती रूपउली के समीप का चित्रण इस प्रकार किया है – पूरब की ओर झील लहरा रही थी। पच्छिम कुछ खेतों में पाट के पौधे लहलहा रहे थे। ऊंची सतह के खेत ही उस ओर थे जिनमें चीना, सांवां और महुआ की फसलें खड़ी थीं। दच्छिन दूर तक धान के निरोग पौधों की घनी खेती छा रही थी और धमिया–पटटी के लिपी–पुती भीतों वाले घर जगमगा रहे थे। उत्तर की ओर तो यह तेरी बस्ती रूपउली अब भी नजदीक है और तब भी नजदीक थी। गांव के बीच–बीच में बांसों की झुरमुटें, आम–इमली–जामुन और पाकर–पीपल के छिटपुट पेड़ अपनी इस तिरहुत–भूमि

की एक बड़ी विशेषता है।"[18]

प्राकृतिक परिवेश प्रकृति के नाना उपादानों की सहायता से उपन्यासों में मुखरित हो उठा है। प्रकृति के यह तत्व ही परिवेश का निर्माण करते हैं। नागार्जुन ने इन्हीं तत्वों में से अपनी कथा–भूमि के उपयुक्त तत्व चुनकर तथा उनको प्रभावशाली ढंग से समाविष्ट करके विशिष्ट अंचल की कथा को प्रस्तुत किया है। "वरूण के बेटे" में कोसी के अंचल में बसे मलाही–गोंढ़ियारी के गढ़पोखर की प्राकृतिक स्थिति का कितना सजीव अंकन किया गया है – "गढ़पोखर की इधरवाली भिंड काफी ऊंची थी। गोंढियारी का उत्तर–पूरबी का नैला छोर उसे छूता था। गांव से उत्तर सटकर पुरानी अमराई और अमराई से लगा हुआ था गरोखर का इधरवाला (दक्खिनी) भिंडा। प्राइमरी स्कूल गांव के उत्तर–पूरब गरोखर की ऊंची भिंड के दक्खिनी ढलान पर खड़ा अलग से ही जगमगा रहा था। स्कूल का पिछवाड़ा गांव की तरफ और अगला हिस्सा पोखर की तरफ पड़ता था। चमुड़िया रेलवे–स्टेशन से आने वाली सड़क पूर्वी भिंड के पासापासी आकर जरा आगे बढ़ते ही "धनहाचोर" के संम्मान में बा–अदब धनुषाकार हो गई थी।"[19] इसी प्रकार "धनहाचोर" का विवरण बिल्कुल यथार्थवादी बन पड़ा है – "बीचों बीच एक–डेढ़ फलांग की लम्बाई और डेढ़–दो सौ गज की चौड़ाई में छाती–भर पानी था। जेठ आते–आते यह पानी कमर–भर रह जाता था। असाढ़ से लेकर कार्तिक–अगहन तक धनहा चोंर का इतना भाग अथाह पानी की वजह से झील बना रहता था। शरद ऋतु में खुलकर खिलने वाले नीले कमलों की बहार देखते ही बनती थी। हंसुली की – सी शक्ल वाली यह मनोरम झील ही धनहा चोंर के यश में चार चांद लगाए हुए थी।"[20]

कथा को सजीव एवं स्वाभाविक बनाने के लिए अंचल की भौगोलिक स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। गांव की स्थिति का "नई पौध" में चित्रण द्रष्टव्य है – "मुखिया के मकान के कुछ आगे बढ़ने पर छोटा–पुराना एक पोखर था पचासों साल की लापरवाही का जीता–जागता सबूत। पनियाही घासों की हाथ–भर मोटी घनी तह छाई हुई थी, इस कछार से उस कछार तक। चौकोर गढ़े की छाती पर स्वंयभू घासों का वह अजीब मैदान जेठ के इस महीने में भी आंखों को अच्छा नहीं लगता था। बीचों–बीच जाठ खड़ी थी, बीस–एक हाथ ऊंची रही होगी। अपने पुरखों की इस कीर्ति की ओर से मुखिया और उसके गोतिया लोग बिल्कुल उदास थे। भिंड पर तीन तरफ केवटों और ग्वालों के घर

थे, चौथी ओर साहड़, जामुन, बेल, खैर, जीमड़, पितोझिया का मामूली जंगल था।"[21] आंचलिक उपन्यासों में भौगोलिक परिवेश की सफल संर्जना उपन्यासकार ने की है। आंचलिकेतर उपन्यासों में भी अनेक स्थलों पर इस प्रकार के चित्रण मिलते हैं।

नागार्जुन भौगोलिक परिवेश को चित्रित करने में अत्यधिक सफल हैं और इसका कारण यह है कि मिथिला अंचल का जो कुछ वे चित्रण कर रहे हैं वह उनका स्वंय का देखा भाला और भोगा हुआ है। उनके उपन्यासों में मिथिला अंचल बिल्कुल साकार हो उठा है। भौगोलिक परिवेश से भी अधिक आंचलिकता का निर्माण करने का माध्यम है – वातावरण। वातवरण को आंचलिक बनाने के दोनों पक्षों प्राकृतिक और सामाजिक पर भी विचार करना इस दृष्टि से आवश्यक है।

(2) उपन्यासों में चित्रित प्राकृतिक परिवेश -

उपन्यासों में चित्रित प्राकृतिक वातावरण से अभिप्राय प्राकृतिक दृश्यों – जैसे प्रातः, संध्या, रात्रि, ऋतुओं, खेतों तथा खलिहानों से होता है। नागार्जुन के उपन्यासों में प्राकृतिक वातावरण उनकी एक विशिष्टता है। कथाकार ने बड़ी कुशलता से विभिन्न प्राकृतिक रूपों के सजीव और स्वाभाविक चित्र उपस्थित कर विशिष्ट वातावरण की सृष्टि की हैं इन चित्रों के माध्यम से ही उन्होने कथा को उसका एक विशिष्ट प्रभावशाली परिवेश प्रदान किया है। "बाबा बटेसरनाथ" में गांव के पास के वातावरण का चित्रण कितना सुन्दर बन पड़ा है – "जेठ की पूनम थी। अभी–अभी शाम हुई थी। पूरब की ओर चन्द्रमण्डल क्षितिज से ऊपर उठ चुका था। उसे लगा कि चांदी की यह बरफीली परत उसकी छाती और कपार पर ग्लिसरीन का मोटा प्रलेप चढ़ाने वाली है। दिन–भर की गर्मी और थकाने के बाद अमृतमय किरणों का यह अभिषेक उसे वरदान मालूम हो रहा था।" [22]

"जेठ की पूनम चांदनी क्या बरसा रही थी, गाढ़ा कढ़ा दूध बर्फ की तरावट लेकर भूतल को शीतल बना रहा था। दिन की झुलसी हुई प्रकृति इस अमृतमय–वर्षा में जुड़ा रही थी।" [23]

"वरूण के बेटे" में उपन्यासकार ने छोटे–छोटे वाक्यों में प्रकृति का सजीव चित्र अंकित कर दिया है –

"घुप अंधेरा। कड़ाके की सर्द।

नीचे अथाह पानी। ऊपर नक्षत्र–खचित नील आकाश।

परछाई में तारे भी जंच नहीं पा रहे थे क्योंकि छोटी–बड़ी हिलकोरें पानी को चंचल किए हुए थी। कदली–थंभों की यह नाव पोखर की छाती पर हचकोले खा रही थी।" [24]

मछुओं के जीवन की कितनी सजीव झांकी लेखक ने छोटे–छोटे वाक्यों में चित्रित की है। चित्र स्वाभाविकता लिए हुए है। प्रकृति चित्रण के साथ–साथ आंचलिक जीवन को प्रस्तुत करने में नागार्जुन सिद्धहस्त हैं –

"काले पाख की दशमी तिथि का अधूरा पिलपिला चांद निकल आया था। तारे अब भी ढीठ बने हुए थे। अपनी अपनी शान में चमक रहे थे। गरोखर की हल्की–हल्की पतली–पतली भाप ऊपर उठकर पूस के उन कुहासों को घना बना रही थी।" [25]

"शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी।

पहर रात बीती थी।

आमों के झुरमुट में चितकबरी चांदनी।

चितकबरी चांदनी में वह छोटा–सा दुपलिया मचान नहा रहा था।" [26]

"धौली तेरस की गाढ़ी–दूधिया चांदनी किसुन भोग की घनी–छतनार डालों के तले जा नहीं पा रही थी किंतु अपनी दमकती परछाई से अंधकार की गहन कालिमा पर हल्की–हल्की सी पोची वह अवश्य फेर रही थी।" [27]

आंचलिक उपन्यास में प्राकृतिक वातावरण का एक विशिष्ट महत्व है। अंचल की समग्रता उससे प्रखर हो उठती है। नागार्जुन के उपन्यासों में अंचल विशेष की भाषा के साथ ही प्राकृतिक वातावरण का सृजन उनकी अपनी विशेषता है। ग्रामीण वातावरण के समग्र रूप में अंकित करने में कथाकार की कुशलता प्रकट होती है – "टिप टिप टिप ------ पिछले सत्तर घण्टों से आसमान टपक रहा था। ऊदे–ऊदे भारी–भारी बादल विराट चंदोबा की तरह ऊपर तने हुए थे। नीचे भीगी धरती सिकुड़ सिमटकर मानो छोटी हो आई थी। कीचड़ की घिचिर–पिचिर ने मन की प्रफुल्लता हर ली थी। टिप टिप टिप ----- काली–डरावनी रात का यह सन्नाटा कई गुना अधिक गहरा हो रहा था। अमराइयों में डालों और टहनियों की सन्धियों से चिपके झींगुरों की एकरस–एकस्वर झंकार बरसात की इस प्रकृति को भयानक बना रही थी।

कहीं कोई कुत्ता भी तो नहीं भूंक रहा था।" [28] बरसात के ये चित्र पाठक की आंखें के आगे गांव की वास्तविक स्थिति का अंकन करने में समर्थ हैं। टमका–कोइली गांव में अग्निकाण्ड के बाद रात की चांदनी में गांव कैसा लग रहा था। – "बरबाद बस्ती का उलंग कंकाल चांदनी में और भी वीभत्स, और भी भयानक लग रहा था। बिना भीत के जले घरों के नंग–धड़ंग खम्भे पुरानी नावों के बदरंग मस्तूलों की तरह चांदनी के दूधिया समुद्र में इस वक्त बेशरमी से इतरा रहे थे।" [29]

जेठ के मास में गांव दोपहर को गर्मी की चपेट में रहता है तो रात्रि को पूर्णिमा का चांद उसको शीतलता प्रदान करता है। कथाकार ने आम के पकने और टपकने के साथ–साथ अंचल का कितना सुन्दर वर्णन इन पंक्तियों में किया है – "जेठ की पूर्णिमा के पांच–सात रोज बाकी थे। बम्बई और रोहिणियां आम पकने–टपकने लगे थे। लगता था कि समूचा गांव बागों ओर अमराइयों में आ डटा है –––––– गीत, खिलखिलाहट, ठहाके, शोर–पुकार, बातचीत, बन्दरों को खदेड़ने की ललकारें और बीच–बीच में हवा की हल्की सिहकी से पके आमों का टपकना ––––– और इन विलक्षण ध्वनियों की पृष्ठभूमि के तौर पर झींगुरों की झंकार–अविराम और एकरस।" [30] प्रकृति चित्रण के साथ–साथ ग्रामीण परिवेश और अंचल की सोंधी–सोंधी गन्ध पाठक को मस्त बनाने में समर्थ है। नागार्जुन मिथिला अंचल के निवासी हैं अतः उन्होने बड़ी स्वाभाविकता से इस प्रकार के मनोहारी चित्र प्रस्तुत कर दिए हैं। उनके उपन्यासों में प्रकृति के नाना रूपों का निरूपण किया गया है। किंतु प्रकृति–चित्रण केवल भौतिक चित्रण बनकर नहीं रह जाता है, लेखक ने उस पर मानवीय संवेदनाओं के आरोप द्वारा उसमें प्रभाव–प्रवणता का समावेश भी कर दिया है। ऐसे ही कुछ चित्र द्रष्टव्य हैं–

"शरद ऋतु की चांदनी में नीला निर्मेघ आकाश बिखरे नक्षत्रों की अपनी जमात के साथ बलुआहा पोखर के श्यामल वक्षस्थल पर जब प्रतिफलित हो उठता तो भिंड (भीट) पर बैठे हुए निपट निरक्षर दुसाध–मुसहड़ भी कवि की तरह उसासें भरा करते! उन्हें जाने अपने जीवन की मधुमय घड़ियां एक–एककर याद आती।" [31]

"शिशिर की नीरव निस्तब्ध निशा में रह–रहकर एक आध बड़ी मछली पानी पर उतराकर अपने पर फड़फड़ाती तो ठिठुरती प्रकृति के वे एकान्त क्षण मुखरित हो उठते।" [32]

"बड़ी पोखर के भिंड पर उत्तर की ओर मुंह करके जयकिशोर दातुन करने बैठे। आगे खेतों में धान के हरे–हरे पौधे लहरा रहे थे। उनसे परे आमों के नील–निविड़ कुंज थे। उनसे भी परे सुदूर उत्तरी आकाश में हिमालय की धवल–धूमिल चोटियां थीं जो उगते सूरज की पीली किरणों से उद्भासित होकर स्वर्णश्रृंग सी लग रहीं थी।" [33]

उपन्यासकार की भावुकता इस प्रकार के प्रकृति चित्रण से मानवीय संवेदनाओं के आरोप के साथ–साथ अपनी अभिव्यक्ति पा लेती है। उपन्यासों में अनेक स्थल ऐसे हैं जो इसी कारण से गद्य–गीत की सी गंभीरता प्राप्त किए हुए हैं –

"सचमुच झींगुरों की एकतार आवाज पूर्णिमा की उस नीरव रजनी को और भी गंभीर बना रही थी। यों रात डेढ़ पहर से ज्यादा नहीं बीती होगी परंतु लगता था कि निशीथ के क्षण आ पहुंचे। स्निग्ध–शीतल एवं धवल–पांडुर आलोक धरती को दिगदिगन्त तक उद्भासित कर रहा था। नीचे पृथ्वी, ऊपर आकाश–दीप्त प्रकृति का उदार–परिवेश वह क्या था, ग्रीष्मांत की रजनी का सौभाग्य–श्रृंगार था मानो –––––" [34] अन्य स्थानों पर उपन्यासकार ने अनेक ऐसे वर्णन किए हैं जो गद्यगीत से भी अधिक मधुर हैं – "जेठ की पूर्णिमा का चन्द्रमा आकाश में काफी ऊपर उठ आया था। निचली सतह के खेतों में धान के अंकुर निकल आए थे। चांदनी रात में वे ऐसे लग रहे थे मानो सादे मैदान में ब्लू–ब्लैक की स्याही दूर–दूर तक फैला दी गई हो या कि न दिखाई पड़ने वाले मेघों की छाया पड़ रही हो –––––" [35] बाबा बटेसरनाथ में ही एक अन्य स्थल पर उनका यह चित्रण भी मनोहारी बन पड़ा है। "आश्विन की पूर्णिमा आ पहुंची। धानों की मंजरियों के सूक्ष्म–सुरभित फूल अपना मन्द–मधुर परिमल शरद–समीर को लुटाने लगे, अब उनसे दूधिया दाने निकल आए। नुकीले दानों वाली बलियों का वह विचित्र वैभव हेमन्त की अगवानी में अभी से झूम उठा।" [36]

वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा में ग्रामीण–जन सदैव आकुल रहते हैं विशेषकर अषाढ़ के मास में। नई पौध में उपन्यासकार ने वर्णन कितनी स्वाभाविकता से किया है – "कि बूंदा बांदी शुरू हुई। बादल उमड़–उमड़कर तो नहीं आए थे। दो–चार खंडमेघ आकाश में मटर गश्ती कर रहे थे, अब ठीक माथे पर पहुंचकर अलसा गये तो ढीले पड़ने लगे। बूंदा की पटा–पट सुनकर बैठक में बैठे हुओं के कान गुद गुदा उठे, देह में हल्की सिहरन हुई।" [37] ग्रामवासी

सच्चे अर्थ में प्रकृति के पुत्र हैं। ग्रीष्म, वर्षा, शीत सभी को हंसकर सहते हैं और अपने कार्य में जुटे रहते हैं। तार सराय के स्टेशन के पास का वर्णन द्रष्टव्य है – "पौ फटने को थी। अभी–अभी बादल बरस चुका था, इसी से हवा में कुछ ठंडक थी। पेड़ अपनी–अपनी पत्तियों से अब भी मोटी–मोटी बूंदे टपका रहे थे। सूखी धरती ने दिल खोलकर वर्षा का स्वागत किया था। जहां–तहां मेंढ़क पुलकित हो–होकर ऋतु की रानी की जय–जयकार कर रहे थे। ऊसर खेतों की बलुआही मिट्टी पर से नंगे पैरों चलना बड़ा अच्छा लग रहा था।" [38]

वर्षा समय से हो जाये तो किसान प्रसन्न, परिवार प्रसन्न और समूचा अंचल प्रसन्नता व्यक्त करता है। वर्षा न हो तो सभी कुछ चौपट हो जाता है – "आधा सावन बीतते न बीतते लोग अपने–अपने खेत आबाद कर चुके थे। धान के हरे–हरे पौधों से एक–एक मैदान, एक–एक पांत हरियाली का समुद्र हो रहा था। बयार सिहकती तो इस समुद्र की हरित–नील–लोल लहरियां सातों सागर की तरंगित सुषमा को मातकर जाती :खेतिहर के मन–प्राण धान के लहराते पौधे देख–रेख लहराया करते और भविष्य की सुनहली जालियां बुनने में उनकी आत्मा विभोर हो जाती।" [39] क्वार के मास का यह चित्रण कितना सजीव है – "इस बार धान की फसल खूब अच्छी थी। हरे–हरे पौधों के बाद भी भूरे–धूलिया शीश निकल आये थे। धान के फूलों की भीनी और जमी खूशबू बीतते क्वार की सलोनी सिरहन में शरद की अनमोल ताजगी भर रही थी। किसान मस्त होकर सवेरे–शाम अपने–अपने खेतों की परिक्रमा कर आते थे।" [40] उपन्यास में अनेक स्थलों पर उपन्यासकार ने प्रकृति के नाना–रूपों पर इस प्रकार मानवीय संवेदना का आरोप किया है कि वर्णन आकर्षक, सुन्दर एवं सरस बन पड़े हैं। अंचल की सोंधी–सोंधी गन्ध को पाठक अच्छी तरह से अनुभव करने लगता है।

(3) सामाजिक परिवेश तथा सामाजिक वातावरण :-

जनजीवन या सामाजिक पक्ष वातावरण का दूसरा पक्ष होता है। आंचलिक उपन्यासों में जिस अंचल का चित्रण होता है। उस अंचल विशेष की अपनी सामाजिक समस्याएं होती हैं, उसके अपने नैतिक मानदण्ड और संस्कृति होती है। इन सभी का कुशलतापूर्वक चित्रण यदि उपन्यासकार करता है तो निस्संदेह वह सामाजिक वातावरण को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में उपस्थित कर सकता है। सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक परिवेश को नागार्जुन ने सुन्दर ढंगों में

उपस्थित किया है। आंचलिक जीवन–यापन जिनमें भोजन, वेशभूषा, आवास तथा व्यवसाय को लिया जा सकता है, अंचल के मनोरंजन के साधन, जिसमें लोक साहित्य एवं कला–रूप, उत्सव, रीति–रिवाज, आते हैं, अंचल का मनो जगत तथा अंचलवासियों की आधिदैविक चेतना, जिसमें अंधविश्वास, टोना–टोटका, जादू, शकुन–अपशकुन, संस्कार व्रत आदि आते हैं, के आधार पर नागार्जुन के उपन्यासों मे चित्रित सामाजिक परिवेश एवं सामाजिक वातावरण की हम यहां विवेचना करेंगे।

(क) अंचल का जीवन-यापन - मिथिला के जन जीवन की समस्याएं नागार्जुन के उपन्यासों को शक्तिशाली आंचलिक वातावरण प्रदान करती है। चैत के महीने में ग्रामीण स्त्रियों के पास अधिक काम नहीं रहता है वे विभिन्न प्रकार के हल्के–फुल्के कार्यों में लगी रहती हैं – "चैत का महीना था और शाम का वक्त। बीच आंगन में टोला–पड़ोस की औरतें जमा थीं। सभी किसी न किसी बातचीत में मशगूल थीं। दो–एक की गोद में बच्चा भी था। दो–एक जनेऊ का धागा तैयार करने के लिए तकली लिये आई थीं। उनकी तकलियां किर्र–किर्र करके कांसे के कटोरों में नाच रही थीं और पूनी से खिंचकर सर्र–सर्र निकलता जा रहा था सूत।" [41] लेखक ने कम से कम शब्दों में उस ग्रामीण अंचल को साकार कर दिया है।

विधवा–समस्या हिन्दू जाति के लिए सदैव से एक कलंक के समान रही है। विधवा गौरी अपने देवर जयनाथ की वासना का शिकार होकर गर्भवती हो जाती है। ग्रामीण स्त्रियां ऐसी बातों की टोह में लगी रहती हैं। गौरी के इस पाप का पता चलते ही पूरे गांव ने उसके विरूद्ध आंदोलन छेड़ दिया – "खानदानी खबास की बुढ़िया औरत आज पानी भरने नहीं आई, घड़े रीते पड़े थे। रतिनाथ ने छोटी बाल्टी में पोखर का पानी ला–लाकर उन्हें भर दिया। चाची समझ गई कि दमयंतन का अनुशासन उसके खिलाफ शुरू हो गया आज से। अब इस आंगन में न धोबिन आएगी, न नाइन, न डोमिन, न चमाइन। ब्राह्मणी की तो भला बात ही कौन कहे।" [42]

"अब और क्या होगा? मर्दो का तो कोई ठिकाना है नहीं । अगर हम न रहे, तो संसार से आचार विचार हट जाये। उमानाथ की मां व्याभिचारिणी है, पतिता है, भ्रष्टा है, कुलटा है, छिनाल है, उससे हमें किसी प्रकार का संबंध नहीं

रखना चाहिए। बोलचाल बन्द। बात विचार बन्द। प्रत्येक व्यवहार बन्द। हां, जयनाथ और रतिनाथ दोनों बाप–पूत यदि प्रायश्चित कर लें तो इस समाज में उनके लिए स्थान हो सकता है, परंतु उमानाथ की मां को समाज किसी भी हालत में क्षमा नहीं कर सकता।" [43] दमयन्ती का यह कथन महिलाओं और पुरूषों की स्थिति को स्पष्ट करता है।

मिथिला अंचल में ब्राह्मणों की दशा आर्थिक रूप से अच्छी भले ही न हो उन्हें अपनी वंश परम्परा और कुलीनता पर बड़ा अभिमान था। कुलीनता के नाम पर ही कुछ लोग अपने को "बिकौआ" [44] बना लेते थे। बिकौआ उन्हें कहा जाता था जो अपनी कुलीनता बेच–बेचकर अपनी जीविका चलाते थे। एक–एक व्यक्ति बाईस तक शादियां करता था। जीवन ससुरालों में ही कट जाता था। समाज में काफी इज्जत होती थी।

ग्रामीण क्षेत्र में पाठशालाओं में अध्यापन करने वाले अध्यापकों की वास्वविकता कुछ ऐसी ही है जैसी शुभंकरपुर के पण्डित जी की। उनकी आजीविका कैसे चलती है? "यह पण्डित जी बड़े ही चतुर थे। बारह रूपया महीना डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से भी लेते थे और पांच रूपया राजा बहादुर से भी। पतिया–प्रासचित से भी कुछ निकल आता था। पुरोहित के कामों में भी पण्डित जी का दखल था। गरज यह कि कुल मिलाकर पण्डित जी की आमदनी पचीस रूपए माहवार पड़ जाती थी। अपनी ही दालान में पाठशाला थी। सात–आठ बीघा खेत थे। दो चचेर भाई थे। तीन लड़कियां, दो लड़के। तीना गाय बैल, एक हलवाहा, एक खेत–मजदूर। घर–गिरस्त का छकड़ा मजे में पण्डित जी चला रहे थे।" [45] उपन्यास का प्रत्येक शब्द ग्रामीण वातावरण और वहा के जीवन–यापन के ढंग को उभारता है। गांव में विभिन्न जातियों के लोग रहते हैं और जातियों के अनुरूप ही उनका व्यवसाय होता है –

"तरकुलवा में खेत मजदूर सुलभ थे। जयकिशोर की मां ने दो खेत–मजदूरों को पांच–पांच कट्ठा खेत दे दिये थे। वे पिशाच की तरह कड़ी मेहनत से सारे काम करते। धान रोपने के दिनों में रोज पांच–पांच, सात–सात, दस–दस तक मजदूर लगे रहते। उन्हें अढ़ाई सेर धान और पेट भर खाना मिलता। दाल–भात, तरकारी और अचार। छोटी जाति के उन गरीब और भूखे बनिहारों (खेत–मजदूरों) के लिए जयकिशोर बाबू के खेतों में धान रोपने के ये दिन महोत्सव के दिन थे। पुण्याह थे।" [46]

एक चरवाहे की दिनचर्या के साथ–साथ गांव के वर्णन में बड़ी सजीवता आ गई है – "पहले दिन सुबह–सुबह भैंस खोलकर जब मैं चराने ले चला तो काफी सवेरा था। मुझे डर लगा। दादी के मुंह से भूत–प्रेत की कहानियां रोज ही सुनी थीं। गांव के बाहर का हर एक बूढ़ा पीपल या बरगद मेरे लिए भूतों का रैन–बसेरा था। भैंस सीधी–सादी थी, नाकों में नकेल थी। नकेल की रस्सी को हाथ में लपेट कर भैंस की पीठ पर मैं बैठ गया और वह अपनी इच्छा से पूरब की ओर चल पड़ी। जेठ का महीना था। उस साल आम नहीं फरे थे। इसलिये चरवाहे बागों में ले जाकर अपनी भैसों को छोड़ देते थे और खुद भैंस की पीठ पर पड़े–पड़े सुबह की मीठी नींद के झोंके लेते रहते।" [47]

"गांव के बाहर मेरी ही उमर के जब और चरवाहे इकट्ठे होते तो हम अपना–अपना दुख भूलकर खेलते। कभी कौड़ी उछालते, कभी बकरी की सूखी मींगणियों से सतधरा खेलते, कभी ककड़ी से कौवा–ठठटी, मोगल पठान या बाघ–गोटी का भी खेल चलता।" [48] गांव में खेतिहर मजदूरों की दशा अच्छी नहीं है। वे अपना जीवन निर्वाह करने के लिए तरह–तरह के कार्य करते हैं। मौसम के अनुसार उनके कार्य भी बदल जाते हैं – "गांव के बाहर जाड़े के दिनों में हर साल मालिकों का कोल्हू गड़ता। उसके यहां गन्ने की खेती कम नहीं होती। मैं अपनी छोटी बहन को लेकर रात को कोल्हू की आड़ में ही बिताया करता। गन्ना खा–खाकर पेट भर लेना और भट्टी की आंच से गरमाकर सो जाना। डेढ़–दो महीने हर साल जाड़ों में हम ऐसा ही करते।" [49] उपन्यासकार ने मजदूरों के जीवन का यहां पर यथार्थ चित्रण किया है।

मिथिला अंचल के पण्डितों के जीवन यापन का ढंग इन पंक्तियों में चित्रित हुआ है – "जथा–जाल से मामूली था। पेशा था पण्डिताई का। जमीन इतनी ही थी कि चार महीने का बुतात उसी उपज से निकल आता। विद्या से ही उनकी असली आमदनी थी। भागलपुर, मुगेर, संथाल–परगना और पूर्णिया इन चारों जिलों में खोंखा पंडित का नाम था। आवाज सुरीली और मीठी होने से भागवत की उनकी कथा लोग कान पाथकर व मन लगाकर सुना करते। अब तो खैर सर्धा–विश्वास कम हो गया, पहले मगर भागवत से काफी आमदनी थी। पुराने ढर्रे की साह खर्ची और पास–पड़ोस के लोगों से यश पाने की भूख–इन दोनों लतों ने खोंखा पंडित को तबाह कर रखा था। ----- पूस में सालभर का खेवा–खर्चा जुटाकर पंडित घर में भर लेते और खुद निकल जाते जजमनिका

में, पूरब या दच्छिन की ओर।" [50]

"बाबा बटेसरनाथ" में हिजरी सन् 1880 के अकाल का वर्णन भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है – "चैत बीतते–बीतते बड़े–बड़े गृहस्थ तक जौ–चने की रोटियों पर उतर आए थे। चावल ही जिन इलाकों का खास भोजन हो, वहां जौ–चने का टिक्कड़ खुशी–खुशी तो कोई खाएगा नहीं। मरता क्या नहीं करता। मामूली हैसियत के किसान शकरकंद बनाम अल्हुआ की शरण ले चुके थे। खेत–मजदूर और जन–बनिहार आम की सूखी गुठलियां चूर–चूरकर मडुआ का जरा सा आटा उसमें मिलाकर टिक्कड़ बनाते और उसी से भूख की आंच को शान्त करते।–––––तालाबों में पानी घटने लगा तो लोग मछलियों और कछुओं पर टूट पड़े। मछलियां भूनकर बिना नमक के ही उन्हें वे पेट के हवाले कर देते।" [51] अंचल के खान–पान का वास्तविक स्वरूप उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है।

"वरूण के बेटे" में मछुओं के जीवन की समस्याओं और उनके रहन–सहन के ढंग का उद्घाटन हुआ है – "मलाही गोढ़ियारी में मछुओं के तीस पैंतीस परिवार थे। खाने वाले मुंहों की तादाद तेजी से बढ़ रही थी। भोला की श्रेणी के सम्पन्न–सुखी गृह–पति इन में दो ही तीन थे। अधिकतर मछुए खुरखुन की हैसियत के थे। वे पास–पड़ोस के इलाकों में पांच–सात कोस तक और कभी–कभी दस–पन्द्रह कोस तक मछलियां पकड़ते निकल जाते थे। इधर के जितने भी पोखर थे, जितनी भी ताल–तलइयां थीं, जितनी भी नदियां और झीलें थीं, पानी का जहं भी जमाव–टिकाव था – सारा का सारा उनका शिकारगाह था।" [52]

इस बस्ती के "जाल बुनते हुए या धागा बांटते हुए अर्ध–नग्न बूढ़े। हुक्का गुड़गुड़ाती या टिकिया सुलगाती हुई बुढ़िया। कछारों में केंकड़े या कछुए खोजते हुए नंग–धड़ंग लड़के! जलते चूल्हों पर काली हांडियां, करीब बैठकर हल्दी–लालमिर्च पीसती हुई सयानी लड़कियां, फटी–मैली धोतियों वाली।" [53] यही है साधारण झांकी मछुओं के अन्तरंग जीवन की।

मिथिला अंचल ही नहीं आज भारत के प्रत्येक अंचल में टमका–कोइली गांव की यह झांकी देखी जा सकती है जो आज के भारतीय ग्रामों का सही चित्रण है – "पंचायत गांव की गुटबन्दी को तोड़ नहीं सकी थी अब तक। चौधरी–टाईप के लोग स्वार्थ–साधन की अपनी पुरानी लत छोड़ने को तैयार

नहीं थे। जात–पात का टंटा, खानदानी घमण्ड, दौलत की धौंस, अशिक्षा का अन्धकार, लाठी की अकड़, नफरत का नशा, रूढ़ि और परम्परा का बोझ ------ जनता की सामूहिक उन्नति के मार्ग में एक नहीं अनेक रूकावटें थीं। मुसीबत के दिनों में बाहर वालों से तत्काल सहायता पाना जितना कठिन था, उससे भी कठिन था सहायता में मिली हुई वस्तुओं और रकमों को सही जगहों तक पहुंचाना। स्वार्थी और लालची लोगों के सींग नहीं हुआ करते, न कोई खास किस्म का झण्डा–पताका होता है उनका।"[54] गांव में व्याप्त सभी बुराईयों की ओर लेखक ने अपने उपन्यासों में ध्यान आकृष्ट किया है और उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है।

(ख) वेशभूषा - अंचल विशेष में रहने वाले लोगों की वेशभूषा भी अलग होती है। उपन्यासकार को अंचल की समग्रता प्रस्तुत करने में वेशभूषा का वर्णन करना भी आवश्यक सा बन जाता है। छोटी–छोटी इन बातों के वर्णन से उस अंचल के जीवन–यापन की सही स्थिति का पाठक को ज्ञान होता है। मिथिला अंचल की बूढ़ी औरतों की वेशभूषा का यह चित्र द्रष्टव्य है – "गंगा–जमनी बाल। कानों में सोने के छोटे–छोटे मगर लटक रहे थे। शांतीपुरी धोती पहने हुए थीं। गले में बारीक रूद्राक्षों की माला शिवभक्ति की सबूत थी या शौक की , कहा नहीं जा सकता।"[55] बलुआहा पोखर पर रहने वाले तारा बाबा की "धोती लाल–सुर्ख रहती थी। गले में हाथी दांत के खरादे हुए दानों की माला थी। दाईं बांह पर दो बड़े–बड़े रूद्राक्ष और एक बड़ा सा मूंगा पहनते थे। दाढ़ी–मूंछ बाल और नाखून कभी काटते नहीं थे।"[56]

"बलचनमा" में एक खेतिहर–मजदूर की दशा का वर्णन किया गया है। जमींदारों के आतंक से पीड़ित ये लोग न अच्छा खा सकते थे और न पहिन ही सकते थे। बलचनमा (बालचन्द) अपनी वेशभूषा के बारे में कहता है – "मेरी कमर मे फटी सी मैली से बिस्ठी झूल रही थी। बिस्ठी न तो लंगोटी है न कच्छा, कपड़े के लीरे को अगर तुम कौपीन की भांति पहन लो तो वही हमारे यहां बिस्ठी कहलाएगी।"[57] निर्धन लोग शादी–ब्याह के अवसर ही कुछ नए–नए वस्त्र पहनते हैं। बलचनमा भी अपने बारे में यही बतलाता है – "छः वर्ष की उमर ही में शादी हो गई थी और तो कुछ याद न रहा लेकिन बारात में सिंगा बजाने वालों का नजारा कभी नहीं भूलेगा। बड़े मालिक के यहां से पालकी मंगनी की गयी थी। कनेर के फूल से थोड़ा–बहुत सजाकर मुझे उस पर बैठाया गया। बारात में

दस–बारह जने गए थे। पीले रंग की धोती, धारीदार हरा सा कुरता। माथे पर जरी गोटे वाली टोपी। पैर खाली। मुझे सब कुछ याद नहीं है —————" [58]

"सुबह गौने का महूरत था। महफा और चार कहार उन्हीं लोगों ने ठीक कर रखे थे। औरतों ने रो–रोकर आसमान को माथे पर उठा लिया। गौने वाली का तो मानो कंठ ही फूट गया था। पीली साड़ी और लाल चोली। पीठ की ओर से साड़ी पर हथेलियों के लाल–लाल थप्पे पड़े हुए थे। तलवों में महावर के नाम पर लाल रंग अपनी गहरी लाली खिला रहा था।" [59]

वेशभूषा के वर्णन के साथ–साथ उस अंचल के रहन–सहन और ज़ीवन स्तर की जानकारी पाठक को मिलती है। नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में वेशभूषा का जहां कहीं भी वर्णन किया गया है वह कथा के विकास में बाधक न होकर सहायक है। पाठक को उत्सुकता बनाबर बनी रहती है।

जमींदारों के यहां काम करने वाली नौकरानियों की वेशभूषा का वर्णन उपन्यासकार ने बड़ी शलीनता और सहजता के साथ इन शब्दों में किया है – "दोनों बाहों पर बांसुरी बजाते हुए बांके बिहारी कृस्न गोदे हुए थे। ठोड़ी पर बाई ओर तिल गोदा हुआ था, कपार पर बिन्दी। गरदन पर चांदी की मोटी हंसुली थी। बाहों में बाजूबंद थे, नाक के छेद में सोने का छक (कील) था। कलाइयों में लाह की मोटी–मोटी चार लहठियां बड़ी भली लगती थीं। पैर खाली थे। हां उन पर पीपल के पत्ते की शक्ल का गोदना गोदवा रक्खा था। चौड़े पाट की साफ साड़ी पहनकर जब वह बाहर निकलती तो और भी खूबसूरत लगती।" [60]

"नई पौध" में बमपाटी के नौजवान सदस्य हेहुआ की वेशभूषा का वर्णन इस प्रकार है – "सांवली सूरत, डील–डौल का अच्छा। कद औसत। पहनावे में नौ हाथ धोती, बस – नहीं काले धागों में गुथा हुआ चांदी का कंठा गले में और दाहिनी भुजा पर मूंगे का एक बड़ा सा दाना – छेद के सहारे पीले धागों की तीन बारीक डोरियों से बंधा था ——————— बस!" [61] वेशभूषा के वर्णन के साथ–साथ पात्र का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही उभरकर पाठक के सामने आने लगता है। बिसेसरी के लिए चुने गए बूढ़े दूल्हे की वेशभूषा इस प्रकार की है – "गालों में गढ़े पड़ गये थे। सिल्क का कुर्ता, टसर की पगड़ी, रेशमी चादर। सिकिया कोर की फस्ट क्लास धोती। हिना और केवड़े की तेज खूश्बू से लोगों की नाक भर–भर उठती थी।" [62] इस प्रकार नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में वेशभूषा के चित्रण के साथ–साथ अंचल के जीवन–यापन पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है।

"बाबा बटेसरनाथ" में राउत ओर पण्डित चन्द्रमणी मिश्र की वेशभूषा तत्कालीन समाज की स्थिति का परिचय देती है – "राउत दोनों हाथ जोड़े, धोती का अद्धा गले में डाले, विह्वल मुद्रा में खड़ा था – ठीक उसी तरह जिस तरह बकरें को बलि के वक्त दशभुजा दुर्गा के सामने यजमान खड़ा रहता है -----।" [63] तथा "पण्डित जी की भौंहों के बाल पक–पककर न जाने कब के पीले पड़ चुके थे। धंसी–धंसी आंखों के अन्दर पुतलियां देखकर बिल में पडी कौड़ी याद आती थी। ---- उनके गले में सफेद मलमल की चादर पड़ी थी, पहनावे में पीले रंग की धोती थी।" [64]

"बाबा बटेसरनाथ" में ही वट वृक्ष जैकिसुन से उसके दादा के समय के रहन–सहन और वेशभूषा आदि का वर्णन करता है – "उस जमाने में तेरी बस्ती की आबादी इतनी ज्यादा नहीं थी। कुल मिलाकर सत्तर परिवार थे। ---- आजकल की अपेक्षा रहन–सहन उन दिनों कहीं अधिक सादा था। मिर्जई, दुपलिया टोपी, चमरौधा जूता और पतले बांस की नकुली छड़ी जिसका सिरा चांदी के पत्तर से मढ़ा होता – मंझली और ऊंची हैसियत वालों का यही बाना था। राज, बाबू – बबुआहन, जमींदार, दीवान और राजपुरोहित–राजपण्डिती लोग छोटे लाट की दरबारदारी में जाते तो चुस्त पाजामा, शेरवानी, पेचदार पगड़ी और दिल्लीवाले जूतों में हुआ करते। तेरा परदादा चार गज की गाढ़ी धोती और ढाई गज की चादर लेकर पहुनाई करने निकलता था। जूते उसके कभी नहीं देखे मैने।" [65] वेशभूषा के आधार पर ही उपन्यासकार ने समाज की दशा और अंचल का एक जीवित चित्र उपस्थित कर दिया है जिससे उपन्यास में आंचलिकता उभरकर आ जाती है।

"वरूण के बेटे" में जो कि मछुओं के जीवन की यथार्थ गाथा है, उपन्यासकार ने मछुओं की वेशभूषा को बड़ी सूक्ष्मता से देखा है – "भोला ने अपनी सूखी धोती और हाफ कमीज पहन ली। खुरखुन ने सूखा गमछा और गोल–गर्दन वाली निमस्तीन।" [66] मोहन मांझी जो एक नेता है उसकी वेशभूषा इस प्रकार की है – "आधी बाहों की कोकटी कमीज। मामूली सूतों की मटमैली धोती। खाकी थैला बांह से लटक रहा था। पैरों के नाखून बड़े–बड़े और बेकाबू। चेहरा गोल, पेशानी चौड़ी। लाल–लाल छोटी आंखों में काली पुतलियां खूब खुल नहीं पा रहीं थीं।" [67] खुरखुन की पत्नी की वेशभूषा कितनी दयनीय लग रही है – "नन्ही की रूलाई सुनकर मां बाहर आई। सांवल खाल से मढ़ा हुआ

कंकाली ढांचा। कैसी बुझी आंखें। पोपले गाल। सर के बाल उड़ रहे थे। मैली–फटी साड़ी चिप्पियों से जगमगा रही थी।" [68] इस प्रकार नागार्जुन के उपन्यासों में वर्णित वेशभूषा से पात्रों की चित्र–माला सी सामने आ जाती है और अंचल का स्वरूप उभरता चला आता है।

(ग) आवास – किसी अंचल के लोग किस प्रकार जीवन यापन करते हैं यह तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता जब तक कि उस अंचल के आवास के बारे में चित्रण न किया जाएं मकान की स्थिति से ही मनुष्य के स्तर का पता चलता है। नागार्जुन के उपन्यासों मे यह विशिष्टता है कि आवास के बारे में स्पष्ट और स्वाभाविक चित्रण उन में देखने को मिलते हैं। "रतिनाथ की चाची" मे रतिनाथ के घर के चित्रण से उसकी आर्थिक स्थिति ओर जीवन स्तर पर प्रकाश पड़ता है – "आंगन में तीन घर थे। दच्छिन, पूरब और उत्तर की तरफ। पच्छिम वाला डीह खाली था। मिट्टी के तीन भीत और बांस के छप्पर, खर (खढ़) के छाए हुए। पूरब वाला घर चाची का था। दच्छिन और उत्तर वाले घर जयनाथ के थे।" [69]

"बलचनमा" में वर्णित बलचनमा के आवास से उस की निर्धनता का आभास होने लगता है – "नौ हाथ लम्बा, सात हाथ चौडा घर था – दो छप्परों वाला। सामने छोटा सा आंगन था। बाई ओर आठ–दस घूर (विस्वांसी) बाड़ी थी। उसमें साल के बाराहों महीने कुछ न कुछ उपजा लिया जाता।" [70] जमींदारों के भव्य आवास की सविस्तार चर्चा की गई है – "छोटे मालिक ने अपने लिए हवेली अलग बनाई थी। यह थीड़ी सी जगह को घेरकर बनाई गई थी। यही कोई दो बीघे थी। बीच में आंगन, चारों ओर घर। इन घरों के चार–चार छप्पर थे। ––––––– चौखटे सीसम की। किवाड थे कटहल की लकड़ी के बने। देखने में पीले, बनावट के अच्छे यह किवाड बड़े अच्छे लगते थे। आंगन के दच्छिन–पूरब कोने में तुलसी का चबूतरा था, वहीं हनुमान जी की धुजा गड़ी हुई थी। लाल पताका पर लम्बी लंगूर वाले महावीर जी सफेद कपड़े से सी दिये गये थे। हाथ में टेढ़ी सी गदा थी। उत्तर और पूरब के कोने से बाहर निकलने का रास्ता था। दरवाजे पर भी किवाड़ थे। बन्द कर लेने पर घर और आंगन मिलकर हवेली को एक अलग संसार बना देते थे। दरवाजे से सटा हुआ सुन्दर दालान था। उसके अन्दर वाले दो कमरों की हवेली के पुबरिया घर से भीतर ही भीतर संबंध था।" [71]

"नई पौध" में खोंखा पण्डित के घर का वर्णन भी विस्तार से किया गया है

जिससे उस समय की आवास स्थिति पर प्रकाश पड़ता है – "बैठक के कोने पर एक छोटा सा दरवाजा था, वह अन्दर घर की ओर खुलता था। यों तो समूचा ही बैठका भीतरी मकान का बाहरी हिस्सा था, लेकिन था वह बिल्कुल स्वतंत्र। बैठक के दोनों छोर क्या थे, कमरे थे दो छोटे–छोटे। उन्हीं में से एक कोठरी का लगाव अन्दर हवेली से था।"[72] एक कवि के घर की झांकी इस प्रकार अंकित की गई है – "पड़ोस का घर एक कवि महाराज का था। पत्नी, तीन बच्चे और पीतल कांसे के चार–छः मामूली बर्तन, मिटटी के दो तीन मटके फटे कम्बलों और पुरानी रंजाइयों का छोटा सा ढेर, टूटी तख्तपोश ––––– ऊपर से फूस के छप्परों वाल मकान। गिरस्ती का बुरा हाल था।"[73]

"वरूण के बेटे" में लेखक ने अनेक स्थलों पर मछुओं की बस्ती का बडी सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया है। साधारण श्रेणी के खुरखुन जैसे मछुए का घर इस प्रकार वर्णित है – "पुआल बिछे थे कोने में, उन पर फटी–पुरानी बोरी बिछी थी। एक जवान लड़की और नंग–धडंग बच्चे बेतरतीब सोए पड़े थे। ओढ़ना के नाम पर कथरी–गुदड़ी के दो–तीन छोटे–बड़े टुकड़े उन शरीरों को जहां तहां से ढक रहे थे। दूसरे कोने में चूल्हा चौका। तीसरे में अनाज रखने के कुंड और कुठले। चौथा कोना खाली। छप्पर के बांसों से दसियों छिक्के लटक रहे थे। मछलियां पकड़ने और फंसाने के औजार भीत की खूंटियों से टंगे थे – गांज, टापी, सहत, सरेला, किस्म–किस्म के डंडे। जालों की कढ़ाई–बिनाई में काम आने वाले छोटे–बड़े सुए, शलाखें। जालों के अधूरे टुकड़े। घर–गिरस्ती की बाकी दसियों चीजें। यानी खुरखुन का समूचा संसार ही मानों तेरह फुट लम्बे और नौ फुट चौड़े घर में अटा पड़ा था। भीतें बीस साल पुरानी, फिर भी मजबूत थीं।"[74] किंतु भोला जैसे मध्यम श्रेणी के मछुओं का घर सुविधा–सम्पन्न था। "भोला का बैठक खाना खपड़ों से छाया हुआ था। दूर से ही जगमगा रहा था अभी पिछले वर्ष ही बाहरी–उठ–बैठ के लिए भोला ने यह घर तैयार करवाया था। दीवारें कच्ची ईटों की, छप्पर बांस–फूस के। ऊपर खपरैल। पांच सौ खर्चा पड़ा तो पड़ा लेकिन बस्ती गोढ़ियारी में यह एक शानदान बैठक खाना तैयार हो गया। मछुओं की समूची बिरादरी को इस पर गर्व था।"[75]

"दुखमोचन" में टमका–कोइली गांव के निर्माण की कथा है जिसें दुखमोचन जैसा निस्वार्थ और परिश्रमी नेता मिल गया है। बस्ती में आग लग जाने पर सभी मकान जल एग तो दुखमोचन फिर से एक व्यवस्थित रूप में गांव

का निर्माण कराता है। निर्माण से "पहले बस्ती में कोई क्रम नहीं था। घर-पर-घर, मकान-पर-मकान। न रास्ते का ठिकाना, न नाली-मोरी का निकास। एक का दालान दूसरे का पिछवाड़ा, तीसरे का बथान, चौथे का बाड़ा ------ सभी आमने सामने हुआ करते थे। जिसके जैसा सुभीता नजर आया, अपनी छप्पर-छानी डालता गया और ओलती-पलानी फैलाता गया।" [76] टमका-कोइली ही नहीं, प्रत्येक गांव की यही दशा है। लेखक ने चूंकि स्वंय उस अंचल के जीवन को भोगा है जिससे उसमें वास्तविकता, सजीवता तथा सरसता आ गई है।

(घ) व्यावसाय - अंचल के जीवन-यापन को स्पष्ट करने के लिए यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस क्षेत्र के व्यवसाय के बारे में वर्णन किया जाए। ग्रामीण लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है। कुछ पढलिखकर कहीं बाहर नौकरी आदि पर चले जाते हैं। मिथिला अंचल में ही नहीं भारत के अन्य भागों में भी व्यवसाय की यही स्थिति है। "रतिनाथ की चाची" में शुभंकरपुर के लोगों के व्यवसाय का चित्रण इस प्रकार है - "ढाई सौ परिवारों की आबादी, खाने वाले मुंह ग्यारह सौ। साफ है गरीब ही अधिक थे। यही गरीब भी दो श्रेणी में बंटे थे। बामन और गैर-बामन। ब्राह्मणों में विद्या का खूब प्रचार था। पढ़े-लिखे लोग शहरों में फैले थे। सौ घर ब्राह्मण थे, मुश्किल से पन्द्रह घर ऐसे होंगे, जिनका शुमार महा दरिद्रों में होता था। बाकी लोग खेती के अभाव में भी भरपेट खाने वालों में से थे।" [77] "दुखमोचन" में खेती करने वालों तथा खेती की सामग्री का बड़ा सूक्ष्म अंकन किया गया है। अंचल के अन्य विभिन्न व्यवसायों की चर्चा भी उपन्यास में स्थल-स्थल पर मिल जाती है।

"बाबा बटेसरनाथ" में ग्रामीण उद्योग धन्धों द्वारा आयात किए गए माल के प्रभाव का वर्णन है - "विलायत की बनी चीजें अब इलाकों में धड़ल्ले से मिलने लगी थीं। देहाती कारीगरों पर इसका बुरा असर पड़ा। अपनी इस बस्ती रूपउली पर भी इस नई व्यवस्था का वैसा ही बुरा प्रभाव पड़ा ----- चमार जूते बनाना भूल गए। मोमिनों के पांच करघे थे सो अब एक ही रह गया। चीनी की आमद ने गुड़ के व्यापार को चौपट कर दिया । बटन , सुई, आईना, कंघी, उस्तरा और कैंची ----- कपड़े, खेती के औजार बाहरी माल आ-आकर स्थानीय उद्योग-धन्धों का गला दबाने लगे।" [78] ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मूल आधार तो खेती है उसके सहायक उद्योग के रूप में ही लुहार-बढ़ई आदि के

कार्य आते हैं। उपन्यासकार ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था का बड़ा यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

मछुओं का जीवन–यापन पूरी तरह से मछलियों पर आधारित है किंतु कुछ न कुछ सहायक कार्य भी मछली पकड़ने के अतिरिक्त उन्हें करने पड़ते हैं। "वरूण के बेटे" में मछुओं के मछली पकड़ने का अतिरिक्त अन्य कार्यों का भी उल्लेख किया गया है – "इधर के जितने भी पोखर थे, जितनी भी ताल–तलइयां थी, जितनी नदियां और झीलें थी, पानी का जहां भी जमाव–टिकाव था – सारा का सारा शिकारगाह था। मछलियां ही नहीं, सिंघाड़ा–तालमखाना–कमल और कुंई के फूल, कमलगट्टे, कमलनाल, कड़हड़, कैसोर, सारूख जैसी चीजें भी पानी से वे हासिल करते थे। पुड़हन–पदम–के गोल–मोल चिकने–चिकने पत्तों की भी बाजार में काफी खपत थी। तालमखाना उपजाने के लिए हजारों की एडवान्स देकर ये लोग पोखर लेते थे ठेके पर। ठेके अक्सर सामूहिक हुआ करते। गरज यह कि दुक्खस–सुक्खस चाहे जैसे इन मछुआरों की दुनियादारी चल जाती थी।" [79]

इस प्रकार उपन्यासकार ने मिथिला अंचल में रहने वाले खेतीहर–मजदूर, मछुएं, पण्डिताई करने वाले ब्राह्मण, निम्नवर्ग के अन्य लोगों के व्यवसाय की चर्चा सविस्तार की है। उपन्यास के वर्णन में अंचलवासियों के जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रस्तुतीकरण बड़ी सहजता के साथ किया गया है। अन्य आंचलिक उपन्यासकारों की तुलना में नागार्जुन की समग्रता को उभारने में विशेष सफल रहे हैं।

(4) अंचल की भाषा और लहजा -

पात्रानुकूल भाषा की दृष्टि से आंचलिक उपन्यास की वार्तालाप की भाषा का आधार भी वही होता है जो सामान्य उपन्यास की भाषा का होता है। यहां अन्तर केवल इतना होता है कि जहां सामान्य उपन्यासकार वार्तालाप की भाषा पर पात्र के व्यक्तित्व का हल्का रंग होता है वहां आंचलिक उपन्यास में वही रंग अधिक गहरा होता है। इसका कारण यह है कि आंचलिक उपन्यास के पात्र आंचलिक भाषा का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में करते हैं। आंचलिक उपन्यास में भाषा जनसामान्य की होते हुए भी आंचलिक रंग में रंगी होती है : अर्थात आंचलिक उपन्यासकार आंचलिक रूपों का समावेश कर कथा ही नहीं

कहता बल्कि वह घटनाओं और चरित्रों का विश्लेषण भी करता है। उपन्यासकार स्वंय को एक आंचलिक पात्र बनाा लेता है। नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में भाषा में आंचलिकता का समावेश होते हुए भी क्लिष्टता नहीं आने पाई है। कारण यही है कि उपन्यासकार ने भाषा को यथा–स्थिति में न रखकर उसका कुछ शुद्ध रूप ही रखा है जिससे पाठक को सुविधा रहती है। लगभग सभी उपन्यास मिथिला अंचल से संबंधित हैं। अतः वहां की भाषागत विशेषताएं उपन्यासों में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है। शब्दों के आंचलिक रूप मैथिल–प्रवृत्ति के अनुसार ही बने हैं। भाषा के साधारण बोलचाल रूप को प्रस्तुत करने के कारण भाषा में लोक–रंग उभर आए हैं। भाषा स्वाभाविक है और प्रवाहपूर्ण है। एक प्रादेशिक भाषा के शब्दों में इतनी सामर्थ्य भर देना नागार्जुन जैसे भाषा–शिल्पी का ही काम है।

"रतिनाथ की चाची" की भाषा अपना विशिष्ट लहजा और आंचलिकता लिए हुए है। गौरी जब अपनी मां के घर आठ मास का गर्भ गिरवाने के लिए जाती है तब चमाइन कहती है – "भला यह भी क्या कहने की बात है, मलिकाइन आपकी बदनामी क्या हमारी बदनामी नहीं है? पर एक बात कहती हूं, माफ करना, बड़ी जात वालों की तुम्हारी यह बिरादरी बड़ी मलिच्छ, बड़ी निठुर होती है मलिकाइन! हमारी भी बहू–बेटियां रांड हो जाती हैं, पर हमारी बिरादरी में किसी के पेट से आठ–आठ नौ–नौ महीने का बच्चा निकालकर जंगल में फेंक आने का रिवाज नहीं है। ओह, कैसा कलेजा होता है तुम लोगों का! मइया री मइया!" [८०] गांव में मलेरिया फैल जाने से लोग इधर–उधर भागकर जाने लगे। जयनाथ भी गांव से बाहर जाना चाह रहे थे। गौरी कहती है – "बाबू जल्दी की क्या बात है? समूचा गांव भट्टी पर चढ़ा हुआ है। देखते हो, लोग मलेरिया के मारे तबाह हैं। क्या करने आओगे अभी? कृष्णाष्टमी क्या और जगहों में नहीं होती? हम न ठहरी लाचार तुम्हारा क्या है? जहां धड़ तहां घर! इस बात का जयनाथ ने प्रतिवाद किया था – नहीं – नहीं उमानाथ की मां, कहीं क्यों न हों, जी तो हमारा यहीं टंगा रहता है। घर है बार है, बाप–दादों की जायदाद है। टोल–पड़ोस, जान–पहचान, चीन्हा–परिचय, क्या–क्या नहीं है? सब कुछ तो अपना यहीं है ––––––" [८१]

नागार्जुन के इन उपन्यासों में मैथिल भाषा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। विवरण तथा विश्लेषण की भाषा आंचलिक रूपों के प्रयोग से

स्वाभाविकता बन गई है – "खोंखा पंडित ने मिर्जई पहनकर, माथे पर पगड़ी डालकर दूसरे दिन अनगुते इसटीसन का रास्ता पकड़ा था।" [82] रामेसरी के कपार में तनाव पड़ गया, आंखें बड़ी–बड़ी हो गई। बाहर की ओर एक नजर मारकर वह फुसफुसाई – चुप ! चुप! किसी ने सुन लिया तो पानी में आग लग जायगी। माहे तो पागल है, यों ही अल्लभ–गल्लभ बकता रहता है ––––– दिगम्बर भी तो था। गे मइयो ! और तू वहां यही सब सुनने गई थी। [83] आंचलिक उपन्यासों में यद्यपि शैली की विशिष्टता के कारण वार्तालाप के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था किंतु लेखक ने बड़ी कुशलता से यहां वार्तालाप प्रस्तुत किए हैं। इन पर मैथिली का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है –

"– सुना है तुमने
– क्या कुछ बतायेगी भी कि ऐसे ही
– खोंखा पंडित की नतनी का ब्याह हो रहा है
– कहां का लड़का है?
– लड़का ! हि : हिः हिः हिः –––––– लड़का !!
– ठूंठ पीपल की गांठ उठा लाया है पंडित ।
– भग !
– दुरजो ! सच कहती हूं तेरी कसम !
– खचिया भर रुपैया गिनाया है पंडित ने !
– अगे मँइयां ! एको दांत नहीं होगा उसके –––––
– बिसेसरी कैसे बुडढे के साथ सोयेगी?
– सोयगी कपार? कमर कूटेगी।
– बुढवा भारी मातबर है।" [84]

"बलचनमा" में भी भाषा का ऐसा ही स्वाभाविक और आंचलिक स्वरूप है – "हिलती डुलती गाड़ी में ऐसा लग रहा था कि मालिकाइन के बाग में झूला झूल रहा हूं। जुड़े हुए डिब्बे ढब्बर–ढब्बर बोल रहे थे। ऐंजन झज्झ काली, झज्झ करती चली जा रही थी।" [85]

"हं ! सच बघारने आई है – गरजकर मलिकाइन ने कहा – देखो तो कामत, फूदन मिसर की यह विधवा क्या बक रही है? जब पेट जलने लगता है तब तो आ–आ कर नाक रगड़ती है, ईसर–परमेसर, अनपुन–लछमी जाने क्या–क्या बनाकर पैर पकड़ती है मौके पर न दो धान तो समूचे गांव को

बरमबध ब्रहमवध लगेगा, दो तो लौटाते समय–फटता है ! संइयां डाही कहती है कि बटखरा बदला हुआ है !!" [86]

"बाबा बटेसरनाथ" में भाषा का बहुत सुन्दर रूप देखने को मिलता है। आंचलिक पात्रों के वार्तालाप में अंचल की भाषा मैथिली का प्रभाव है किंतु बाबा बटेसरनाथ में बरगद बाबा की भाषा परिमार्जित है – "सचमुच चाची, हमारा ओजन सेर–सेर, डेढ़–डेढ़ सेर बढ़ गया है। तुम समझती नहीं हो –––––– हम हाजती कैदी थे। काम न धाम, खूब खाओ और आराम करो और गप्पें लड़ाओ : किताबों का इन्तजाम रहता है, कैदी पढ़ भी सकता है चाची ! हमारे सुतरी झा पहाड़ा खतम करके आए हैं ––– सुतरी ने दृढ़ता पूर्वक कहा – हां जैकिसुन की मां ! मैं अब हनुमान चालीसा अपने आप पढ़ लेता हूं। टीसन पर मोसाफिर खाने में रंग–बिरंगे कागज चिपके हुए थे, उस पर मोटे–मोटे आखरों में बहुत कुछ लिखा था। एक कागज से चार पांती और दूसरे से दो पांती मैने खुद बाँच ली।" [87]

"वरूण के बेटे" बड़े पोखर गरोखर में महा जाल डाले जाने का विवरण लेखक ने इस प्रकार से दिया है – "महाजाल दक्खिन की तरफ से किनारे–किनारे फैला दिया गया। बीच में दो डोंबकयां, पांच घट–नई (घटनौका), केलों के आठ–दस थंम हेला दिए गए। महा जाल का एक छोर पूरब की ओर था, दूसरा छोर पच्छिम की ओर। ––––– नीचे लोहे की गोटियां उसे पानी के अन्दर तेले से लगाए हुए थीं और तूबियों का दबाव ऊपर टाने हुए था। घटनाइयों, नावों और थंमों पर सवार दस बारह जने महाजाल के बीचों–बीच चल रहे थे।" [88]

महाजाल के डालने पर दो सौ मन के लगभग मछलियां हाथ लगी। "लाल–लाल मुंह वाले रेहु अपनी रूपहली और सुरमई छिलकों मे खूब ही फल रहे थे। दांत नहीं, जीभ नहीं, जबड़े भी अलक्षित थे। गोल–मोल खुला–खुला मुखडा ऐसा लगता कि पेट तक खोली ही खोली होगी। इन्द्रधनुषी सूरत, एक–एक बेहद नुकीली मूंछे, और लम्बी–छरहरी डील की अपनी खूबियों से बुआरी मछलियां सब को आकर्षित कर रहीं थी। मटमैली–चिकनी सूरत वालें भाकुरों की शान निराली ही थी। चिकनी चपटी–रूपहली मोदनी पर तो निगाहें टिकती ही नहीं थीं। भुन्ना का भी यही हाल था। नैनी रेहु का ही सगा लगता था, आकार–प्रकार में मिलने पर भी वजन में कम।

सौ–सवासौ छोटे–बड़े मछुए भी फंसे थे।" [89]

मंगल की मां और मधुरी की मां का वार्तालाप उनकी गृहस्थी की दुख चिन्ताओं पर प्रकाश डालता है – "जल्दी–जल्दी छै बार दम मारकर मंगल की मां ने कहा – "बहू तो हमारे घर ऐसी आई है बहिन कि तुझ से क्या बताऊं। बड़ी लछमनियां है बिहन ! बोलती है तो टहनी हिलती है और हर सिंगार झरते हैं। मुसकाती है तो चानन का लेबा लगाती है ! मंगल ही नहीं, समूचे परिवार का नसीब जागा है बहिन ! " मधुरी की मां की आंखें भर आई, फड़कते होंठ फैल गए। बड़ी मुश्किल से ये शब्द निकले – "और हमारी सोन छड़ी को जो सराहती, वही इस धरती पर नहीं रही : चली गई है सरगउली हाट ! ससुर है तो बुढ़वा, ताड़ी पीकर धुत बना रहता है ! बहिना, फिकिर के मारे पलकों से नींद उड़ गई है हमारी ––––– " [९०] यहां "बहिना", "बुढ़वा", "सोनछड़ी" आदि शब्द द्रष्टव्य हैं। कहीं–कहीं चलती भाषा में एक दो शब्द रखकर आंचलिकता का समावेश नागार्जुन ने कर दिया है जैसे – "और चिकाउर (सद्यः प्रसूता) बेचारी ––––––– कामरेड, मैं आग लगा दूंगा स्टेशन में।" [९१] मछली पकडने की क्रिया को उपन्यासकार ने शब्दों में बांध दिया है –

"फिर थूक फेंकने की आवाज, पिच्च।

फिर जाल फेंकने की तैयारी । नाव हिलने लगी।

मोटी आवाज, धब्ब !

पानी में मानो लोदा गिरा। यह मछलियों के लिए चारा डाला गया था। दो जोड़ी सतर्क आंखें गहन तिमिर की मोटी पर्त छेदकर पानी पर जमीं थीं।

बुल–बुल–बुल–बुल–बुल–बुल–बुलुब–बुब–बुब–––बुलबुले, उनकी बुड़बुड़ाहट ! महीन और मीठी !" [९२]

नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में भाषा संबंधी इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने भाषा तत्व का प्रयोग आवश्यकतानुसार ही विभिन्न रूपों में किया। स्थानीय मुहावरों, लोकोक्तियों, शब्दों के विकृत रूपों तथा आंचलिक शब्दों के समावेश से कहीं–कहीं भाषा में दुरूहता आ गई है पर आंचलिकता का निर्माण करने के लिए इतना आवश्यकता प्रतीत होता है। हां, इतना कहना कठिन है कि भाषा के आंचलिक रूपों के प्रयोग की एक सीमा कहां तक निर्धारित की जानी चाहिए। महत्वपूर्ण बात यही है कि बोंधगम्यता की आवश्यकता को भाषा संबंधी विवेचन में प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए किंतु यह बोधगम्यता आंचलिकता के मूल्य पर नहीं होनी चाहिए। भाषा के बारे में हम

पिछले अध्याय में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। यहां पर आंचलिकताके निर्माण में भाषा के महत्व को स्पष्ट करना ही उद्देश्य है।

(5) लोक साहित्य और कला -

अंचल की विशिष्टता उसकी स्थानीय रंगत में होती है। स्थानीय रंगत से ही एक अंचल से दूसरे अंचल से प्रभेद प्रकटन होता है। लोक तत्व का प्रभूत इस स्थानीय रंगत को गाढ़ा बना देता है। ये लोक तत्व हैं – लोक कथाएं, लोकाचार, रीति रिवाज, उत्सव, गीत तथा नृत्य आदि। इन सबका समाहित प्रभाव ऐसा होता है कि पाठक उपन्यास के पात्रों के साथ–साथ स्वंय को भी अंचल में विचरण करता हुआ अनुभव करने लगता है। नागार्जुन ने अपने आंचलिक उपन्यासों में सामान्य बात को भी विशिष्ट स्थानीय बनाकर जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, उसमें अपनी ही एक अलग विशेषता है।

लोक–कथाओं का अंचल विशेष में अलग ही महत्व होता है। इससे वहां का आन्तरिक जीवन उभरता है। "रतिनाथ की चाची" में लेखक ने ब्राह्मणों में कुलीनता की सूची बनने के संदर्भ में चौदहवी सदी के कर्णाटवंशीय राजा हरिसिंह देव जी मिथिला के शासक थे, की कथा प्रस्तुत की है।[93] "रतिनाथ की चाची" में ही लेखक ने परसौनी ग्राम में प्रतिमायें बनाने का भी वर्णन किया है – "उन दिनों गाव–गांव में प्रतिमायें बना करतीं। आश्विन में दुर्गा की। कार्तिक में काली, चित्रगुप्त और कार्तिकेय की। माघ में सरस्वती की, चैत में राम, लक्ष्मण, सीता तथा उनके स्वजन–परिजन अनुचर–परिचर की – कुल मिलाकर तेरह मूर्तियां। भादों में कृष्ण आदि की। इनके अलावा मिट्टी, रंग और कूची के इन उस्तादों की जरूरत और भी कामों में हुआ करती थी।"[94] इस प्रकार के वर्णन से अंचल के लोक तत्वों पर प्रकाश पड़ता है।

मिथिला अंचल में प्रचलित लोक गीतों को भी लेखक ने उपन्यासों में बड़े सहज और स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है। "बलचनमा" में प्रस्तुत गीत लोक–तत्व को और अधिक गाढ़ा बना रहा है –

"सखि हे मजरल आमक बाग !
कुहु कुहु चिकरए कोइलिया
झींगुर गावए फाग।
कंत हमर परदेस बसइ छथि

बिसरि राग–अनुराग।
विधि भेल बाम, सील भेल बैरी
फूटि गैला ई भाग!
सखि हे मजरल आमग बाग ––––" [95]

एक सखी दूसरी से कह रही है, सखी! आम का बाग मंजरियों से लद गया है। कोयल चीख रही है – कुहू–कुहू! झींगुर फाग गाने में मस्त है। राग–अनुराग भूलकर मेरा बालम परदेस में है। मेरे लिए विधाता प्रतिकूल है और अपना ही शील संकोच दुश्मन बन गया है। मेरी किस्मत फूट गई है ––– आम के पेड़ मंजरियों से लद गये हैं।

"वरूण के बेटे" में अनेक लोक गीत मछुओं के आन्तरिक जीवन–यापन पर प्रकाश डालते हैं –

"कबहुं पकड़ में न आवे मछरिया!
जुलमी मछरिया चलबल मछरिया!
कबहुं पकड़ में न आवे मछरिया!" [96]

मछुओं द्वारा मस्ती में कमला–मैया का वंदना गीत गाया जाना भी उनके विश्वासों और आस्थाओं पर प्रकाश डालता है –

"ओ कोयला–देवता,
कमला–नदी के बीचो–बीच
तैयार हो गया है बांध!
तुमने उस बांध पर फुलवाड़ी लगा दी है।
अजी, किस फूल का बनाती है परिधान कमला–मैया
और बिछावन होता है किस रंग के फूल का" [97]

मछुओं के मनोरंजन के साधन भी तो सीमित ही हैं। गंगा सहनी द्वारा गाया गया यह गीत इसी प्रकार का है –

"बउआ, खइयउ ने!
आव ने खइयउ बउआ जै सिड. मोतीचूर मीठाइ हओ! ––––" [98]

इसी प्रकार एक दूसरे का मनोरंजन करने वाला यह गीत भी बड़ा सरल है –

"सावन है सखि अति भयावन, निठुर पिय नहि पास, यो!
चपल दामिनि, विकल भामिनी, ककर करती आस, यो!
मास भादो, कीच–कांदो ––––" [99]

माधुरी द्वारा मंगल को ध्यान में रखकर गाये जाने वाला गीत बड़ा ही मादक है –

"जीना हुआ मुश्किल, जवानी हुई घातक :
न डालो, न डालों ओ मेरे दिल के चांद !
स्नेह और प्रीति का जाल !!
आओ, आओ, देख जाओ हाल !!
जीना हुआ दूभर, जवानी हुई काल ।" [100]

इस प्रकार के लोक गीत उपन्यास में अंचल की स्थानीय रंगत को सही रूप में उभारते हैं।

मिथिला ! प्रातः स्मरणीया माता सीता को जन्म भूमि है। विदेह की पुण्यभूमि! "स्वर्गादपि गरीयसी" के विशेषण से मंडित । युगयुग से बिहार राज्य का यह क्षेत्र संस्कृत, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, तंत्र आदि शास्त्रों का केन्द्र रहा है। इस क्षेत्र की ऐसी जातीय प्रथाएं हैं जो अन्यत्र देखने में नहीं आतीं और जिनका मूलाधार है अंधविश्वास–जातीयता तथा कुलीनता की भावना। कन्याओं को अपने से उच्चकुल में दान करने की ब्राह्मणों की सनकने बिकौआ प्रथा को जन्म दिया। बहुपत्नीत्व वहां की सामान्य विशेषता है। नागार्जुन के उपन्यासों में इस अंचल के इन्हीं रीति–रिवाजों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। "मिथिला" में एक स्थान है मधुबनी। मधुबनी सेपांच मील पश्चिम में एक गांव है "सौराठ"। छोटा–सा यह गांव, मिथिला में रहने वाले लगभग एक करोड़ मैथिल ब्राह्मणों के लिए विशेष महत्व रखता है। यहां प्रतिवर्ष वैवाहिक लग्न के दिनों में, एक विशेष पखवारे के अवसर लाखों मैथिल ब्राह्मण एकत्र होते हैं। उनकी यहां एक सभा लगती है जो "सौराठ सभा" के नाम से प्रसिद्ध है। लाखों की संख्या में एकत्रित होने वाले मैथिल ब्राह्मण अपनी विवाह योग्य कन्या के लिए वर का चयन यहां पर आकर करते हैं। "घटक" की विवाह तय कराने में मुख्य भूमिका होती है।

"नई पौध" [101] तथा "रतिनाथ की चाची" में लेखक ने सौराठ की सभा का (उमानाथ के विवाह तय होने का) वर्णन किया है – "सौराठ की सभा उस साल बैशाख के अन्त में हुई थी। उमानाथ की शादी पंडौल स्टेशन से पांच कोस पश्चिम महनौली के एक खेतिहर बाभन की सयानी लड़की के साथ हो गई। सिर्फ दो घन्टे लगे, बात पक्की हो गई। उमानाथ का यह ब्याह इतना चटपट तय हो जाएगा, किसे पता था? सौराठ में यही तो होता है। हजारों विवाहार्थी इकट्ठे

होते हैं। कन्याओं की तरफ से उनके अभिभावक बड़ी तादाद में जमारहते हैं। सभा में यदि कन्याएं भी शामिल होतीं तो स्वयंवर का यह विराट पर्व न केवल भारत भर में परंतु सम्पूर्ण विश्व में अद्वितीय कहलाता।" [102] सौराठ की इस सभा में घटक के साथ वर एवं वधू के पक्षवाले "पंजीकार" के पास जाकर अपना पूरा नाम गांव और दादा आदि का पता बतलाकर विधि–व्यवस्था की मांग करते हैं। पंजीकार उन दोनों गांवों की वृहद पंजी पुस्तिका को देखकर यह बतलाता है कि उन दोनों में माता की ओर से पांच पीढ़ी तक और पिता की ओर से सात पीढ़ी तक कभी कोई वैवाहिक संबंध तो नहीं हुआ है। मैथिल ब्राह्मणों के अभिजात्य को सुरक्षित रखने के लिए ब्राह्मणों का विद्या, आचरण, कुलीनता आदि के आधार पर पंजी तैयार करा दिया गया है। "ब्राह्मणों की ऐसी सिलसिलेवार फेहरिश्तें भारत भर में और कहीं नहीं हैं।" [103]

लोक साहित्य और कला के ऊपर अंचल में नाना प्रकार की किंवदन्तियां भी प्रकाश डालती हैं। "रतिनाथ की चाची" में वर्णित तारा, बाबा के बारे में अनेक प्रकार की कहानियां जनता में प्रचलित हो चुकी थीं कि बाबा ने मरी गाय को जिला दिया था। [104] लोगों की श्रद्धा–भावना और अंधविश्वास पर भी ऐसी दन्तकथाओं और लोक कहानियों का प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार अंचल वासियों में प्रचलित अन्य रीति रिवाजों जैसे सत्यनारायण की कथा, मुण्डन–छेदन आदि का वर्णन लेखक ने किया है। विवाह के बाद मिथिला अंचल में नवविवाहित पर दूब अक्षत डालकर आर्शीवाद दिया जाता है। "परन्तु आशीर्वाद देने के लिए कम से कम पांच ब्राह्मणों का होना अनिवार्य है।" [105] विवाह के अवसर पर होने वाले अन्य रीति रिवाजों का वर्णन जैसे सिन्दूरदान, कन्यादान, मुंह दिखाई आदि का वर्णन सजीवता से किया गया है। इसी प्रकार शादी विवाह में संस्कार के समय छः फेरों वाले जनेऊ के जोड़े की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। विवाह पर महिलाएं पेड़ पूजन के लिए जाती हैं। इसका वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है – "बाकी सब–बच्चे तक–पेड़ पूजन के निमित जो शोभा यात्रा निकली थी अपने आंगन में , उसी में शामिल होकर बाहर निकल गये थे।" [106] विवाह के अवसर पर घरों में अल्पना बनाये जाने तथा किसी वस्तु की कामना के लिए जमीन में चभच्चा खुदवाने आदि के वर्णन अंचल के आन्तरिक मनोंजगत को उजागर करते हैं। साथ ही अंचल के रीति–रिवाजों का निकट से परिचय पाठक को मिल जाता है। अन्य रीति–रिवाजों जैसे पितृपक्ष की चर्चा भी उपन्यासकार

ने की है। एक–एक ब्राह्मण को कई–कई स्थान पर खाना–खाना पड़ता था। क्योंकि "आज मातृ नवमी थी। अपनी अपनी मां, नानी, सास, दादी और परदादी के निमित्त सब को एक–एक ब्राह्मण चाहिए था। इतने ब्राह्मण कहां से आवें" [107]

मिथिला में श्रावण–शुक्ला तृतीया नव विवाहित वर–वधू के लिए त्यौहार की तिथि होती है जिसे "मधु–श्रावणी" कहते हैं। इस अवसर पर घृतमिश्रित बाती की हल्की लौ से वर वधू के पैरों को छू देता हैं वह "ईस" कर उठती है! सखी उसके पैरों पर दही–शहद अथवा शीतोपचार की और कोई वस्तु या मक्खन मलती है! [108] तिरहुतिया ब्राह्मणों में रिवाज के अनुसार, शादी के बाद की चौथी रात सुहागरात होती है। चौथे दिन ही दूल्हा–दुलहिन नमकीन खाना खाते हैं और साथ सोते हैं। [109] कुल देवता की पिंडी पर मातृ का पूजन और गणेश पूजा भी की जाती है। [110] इसी प्रकार किसी भी शुभ कार्य के करने से पहले यज्ञ या कथा आदि की जाती है और पंडितों को दान–दक्षिणा दी जाती है। पशु–बलि की प्रथा भी यहां उचित समझी जाती है – "पंडिताइन ने आंचल पसारकर और माथा टेककर जोड़ा छागर (तरूण बकरा, पाठा) कबूला था दुर्गा माई के आगे।" [111] "बाबा बटेसरनाथ" में भी पशु बलि का वर्णन लेखक ने किया है। [112] लेखक ने विभिन्न स्थलों पर अंचल के विभिन्न रीति रिवाजों का सजीव चित्रण किया है।

"बलचनमा" में छोटी ज़ातिवालों के विभिन्न रीति–रिवाजों पर उपन्यासकार ने प्रकाश डाला है। छोटी जाति वालों में शादियां छोटी उम्र में ही हो जाती हैं और गौना लडकी के जवान होने पर होता है। [113] "हमारी बिरादरी में शादी कच्ची उमर में ही हो जाती है। शादी न कहकर उसे सगाई कहना ही ठीक होगा। छः वर्ष की उमर में ही शादी हो गई थी और कुछ याद न रहा लेकिन बारात में सिंगा बजाने वालों का नजारा कभी नहीं भूलेगा। ------ हमारी दुलहिन की उमर रही होगी, यही कोई तीन–चार साल की। "छोटी बिरादरी में शादी के बाद बड़े–बड़े बाबू लोगों के यहां बिलौकी [114] (आशीर्वादी रकम) मांगने का भी रिवाज हैं दरभंगा जिले में लोग बराती में औरतों को नहीं ले जाते हैं। गौने के दिनों मे घरों को खूब सजाया जाता है और स्त्रियां तरह–तरह के चित्र बनाती हैं – "कोई–पुती–लिपि घर की टाटों में हाथी घोड़ा आंकने लगती। तेल में संदूर घोला गया और उससे कई जगह पेड़–पौधे आंके गये।" [115]

छोटी जाति के लोगों के रीति–रिवाज ब्राह्मणों की तुलना में भिन्न हैं।

दूल्हा–दुलहिन जब गृह प्रवेश करते हैं तो "परछन" की रस्म की जाती है – "देखा तेल–बाती डालकर कछुएं के खप्पर का दिया बना लिया गया है। परछन की वही चीज अब तक मुझे याद है! हम दोनों के माथे पर धान छींट कर मुंह, बाहों, छाती और घुटनों से दही छुआकर चुमावन किया गया।" [116] पहली बार जब पति अपनी पत्नी से बोलता है तो वह उसे "मुंह–बजावन" [117] की वस्तु रस्मी तौर पर देता है। जमींदारों के यहां होने वाले रीति–रिवाज दूसरे प्रकार के होते हैं। यज्ञोपवती–संस्कार पर बड़ा भारी उत्सव किया जाता है। बकरे की बलि चढ़ाई जाती है तथा भोज आदि का प्रबन्ध होता है। [118]

(6) अंचल का मनोजगत -

अंचल में व्याप्त चेतना को उभारने के लिए आंचलिक उपन्यासों में अंचल के मनोजगत का विविध आयामों से चित्रण किया जाता है। अंचल के अन्तर तक पहुंचने के लिए भी ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। अंचल का मूल मानस अंचल की मान्यताओं, उसका सामाजिक गठन तथा अन्य भागों की संस्कृति के साथ उसकी क्रिया–प्रतिक्रिया से ही मनोजगत उभरकर पाठक के सामने आता है। आंचलिक उपन्यासों में उद्देश्य, अंचल या उसकी चेतना को व्यक्त करना रहता है। इनकी स्थिति स्थल या देश के आयाम में होती है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में अंचल के मानस तक पैठने का सफल प्रयास किया है। बिहार के जिस अंचल को उन्होने अपना क्षेत्र बनाया है, उसको उन्होने बड़ी बारीकी के साथ प्रस्तुत किया है।

मिथिला के ब्राह्मणों की मान्यताएं और सामाजिक गठन के बारे में "रतिनाथ की चाची" में लेखक ने विस्तार से प्रकाश डाला हैं बाल–विधवा के बारे में उस अंचल की अपनी मान्यताएं अलग ही हैं। गौरी के गर्भ रह जाने की बात सुनकर पूरे गांव ने उसका बहिष्कार कर दिया। [119] पर समाज भी उन्हीं का दबाता है जो कमजोर या असहाय होते हैं। समर्थ के लिए कोई दोष नहीं होता है। गौरी की मां ने अपनी बेटी का गर्भ गिरवाकर सत्यनारायण की कथा करा दी और ब्राह्मणों को खाना खिला दिया। "गौरी की मां समाज के लिए बाघिन थी। इतना बडा कुकांड हो जाने पर भी तरकुलवा में किसी ने गौरी की मां को खुल्लम–खुल्ला कुछ कहा नहीं।" [120] जाति के बारे में इस अंचल के लोग अलग ही मान्यताएं रखते हैं। शूद्र की पूजा करने, मंदिर जाने तथा मंत्रोच्चारण का

अधिकार वे देना नहीं चाहते। जयनाथ के ये शब्द इसी बात पर प्रकाश डालते हैं। कुल्ली राउत के बारे में जब जयनाथ को यह पता लगा कि वह गायत्री जानता है तो वह फुफकार उठे – "साले की चमडी उधेड़ दूंगा। शूद्र है तो शूद्र की भांति रहे।" [121]

ब्राह्मणों के लिए अंग्रेजी पढना भी अच्छा नहीं माना जाता हे। जयनाथ के पिता का रतिनाथ को संस्कृत पढाने के बारे में निश्चय करना, इस बात पर प्रकाश डालता है – "नहीं, कभी नहीं, यह नहीं हो सकतां प्रातः स्मरणीय नील माधव उपाध्याय का वंशधर म्लेच्छ भाषा पढेगा : उस दिन धरती उलट जाएगी और आसमान से अंगारे बरसने लगेंगे ! वकील बालस्टर बनकर प्याज, लहसुन और अण्डा नहीं खाना है रत्ती को, उसे तो अपने पूर्वजों की कीर्ति रक्षा करनी है।" [122] नीच जाति वालों पर ऊंची जाति वालों का दबदबा बना रहता है। अच्छा भोजन उनके नसीब में कहां? कभी किसी मालिक के यहां उत्सव होता तो जूठन खाकर ही उन्हें संतोष करना पड़ता – "पर उन दिनों मालिक के यहां मेहमान की जूठन पा जाना भाग की ही बात थी : क्योंकि मालिकों की तरह दासों के भी अनेक परिवार थे। उन्होने आपस में घर बांट रखे थे। हमारे हिस्से में छोटे मालिक पड़ते थे। कभी–कभी यह सीमा टूट भी जाती थी। ऐसा तभी होता जब मुंडन, छेदन, जनेउआ, शादी ब्याह, बूढ़ों का सराध बगैरा आ पडता"[123] स्पष्ट है कि निर्धनवर्ग का जमींदार अचछी प्रकार से शोषण करते रहे हैं। जमींदारों के प्रति लोगों में घृणा और वैमनस्य था पर वे अशक्त थे। "छोटी औकात के और नीची जाति के लोगों का तो खैर वह कीड़े–मकौड़े ही समझता था, अच्छी अच्छी हैसियत के भले–खासे व्यक्तियों से वक्त–बेवक्त नाक रगडवाता था जमींदार।"[124]

ब्राह्मणों का कार्य हल चलाना नहीं है ओर ना ही मांस मछली या प्याज–लहसुन खाना। पर अब मिथिला अंचल के समाज में परिवर्तन हो रहा है। पुरानी मान्यताएं बदलती जा रही हैं। शंकर बाबा का रतिनाथ से वार्तलाप उस अंचल की बदलती मान्यताओं पर प्रकाश डालता है – "बच्चा, अब कोई इन बातों का विचार नहीं करता। बैल ठहरे शिवजी के वाहन । इनके चारों पैर धर्म के चार चरण हैं। इसलिए ब्राह्मण न हल जोतते हैं, न गाड़ी चलाते हैं। ----- बोले, घोर कलियुग आ गया है, आज नहीं तो कल ब्राह्मण भी हल जोतेंगे। देख लेना। अंग्रेजी पढ़े–लिखे ब्राह्मण सुना है, प्याज लहसुन खाते हैं। मुर्गी का अण्डा

खाते हैं ----" [125] भोला पंडित तो इही लोक और परलोक दोनों साथ चलाते। दुनियादारी और जगदम्बा की स्तुति भी साथ-साथ चलाते हैं। वे धर्म ग्रन्थों के पाठ के समय बातचीत नहींकरते पर – "ड,ौडं . ड.ौ ड. डडेडा" [126] जैसी ध्वनियों का सहारा लेते हैं क्योंकि इस बारे में उनकी अपनी अलग मान्यता है।

पंडितों का सामाजिक क्रिया कलापों में जो महत्व है वह इन बातों से प्रकट होता है – "असमर्थ व्यक्तियों के प्रति इस ब्राह्मण के हृदय में असीम करूणा थी। कितने ही लूले, लंगड़े, अन्धे, अपाहिज और बूढ़े भोला पंडित की कृपा से अधखिली कलियों– जैसे बालिकाओं को गृह लक्ष्मी के रूप में पाकर निहाल हो गए। एक-एक ब्याह में पचास-पचास रूपए पंडित के बंधे हुए थे। ------ इस तरह पचीसों लड़कियां आप का नाम लेकर दच्छिन पच्छिम में करम कूट रही थी।" [127] तिरहुत ब्राह्मणों में शादी के अपने ही अलग नियम और मान्यताएं हैं।भवदेव ने जब पूर्णिमा में शादी कर ली तो शुंभंकरपुर में तूफान उठ खड़ा होता है और लोगो ने गंगा जल उठाकर आपस में शपथ खायी – "यदि लड़का शादी करके आया, और बाप ने उसे अपने घर में घुसने दिया तो जयदेव के यहां का अन्न-जल हममें से जो भी ग्रहण करे, वह गौ मांस खाय।" [128]

गरीब लोगों को अपनी इज्जत बड़ी प्यारी होती है। उनके लिए तो मां-बहिन, बेटी की आबरू, यही सब से बड़ी दौलत है। बलचनमा का यह कहना ठीक ही है – "हम उनकी भी हिफाजत अगर न कर पावें तो यह जिनगानी किस काम की।" [129] जबकि समाज के ठेकेंदार बनने वाले जमींदारों का तो हाल यह था "क्या जवान, क्या बूढ़े, बहुतरों की निगाह पाप में डूबी रहती थी। गौना होकर कोई नई नवेली किसी के घर आती तो इन लुच्चों की आंख उसकी घूंघट के इर्द-गिर्द मंडराया करती। जब तक आधी-पौनी निगाह से ये उसे देख न लेते तब तक नींद न आती बदमाशों को। ----- गरीबी नरक है भैया, नरक। चावल के चार दाने छींटकर बहेलिया जैसे चिड़ियों को फंसाता है, उसी तरह ये दौलत वाले गरजमंद औरतों को फांसा मारते हैं।" [130] बलचनमा के कथन से अंचल के सामाजिक गठन ओर विभिन्न क्रिया-कलापों पर प्रकाश पड़ता है।

विधवा-विवाह भारत की एक बड़ी सामाजिक समस्या हैं गांव के रूढ़िवादी लोग इसकें बारे में अपनी धारणाएं बदलने को तैयार नहीं हैं। "दुखमोचन" के टेकनाथ और नित्याबाबू इसी श्रेणी के लोग हैं। "अब खुलासा बताओ, दुखमोचन ने क्या किया है? वेणी माधव की विधवा बहिन का विवाह करवा रहा है? -----

शिव शिव शिव शिव ! अब यह गांव भले आदमी के रहने लायक नहीं रह गया –!" [131] किंतु छोटी जाति के बड़े–बूढ़े विधवा विवाह को बुरा नहीं मानते – "विधवा लड़की ने रंडुवा लडके से संबंध कर लिया तो क्या बुरा किया इधर–उधर भटकती और भरस्ट होती तो गांव–कुल का नाम डुबाती ––––– वह अच्छा होता कि यह अच्छा हुआ " [132] विभिन्न जातियों के लोगों की विचारधाराओं और मान्यताओं में यहां अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

"नई पौध" में उपन्यासकार ने समाज की बदलती मान्यताओं का वर्णन भी किया है। गांवों में प्रायः कम उम्र में विवाह हो जाते हैं पर दिगम्बर जैसे नवयुवक इन रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़ने वाले नवयुवक हैं। "मल्लिक की बहिन शकुंतल सत्रह साल की थी, अब तक उसका ब्याह न हो पाना नौगछिया के सयानों – समझदारों की भलमनसाहत पर एक करारा तमाचा था, जमाना उनकी मूंछों को मानो चैलेंज दे रहा था।" [133] समाज में पुरानी लीक को बदलने से ही नए समाज का निर्माण हो सकता है। "वरूण के बेटे" में मधुरी अपनी ससुराल के अत्याचारों से तंग होकर भाग आती है क्योंकि कुसुम कक्कड़ ने उसे सलाह दी थी। "लात मार साले को। जब तेरा अपना घर वाला ही बोड़म निकला तो ससुर की क्या बात करती है।" [134] और मधुरी अब निश्चय कर लेती है – "वह कभी उस नशाखोर बुडढे (ससुर) की लात–वात बर्दाश्त करने नहीं जायेगी ––––– फिर से शादी कर लेगी। किसी दिलेर, नेक चलन और महनतकश जवान से ––––– और बगैर मर्द के कोई और अकेली जिंदगी नहीं गुजार सकती क्या?" [135]

अंचल के ये क्षेत्र अब नई चेतना से ओत–प्रोत हो रहे हैं। इसका श्रेय है बलचनमा, दुखमोचन तथा दिगम्बर जैसे युवकों को ओर मधुरी जैसी महिलाओं को। "बलचनमा" में अभी "नई सुबह" कुछ दूर है क्योंकि बलचनमा जख्मी है और बन्दी है तथा जमींदार का अत्याचार चक्र गतिशील है। [136] परंतु "बाबा बटेसरनाथ" में अनाधिकृत बन्दोबस्त के विरूद्ध संघर्ष में पहली विजय मिल गई है – "तुम लोगों ने तो बस्ती की हवा ही बदल दी ! अब तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते पाठक और जैनरायन। पाठक और जैनारायन ही क्यों, कोई हिम्मत नहीं करेगा तुम लोगों से टकराने की।" [137] ये दोनों उपन्यास वर्ग–संघर्ष का आह्वान करते हैं और इसका एकरूप नागार्जुन ने "वरूण के बेटे" में प्रदर्शित किया है। दुखमोचन द्वारा गांव में झण्डा फहराने के लिए विधायक या नेता को

छोड़कर गांव के दलित वर्ग के वृद्ध बोध चाचा से कहना एक नए युग का श्रीगणेश ही कहा जायेगा।

(7) अंचलवासियों की अधिदैविक चेतना -

आधि–दैविक चेतना से अभिप्राय अंचल में प्रचलित विश्वास, अंधविश्वास, जादू टोना–टोटका, शकुन और अपशकुन, भूत–प्रेत व्रत तथा त्यौहार आदि की मान्यताओं से है। इन सबके चित्रण से अंचल का मूल–मनस उजागर होता है। नागार्जुन ने अपने आंचलिक उपन्यासों में बड़ी बारीकी के साथ अंचलवासियों की आधिदैविक चेतना का चित्रण किया है।

अंचलवासियों के विश्वास और अंधविश्वासों की चर्चा "रतिनाथ की चाची" में विस्तार से की गई है। तारा बाबा के प्रति गांव के लोगों की अपार श्रद्धा गांव वालों का साधु–सन्तों के प्रति विश्वास का परिचायक है। [138] गौरी के गर्भ गिराने के लिए भोजपत्र पर मंत्र लिखकर गौरी के लिए बांधने को देना जयनाथ के अंधविश्वास का परिचय देता है – "भगवती त्रिपुर सुन्दरी का एक पंचासर मंत्र है, वह अवांछित गर्भ गिराने में अनुपम है। समझते हो न? इसीलिए कहा कि भोजपत्र ही चाहिए।" [139] मंत्र को लिफाफे में रखकर भेजने या शूद्र के हाथ भेजने से ऐसे मंत्र का प्रभाव कम हो जाता है। अतः जयनाथ ने रत्ती के द्वारा मंत्र को तरकुलवा भिजवाया। [140] समाज में गंगाजल के बारे में बड़े–बड़े अंधविश्वास है। कोई चाहे कुछ भी कुकर्म या पाप कर ले या गोहत्या या ब्रह्म हत्या का पाप कर ले तो भी गंगा जल में उस पाप को दूर कर मनुष्य को पवित्र कर देने की शक्ति है। गौरी की मां गर्भ गिरवाने के बाद अपनी बेटी को पचीस बार गंगा नहा–आने को भेजने के लिए तैयार है। [141] इसी प्रकार सत्य नारायण की पूजा का भी अंचल में अपना ही अलग विश्वास है। "गुलाबी रंग में रंगी हुई दो धोतियां सत्यनारायण भगवान को चढ़ाई गई थी। पीले रंग में रंगी हुआ तीन हाथ का एक अंगोछा। पुजारी बने थे शंकर बाबा।" [142] चंडी का सम्पुट पाठ कराने से ग्रह दशा में सुधार हो जाता है। [143] सेठों तक का ऐसा विश्वास था। पर्व और त्यौहार के दिन घर को छोड़कर बाहर जाने से देवता–पितर निराश लौट जाते हैं – "जनम भर कहीं नहीं गई और अब बुढ़ापे में क्यों कुल देवता और ग्राम देवता की पूजा मुझ से छुड़वाओगे? पर्व और त्यौहार के दिनों में देवता पितर आवेंगे, आंगन घर सूना रहेगा तो निराश लौट जायेंगे।" [144] जय किशोर की मां

का उपरोक्त कथन उनके विश्वास और अंधविश्वासों पर प्रकाश डालता हैं इसी प्रकार सच–झूठ के बारे में पता लगाने के लिए हाथ पर आग रखने का[145] अंधविश्वास भी समाज में व्याप्त है। यदि हाथ न जले तो बात को सत्य अन्यथ असत्य माना जाता है।

छोटी जाति के लोग जमींदार के जुल्मों को चुपचाप इस लिए सहन कर लेते हैं क्योंकि "मालिक राजा होते हैं और राजा ठहरे भगवान के अवतार! कौन उनके खिलाफ कुछ भी सोच सकता था।" [146] छोटी जाति वाले लोगों को ईश्वर ने विद्या–अध्ययन का अधिकार नहीं दिया है और यदि कोई "छोटी जात वालों को जो एक आखर भी ज्ञान देता है उसका अपना ही तेज घटता है, और जो कोई शूद्र समूची पोथी पढ़ा दे उसके पितर स्वर्ग छोड़कर नरक में रहने को मजबूर होते हैं।" [147] ये बातें अंधविश्वास और गरीबों के प्रति अमीरों के व्यवहार को स्पष्ट करती है। ग्रामीण लोगों में यह विश्वास पाया जाता है कि यदि व्यक्ति पोते या प्रपौत्र का मुंह देखकर भरता है तो वह स्वर्ग का अधिकारी होता है।[148] गांव के लोग शायद इसीलिए बूढ़े पीपल की जडों में लोटा भर जल डालते हैं।[149]

देवी देवताओं की अंचल में बड़ी मान्यता है। कोई भी शुभकार्य हो गणेश पूजन अवश्य किया जाता है। देवी–देवताओं की कृपा चाहने वाले "देवी–देवता का फूल अन्दर डालकर लोग बड़े जतन से जन्तर मढ़वाते हैं तांबे का, चांदी का, सोने का, अष्टधात का, वे उसे बांह में, गले में, कमर में बांधते हैं कि हमेशा शरीर से लगा रहे।" [150] भैंस बीमार होने पर शिवजी के मंदिर के आगे जाकर जैकिसुन का यह कहना कि "दुहाई बंभोलेनाथ की! अब तेरा ही आसरा है। जब तक गुजरती निरोग नहीं होगी तब तक मैं तेरे सामने से नहीं हटूंगा।" [151] तथा वर्षा न होने पर वर्षा कराने के लिए औरतों द्वारा तालाब से मेंढ़क पकड़कर लाना और उन्हें ओखलियों में मूसलों से कुचलना [152] लोगों के अंधविश्वास ही तो हैं। कोई शादी करवाने के लिए पांच बार बकरे की बलि दे चुका है पर कोई लड़की वाला उसे पूछने नहीं आया।[153] इसी प्रकार वर्षा बुलाने के लिए मिट्टी के शिवलिंग बनाने का वर्णन उपन्यासकार ने किया है – "इस बस्ती रूपउली के ब्राह्मणों ने मिट्टी के ग्यारह लाख शिवलिंग बनाये और उनकी सामूहिक पूजा की उन्होने, फिर भी मेघ की कृपा नहीं हुई।" [154] ग्वालों, अहीरों और धानुकों ने भी इन्द्र देवता की कृपा के लिए भुइयां महाराज का पूजन किया और दस भेंडों की बलि चढाई।[155]

मिथिला अंचल में वट वृक्ष वन्दनीय और माननीय है। सोमवार और

बुद्धवार को प्रातः महिलायें वटवृक्षों की वेदी पर चावल की पीठी के घोड़े खड़े करती और पिण्डियों पर दूध ढालतीं, अच्छत और फूल चढ़ातीं, परिवार की भलाई के लिए मिन्नतें करतीं। किसी के घर यदि कोई शुभ कार्य होता रूपउली के लोग बाबा बटेसरनाथ का पूजन अवश्य करते।[156] ये सब कार्य अंचल में व्याप्त अंधविश्वासों को व्यक्त करते हैं। उपन्यासकार ने मिथिला अंचल के मूल–मनस को इतने सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है कि जो इस बात का प्रमाण है कि नागार्जुन की दृष्टि अंचल के जन–जीवन में गहरी पैठ गई है। इसी कारण से उनके उपन्यास जीवन्त बन पडे हैं।

त्यौहारों का अंचलवासियों के लिए अत्यधिक महत्व होता है। त्यौहार के दिन ही वे लोग अपने जीवन में कुछ परिवर्तन सा अनुभव करते हैं। एक ढर्रे पर चलती जिन्दगी में कुछ बदलाव आ जाता है। उपन्यासकार ने त्यौहारों को बडी सूक्ष्मता के साथ आंचलिक जीवन के साथ जोडा है। घरों की लीपने और पोतने का कार्य होली और दीपावली के त्यौहारों पर किया जाता है। घर पर तरह–तरह के व्यंजन बनाए जाते हैं। "होली करीब थी। छंटे – धुले गेहूं खजूर के पत्तों की चटाई पर सूख रहे थे।–––––– धूप पूरब की तरफ से फूंस के टाट को छू रही थी, पछवरिया घर की छाया उसके पीछे थी। गोबर और चिकनी मिट्टी के घोल से लिपा–पुता आंगन आंखों को बड़ा ही अच्छा लग रहा था। तुलसी की छोटी वेदी से सटकर छांह में बिल्ली लेटी पड़ी थी।"[157] तीज के त्यौहार तथा जन्माष्टमी के साथ–साथ चउड़–चन के त्यौहार का भी वर्णन किया है। चउड़–चन का त्यौहार भाद्र पक्ष शुक्ल की चौथ को होता है। इसे नैवेद्य निवेदनपूर्वक भादों की चौथ के उगते चांद को देखने का त्यौहार कहा जाता है। और दुर्गा–पूजा तो मिथिला अंचल का बड़ा ही महत्वपूर्ण त्यौहार है। वातावरण में एक नया उल्लास छा जाता है। कहीं से ढोल की ध्वनि गूंजती है तो कहीं पिपही की।[158] दुर्गा–पूजा में कलश स्थापन से लेकर मूर्ति बनाने वालों तक का उपन्यासकार ने सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया है। दीपावली, भाईदूज आदि त्योहारों का भी वर्णन उपन्यासों में मिलता है।

अंचल में अपनी अलग मान्यताएं होने के कारण कुछ विशिष्ट त्यौहार भी होते हैं और उनका मनाने का ढंग भी अलग होता है। मिथिला अंचल में "मधु–श्रावणी"[159] का त्यौहार इसी प्रकार का है, वैसे तीज और हरितालिका व्रत का यह त्यौहार किसी न किसी प्रकार समस्त भारत की सुहागिनों का एक

सामान्य पर्व है। मिथिला में यह नव–वधुओं के सौभाग्य का महान पर्व समझा जाता है। उपन्यासकार ने त्यौहारों का वर्णन अंचलवासियों के जीवन को उसमें अच्छी प्रकार पिरो कर ही किया है। सभी उपन्यासों में तो ऐसे वर्णन नहीं है पर "रतिनाथ की चाची" और "नई पौध" इस दृष्टि से आंचलिक की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

अंचल के लोग भूत–प्रेतों में बड़ा विश्वास करते हैं। आंचलिक उपन्यासों में इनके वर्णन से अंचल और अधिक यथार्थ हो उठता है। "बलचनमा" में जमींदार की नौकरानी सुखिया पर कभी–कभी भूत चढ़ जाने वर्णन किया गया है – "कभी–कभी वह चिंग्घाड़ मारकर रो पड़ती थी। कोंचा खोलकर नंगी हो जाती और हाय बाप, हाय बाप करती हुई जीभी निकालती। बोलती – ही ही ही ही ही मैं काली हूं, पोखर पर जो बौना पीपल है उसी पर रहती हूं, खा जाउंगी समूचा गांव। बकरा दो बकरा -----"[160] जमींदार की पत्नी दोनों हाथ जोड़कर कहती है – "दुहाई भगवती की, सुखिया (नाम) का भूत भगा ले जाइए। दो कुआंरी लड़कियों को आप की खातिर खीर–पूड़ी खिलाऊंगी---- [161] दामो ठाकुर गांव के प्रसिद्ध ओझा थे।" चूहे के बिल की मिट्टी, पुराने बिनौले, तोड़े हुए कुश के तिनके, चार बूंद गंगाजल, पीपल के सूखे पत्ते ---- इतनी चीज मिलाकर दामो ठाकुर भूत झाड़ना शुरू करते। ----- ओम काली काली महाकाली इन्द्र की बेटी, ब्रह्मा की साली फू ----- इतना कहकर कुछ देर तक होंठ पटपटाते और फिर खबासिन की छाती पर फूंक मारते। फिर सिर पर, कंधों पर, कमर में। आखों का इशारा पाकर दूसरे लोग घर से निकल जाते, किवाड़ भिड़का दिया जाता। अन्दर से हूं–हूं की आवाज आने लगती।" [162] लोगों का विश्वास है कि भूत या जिन्न अक्सर बांझ औरत को ही पकड़ता है।

"बाबा बटेसरनाथ" में बरगद बाबा जैकिसुन से कहता है – "हमारी बिरादरी के वनस्पतियों पर भूत, पिशाचों, यज्ञों, देवों तथा ब्राह्मणों की यह "दया–दृष्टि" कोई नई बात नहीं है।" [163] बरगद बाबा पर भी कोई ब्रह्म राक्षस सवार हो गया तभी तो वह कहता हे – "एक नहीं, दो नहीं, पूरे पांच वर्षो तक मेरे सीने पर पिशाच सवार रहा और जेठ की पांच अमावसें मैने रो–रोकर काटीं रे बबुअन!" [164] फूलपरास–बाजार के करीब के गांव में रहने वाले एक औघड़ की चर्चा भी "बाबा बटेसरनाथ" में की गई हैं यह औघड़ बाबा अपनी इष्ट देवता "कंकाली माई" के लिए एक बकरा और पांच बोतल दारू तलब करता था। बाबा

बटेसरनाथ के भूत को इसी औघड़ ने ग्यारह दफा बरगद में कील ठोककर भगाया था और तब कहीं बरगद बाबा को ब्रह्म राक्षस से छुटकारा मिल सका।[165] उपन्यासकार ने इस तरह के अनेक टोनों–टोटको की चर्चा करके अंचल में व्याप्त आधिदैविक चेतना को उभारा है। नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला अंचल की मिट्टी की सोंधी–सोंधी गंध व्याप्त है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में आंचलिकता का निर्वाह बड़ी सजीवता के साथ हुआ है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में जिस समस्या को भी लिया है वह अंचल के जीवन को गहराई से छूती है तथा कथा जिन घटनाओं और पात्रों को अपने भीतर समेटती है वे सब कहीं–न–कहीं अंचल को उजागर करते हैं। उपन्यासों में कोई न कोई गंभीर समस्या आंचलिक जीवन के संदर्भ में आदि से अन्त तक एक सीध में व्याप्त रहती है। उस समस्या और उसमें रत पात्रों से बंधकर प्रसंगवश क्रमशः अंचल का जीवन व्यक्त होता चलता है। अर्थात कथा यहां प्रत्यक्ष है और अंचल परोक्ष। नागार्जुन के आंचलिक उपन्यास कई अर्थों में रेणु से अधिक प्रभावशाली बन पड़े हैं। यह सच है कि अंचल की समग्रता को नागार्जुन पूरी तरह नहीं उभार पाये किंतु अंचल के रीति–रिवाज, खान–पान, पहनावा, लोक–गीत, लोक–भाषा के शब्द और मुहावरें आदि से अंचल के मूल–मनस का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

संदर्भ

1 – आलोचना : 1957, सम्पादकीय।
2 – हिंदी साहित्य कोश : भाग 1, पृ0 95
3 – प0 राजनारायण पाण्डेय, पूर्णिमा, 6 अप्रैल 1960, पृ0 6
4 – "सारिका" मासिक, अक्तूबर 1961
5 – हीरा प्रसाद त्रिपाठी : "कल्पना" मासिक, मई 1958, पृ0 56
6 – रामरतन भटनागर : "मूल्य और मूल्यांकन", (सं0 1962) पृ0 188–89
7 – डा0 मक्खन लाल शर्मा : हिंदी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा, पृ0 359
8 – डा0 रामदरश मिश्र : हिंदी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ0 188
9 – आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी – सारिका, नवम्बर 1961, पृ0 91

10 – डा0 रामदरश मिश्र : हिंदी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ0 189–90
11 – हिंदी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ0 190
12 – डा0 ज्ञानचन्द गुप्त : आंचलिक उपन्यास सम्वेदना और शिल्प, पृ0 17
13 – आलोचना (उपन्यास विशेषांक – अक्तूबर 1954), पृ0 97–147, 14 – वही, पृ0 203
15 – डा0 रामदरश मिश्र : हिंदी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ0 190
16 – डा0 ज्ञान चंद गुप्त : आंचलिक उपन्यास : संवेदना और शिल्प, पृ0 42
17 – दुखमोचन , पृ0 114
18 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 35
19 – वरूण के बेटे, पृ0 37, 20 – वही, पृ0 26
21 – नई पौध, पृ0 31–32
22 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 9–10, 23 – वही, पृ0 12
24 – वरूण के बेटे, पृ0 7, 25 – वही, पृ0 11, 26 – वही, पृ0 51–52
27 – वही, पृ0 52
28 – दुखमोचन, पृ0 7, 29 – वही, पृ0 146, 30 – वही, पृ0 157–58
31 – रतिनाथ की चाची, पृ0 40, 32 – वही, पृ0 41, 33 – वही, पृ0 115
34 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 20, 35 – वही, पृ0 38, 36 – वही, पृ0 114
37 – नई पौध, पृ0 42, 38 – वही, पृ0 70, 39 – वही, पृ0 84
40 – रतिनाथ की चाची, पृ0 127–28, 41 – वही, पृ0 3, 42 – वही, पृ0 10
43 – वही, पृ0 66, 44 – वही, पृ0 20, 45 – वही, पृ0 47, 46 – वही, पृ0 118
47 – बलचनमा, पृ0 8–9, 48 – वही, पृ0 11, 49 – वही, पृ0 15
50 – नई पौध, पृ0 4
51 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 54–55
52 – वरूण के बेटे, पृ0 21, 53 – वही, पृ0 22
54 – दुखमोचन, पृ0 21–22
55 – रतिनाथ की चाची, पृ0 3, 56 – वही, पृ0 18
57 – बलचनमा, पृ0 7, 58 – वही, पृ0 112–13, 59 – वही, पृ0 147,
60 – वही, पृ0 20
61 – नई पौध, पृ0 34, 62 – वही, पृ0 40
63 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 30–31, 64 – वही, पृ0 31, 65 – वही , पृ0 44–45
66 – वरूण के बेटे, पृ0 11, 67 – वही, पृ0 39, 68 – वही, पृ0 86
69 – रतिनाथ की चाची, पृ0 30
70 – बलचनमा, पृ0 5, 71 – वही, पृ0 23–24
72 – नई पौध, पृ0 45
73 – बाबा बटेसरनाथ पृ0 88
74 – वरूण के बेटे, पृ0 14, 75 – वही, पृ0 30
76 – दुखमोचन, पृ0 154

77 – रतिनाथ की चाची, पृ0 92
78 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 95
79 – वरूण के बेटे, पृ0 21–22
80 – रतिनाथ की चाची, पृ0 23, 81 – वही, पृ0 132
82 – नई पौध, पृ0 14 , 83 – वही, पृ0 25 , 84 – वही, पृ0 32
85 – बलचनमा, पृ0 46, 86 – वही, पृ0 25
87 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 144
88 – वरूण के बेटे, पृ0 65, 89 – वही, पृ0 72–73, 90 – वही, पृ0 50
91 – वही, पृ0 100, 92 – वही, पृ0 8
93 – रतिनाथ की चाची, पृ0 136–137, 94 – वही, पृ0 42
95 – बलचनमा, पृ0 152
96 – वरूण के बेटे, पृ0 29, 97 – वही, पृ0 63–64, 98 – वही, पृ0 68
99 – वही, पृ0 102
100 – वरूण के बेटे, पृ0 25
101 – नई पौध, पृ0 18
102 – रतिनाथ की चाची, पृ0 136, 103 – वही, पृ0 137, 104 – वही, पृ0 42
105 – वही, पृ0 88
106 – नई पौध, पृ0 44, 107 – वही, पृ0 102
108 – रतिनाथ की चाची, पृ0 154
109 – नई पौध, पृ0 140
110 – दुखमोचन, पृ0 58
111 – नई पौध, पृ0 92
112 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 69–70
113 – बलचनमा, पृ0 112–113, 114 – वही, पृ0 113, 115 – वही, पृ0 144
116 – वही, पृ0 154
117 – वही, पृ0 158 तथा नई पौध पृ0 143
118 – बलचनमा, पृ0 171
119 – रतिनाथ की चाची, पृ0 10, 120 – वही, पृ0 58, 121 – वही, पृ0 54
122 – वही, पृ0 34
123 – बलचनमा, पृ0 23
124 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 47
125 – रतिनाथ की चाची, पृ0 60, 126 – वही, पृ0 70, 127 – वही, पृ0 71,
128 – वही, पृ0 87
129 – बलचनमा, पृ0 70, 130 – वही, पृ0 70–71
131 – दुखमोचन, पृ0 93, 132 – वही, पृ0 99,
133 – नई पौध, पृ0 55

134 – वरूण के बेटे, पृ0 96, 135 – वही, पृ0 119
136 – बलचनमा, पृ0 207
137 – बाबा बटेसरनाथ, पृ0 153–54
138 – रतिनाथ की चाची, पृ0 18, 139 – वही, पृ0 43, 140 – वही, पृ0 54
141 – वही, पृ0 58, 142 – वही, पृ0 59, 143 – वही, पृ0 80
144 – वही, पृ0 116, 145 – वही, पृ0 137
146 – बलचनमा, पृ0 72, 147 – वही, पृ0 137
148 – नई पौध, पृ0 3
149 – बलचनमा, पृ0 145
150 – नई पौध, पृ0 39
151 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 27, 152 – वही , पृ0 54–55, 153 – वही, पृ0 73
154 – वही, पृ0 54, 155 – वही, पृ0 54, 156 – वही, पृ0 68
157 – दुखमोचन, पृ0 109
158 – नई पौध, पृ0 124
159 – रतिनाथ की चाची, पृ0 154
160 – बलचनमा, पृ0 30, 161 – वही, पृ0 30, 162 – वही, पृ0 31
163 – बाबा बटेसरनाथ , पृ0 70–71, 164 – वही, पृ0 73, 165 – वही, पृ0 74–75

7

आंचलिक उपन्यासकारों के मध्य नागार्जुन

नागार्जुन बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। वे प्रगतिशील कवि, लेखक और उपन्यासकार थे। कवि के रूप में जहां उन्हें एक व्यंग्कार के रूप में प्रतिष्ठा मिली, उपन्यास साहित्य में उन्होने प्रेमचन्द द्वारा स्थापित परम्परा को आगे बढ़ाया। उनके उपन्यासों में निम्नवर्गीय समाज की पीड़ा बड़ी सुन्दरता के साथ प्रस्तुत की गई है। शायद नागार्जुन की सफलता का एक कारण यह भी है कि वे स्वंय भी सब भोग चुके थे जो उनके उपन्यासों का वर्ण्य विषय बनाया गया है। आंचलिक उपन्यासकार के रूप में नागार्जुन को सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली और कई मामलों में तो वे आंचलिक उपन्यास के जनक कहे जाने वाले फणीश्वर नाथ रेणु से काफी आगे हैं। वास्तविकता ये है कि नागार्जुन रेणु से पहले आंचलिक उपन्यास लिख चुके हैं। "रतिनाथ की चाची" (1948), "बलचनमा" (1952), "नई पौध"(1953) उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं जो रेणु के "मेला आंचल"(1954) से पूर्व प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों के जनक "रेणु" नहीं नागार्जुन थे। यह बात दूसरी है कि इस विधा का नामकरण रेणु जी ने ही किया था।

नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला की शस्य–श्यामला भूमि के जन–जीवन को आधार बनाया गया है और उनके माध्यम से नवीन समाजवादी

चेतना को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों में आस्था रखते हुए भी उन्होने अपनी कला को सिद्धान्तों के प्रचार से बचाने का सफल प्रयास किया है। डा0 सुषमा धवन ने भी स्वीकार किया है कि नागार्जुन के उपन्यास समाजवादी उपन्यासों की श्रेणी में तो आते हैं किंतु वे मार्क्सवादी सिद्धान्तों के बोझ से दबे हुए नहीं है।[1] यशपाल की कृतियां और राजनीतिक सिद्धान्तों का मिश्रण देखने को मिलता है तो "देश द्रोही" में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का प्रचार है। नागार्जुन के उपन्यासों में राजनीतिक तथा सैद्धान्तिक विचार आरोपित होकर नहीं आए हैं। सामूहिक चेतना को उपन्यासकार ने पात्रों के जीवन से इस प्रकार गुम्फित कर दिया है कि चरित्र–चित्रण एवं कथानक के सहज–स्वाभाविक विकास को कोई ठेस नहीं पहुंचती है।[2] व्यंग्यात्मक नूतन शिल्पाग्रह, जनवादी तत्वों में दृढ़ आस्था, सामाजिक धरातल की स्थापना एवं जीवन की सम्पूर्णता और व्यापकता का प्रतिनिधित्व नागार्जुन के उपन्यासों के आधार हैं जिनसे उनके औपन्यासिक शिल्प की सृष्टि हुई है।

उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने सर्वप्रथम अपने उपन्यासों में किसान और मध्य वर्ग के जीवन को बड़ी ईमानदारी और तत्परतापूर्वक चित्रित किया गया है। नागार्जुन ने प्रेमचंद द्वारा उठायी गयी समस्याओं की आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक व्याख्या को नवीन परिप्रेक्ष्य में देखा है। "प्रेमचंद के युग की समस्याएं नागार्जुन के काल में भी उतनी ही ज्वलन्त रही हैं, इसमें संदेह नहीं किंतु प्रेमचंद में जहां उनके निदान के लिए छटपटाहट दिखाई पड़ती है: प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में उन समस्याओं के निदान के लिए सशक्त स्वर में जहां आवाज बुलन्द करने का प्रयत्न किया गया है। प्रेमचंद अपनी परंपरा के जनक स्वय ही थे। फलतः उनमें प्रारंभिक पथ–निर्माण की कठिनाइयों के साथ अपनी पूर्व की परपरागत लीक को त्यागने में कुछ भावात्मक विवशता भी थी, जिससे वे अपने आपको मुक्त नहीं कर सके थे। पर उसी परंपरा की लीक पर चलते हुए प्रेमचंदोत्तर कतिपय उपन्यासकारों ने तत्कालीन सामाजिक भाव–बोध की नयी चेष्टा और उसकी समस्याओं को नये निदान से संयुक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। नागार्जुन इस पथ में प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों के बीच सर्वाधिक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में छाये हैं।"[3] नागार्जुन के उपन्यासों में समाजवादी यथार्थ का चित्रण है। इस समाज के अत्यंत दीन–हीन पात्रों के उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों का नायक बनाकर प्रतिष्ठित किया है कि

पाठक के मानस पटल पर उसकी अमिट छाप पड़ती है।

प्रेमचंद ने "गोदान" में जिस निरीह कृषक "होरी" के शोषण का चित्रण किया है उसी के विकास के रूप में नागार्जुन ने "बलचनमा" को प्रस्तुत किया है जो आधा खेतिहर मजदूर है और आधा किसान। "बलचनमा" की पृष्ठभूमि को अगर नागार्जुन की पृष्ठभूमि में देखा जाए तो उपन्यास की संपूर्णता स्पष्ट हो जाती है। अगर नागार्जुन खेतिहर मजदूर, ग्वाले या मछुओं का चित्रण करते तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है बल्कि कटु सत्य है। आज अपने अधिकार के प्रति किसान और मजदूरों में चेतना आ रही है। जिन परिस्थितियों में वे रह रहे हैं वे उन्हें इस बात के लिए प्रेरित कर रहीं है कि यह अन्याय हमारे साथ ही क्यों भाग्य और ईश्वर के आधीन हाथ पर हाथ रखकर बैठने से अब काम चलने वाला नहीं है। सारे दिन एड़ी चोटी का पसीना बहाकर मजदूर भूखा क्यों? इन सारी बातों को नागार्जुन के उपन्यासों की पृष्ठभूमि में रखकर देखना होगा अन्यथा हम उपन्यासकार के साथ न्याय नहीं कर पायेंगे। नागार्जुन के उपन्यासों में केवल बिहार ही नहीं संपूर्ण भारत के निम्नवर्ग का चित्रण है। "प्रेमचंद के होरी और नागार्जुन के बलचनमा में अन्तर दो विभिन्न परिस्थितियों तथा दो विभिन्न दृष्टिकोण से मुक्ति "गोदान" में पूरी तरह नहीं पा सके। इसलिए उनके होरी पर भी आदर्शवाद का रंग चढ़ा हुआ है, चाहे वह रंग कितना ही फीका पड़ गया है। बलचनमा का चरित्र यथार्थ के आधार पर खड़ा किया गया है, उसमें आशा और प्रगति के लक्षण मिलते हैं। प्रेमचंद का दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थवाद की देन है, नागार्जुन की जीवन–दृष्टि समाजवादी यथार्थ पर आधारित है।"[4]

बलचनमा भी किसान है और होरी भी। होरी में जहां ग्रामीण संस्कृति के ध्वंस की सूचना मिलती है वहां बलचनमा ग्रामीण संस्कृति के भावी निर्माण की सूचना देता है।[5] इसका कारण है युगीन परिस्थितियां। होरी अपनी भूमि खो बैठता है, बलचनमा भूमिहीन किसान से आगे बढ़कर भूमि पर अधिकार जमाना चाहता है और इसके लिए वह संघर्ष करता है। नागार्जुन ने बलचनमा में नई चेतना और स्फूर्ति को भर दिया है क्योंकि सामाजिक धारणायें और आस्थायें तत्कालीन युग में तेजी से बदलती हैं। यदि प्रेमचंद के तत्कालीन समाज की परिस्थितियां इसी प्रकार बदलतीं तो निश्चय ही उनकी स्वस्थ सामाजिक चेतना समाजवादी रूप धारण कर लेती और वे ही सब सजीव चित्र उनके उपन्यासों में मिलते जो नागार्जुन के उपन्यासों में देखने को मिलते हैं।

"बलचनमा" प्रेमचंद के उपन्यासों वाला भारतीय राष्ट्रीय पटल गहरा तथा गझिन होकर विशिष्ट ग्रामीण आंचलिक हो जाता है। इसीलिए होरी का निराशावाद अनिवार्य दशाओं में बलचनमा का आशावाद हो जाता है। "बलचनमा" में प्रेमचंद वाला आरोपित आदर्शवाद लुप्त सा हो जाता है, प्रेमचंद वाला सामाजिक यथार्थ समाजवादी यथार्थ की प्रवृत्ति से अपेक्षित होने लगता है।[6] "बलचनमा" प्रेमचंद के गोदान की परंपरा के अभिनव परिवर्तन की सूचना देता है। प्रेमचंद ने जिस सामाजिक–यथार्थवादी को सही अर्थों में आगे बढ़ाया है। प्रेमचंद के समान ही नागार्जुन की समस्याएं, क्षेत्र उसी प्रकार की हैं और वैसे ही पात्रों द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं। प्रेमचंद की भाव भूमि पर नागार्जुन ने अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से उपन्यास क्षेत्र में नए मानदंड स्थापित किए हैं।

जिस प्रकार नागार्जुन ने बिहार के मिथिला अंचल को अपना कथा–क्षेत्र बनाया है, उसी प्रकार रेणु का कथा–क्षेत्र भी बिहार का पूर्णिया जिला है। "मैला आंचल" में 1942 से लेकर 1950 तक के आसपास तक की कथा कही गई है। कथा का क्षेत्र है – बिहार के पूर्णिया जिले का मैरीगंज नामक गांव तथा उसके आसपास का प्रदेश। मैरीगंज एक पिछड़ा गांव है जिसमें उच्च, निम्न तथा मध्यवर्ग के लोग रहते हैं। उच्चवर्ग–निम्नवर्ग, धनी–निर्धन, शासक–शासित के बीच होने वाले संघर्ष को कथाकार ने उपन्यास का वर्ण्य विषय बनाया है। अंचल की पूरी जन संस्कृति अपने समग्ररूप में उपन्यास में मुखरित हो उठी है। रहन–सहन, रीति–रिवाज, पर्व–त्यौहार, प्राकृति सौंदर्य, लोक संगीत का यथार्थवादी चित्रण हुआ है। नागार्जुन ने भी "बलचनमा" में 1937 ई0 से स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तक की घटनाओं को कथावस्तु का आधार बनाया है। रेणु ने जहां पूर्णिया जिले को कथा–क्षेत्र का आधार बनाया वहां नागार्जुन ने दरभंगा जिले को चुना। आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ यह क्षेत्र स्वतंत्रता के उपरान्त अपनी वर्तमान दीन–हीन स्थिति के प्रति विद्रोह कर किस प्रकार नवीन चेतना से प्रभावित हो नए जीवन के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हो उठा है – इस सब का नागार्जुन ने "बाबा बटेसरनाथ", "नई पौध", "दुखमोचन", तथा "वरूण के बेटे" में चित्रण किया है। रेणु और नागार्जुन की सृजन क्रिया में एक मौलिक अन्तर यह है रेणु ने "मैला आंचल" तथा "परती–परिकथा" दोनों उपन्यास यही चित्रण करके लिखे हैं कि उन्हें आंचलिक उपन्यास लिखने हैं परंतु नागार्जुन ने अपने उपन्यास इस तथ्य को सामने रखकर नहीं लिखे कि उन्हें आंचलिक उपन्यासों

का सृजन करना है। इसी कारण से आंचलिक उपन्यासों की वे त्रुटियां नागार्जुन के उपन्यासों में नहीं है जो रेणु के उपन्यासों में हैं।

नागार्जुन "एक जुट होकर हमें यह करना है" की सामूहिक चेतना को अपने उपन्यासों में उभार कर चले हैं। वे संपूर्ण जनता के ह्रदय–परिवर्तन में आस्था रखते हैं। इसके विपरीत 'रेणु' की जन–चेतना की सामूहिक अपार शक्ति में कोई आस्था नहीं है। इस चित्रण के अतिरिक्त उनके उपन्यासों में लोक–संस्कृति के संपूर्ण पक्ष अतिशय विस्तारवादी शैली के साथ चित्रित किए गए हैं जो प्रायः ऊब पैदा कर देते हैं। पर्व–त्यौहारों–उत्सवों का विस्तृत परन्तु अनावश्यक चित्रण, स्थानीय बोली का अत्यधिक प्रयोग, प्राकृतिक दृश्यों एवं वातावरण के बार–बार विस्तृत चित्रण ने कथा–संगठन को शिथिल बना दिया है जिससे पात्रों के चरित्र पूरी तरह से उभरने नहीं पाये हैं। "परती–परिकथा" में वहां की लोक संस्कृति तथा वातावरण ही प्रधान बन गए हैं, उद्देश्य गौण और प्रभावहीन रह गया है। नागार्जुन के उपन्यासों में ऐसा देखने को नहीं मिलता है।

नागार्जुन के उपन्यासों में आंचलिकता संकीर्ण नहीं, व्यापक हैं उनके उपन्यासों का फलक छोटा होते हुए भी गंभीर है। छोटे–छोटे फलकों में छोटे–छोटे और साधारण पात्र उन्होने चुने हैं। नागार्जुन की आंचलिकता को अनेक आलोचकों ने सराहा है। "नागार्जुन के उपन्यास विशिष्ट आंचलिक उपन्यास हैं जो शिथिल कथानक तथा खण्ड चित्रों की सुन्दर प्रदर्शिनी, आंचलिकता के रोमांटिक अनुबंध और आधुनिकता के इर्रेशनल मोहभंग आदि से आजाद रहे हैं। नागार्जुन ने "आंचलिकता" के केन्द्र को नए और अछूते अंचल के मोह से बाहर निकालकर उसे वैज्ञानिक ऐतिहासिक प्रक्रिया और सामाजिक चेतना के समकालीन हाशियों से जोड़ा।" [7] रेणु ने बिहार के पूर्णिया जिले को आधार बनाकर "मैला आंचल" प्रकाशित कराया "किंतु यथार्थ की एक समान गहरी पकड़ के बावजूद भी वे मुतबातिर रोमांटिक मोह और राजनीतिक धुंध में बहते चले गए। नागार्जुन संस्कृति की क्लासिकी परम्परा से प्रयाण करके तथा रोमांटिक आंदोलन का प्रतिरोध करके जी उठे थे। अतः दिशा–पंथी हुए।" [8] उपन्यास की कसौटी में रोचकता भी एक प्रमुख तत्त्व है। आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता का निर्वाह वहीं तक ठीक रहता है जहां तक वह पाठक के लिए सुबोध हो और उसमें उबाऊपन न आए। "मैला आंचल" के प्रथम खण्ड में एक व्यवस्थित एवं संतुलित श्रृंखलाबद्ध कथा का अभाव है। नीरस और विस्तृत

ब्यौरों को पढ़कर पाठक का मन ऊबने लगता है। इसी प्रकार "पानी के प्राचीर" (राम दरश मिश्र) "जंगल के फूल" (राजेन्द्र अवस्थी तृषित) "जुलूस" (रेणु) "लोक–परलोक" (उदयशंकर भटट) में आंचलिक ब्यौरों की भरमार हो गई है। कभी–कभी तो भाषा को पढ़कर ऐसा लगता है कि कथाकार पाठक के धैर्य की परीक्षा लेने पर उतर आया है।

समाज के वास्तविक स्वरूप को ज्यों का त्यों निरपेक्ष भाव से फोटो की तरह प्रस्तुत कर देना साहित्यकार के लिए संभव नहीं है। फोटोग्राफर और साहित्यकार में यही अन्तर है कि फोटोग्राफर यंत्र के समान निरपेक्ष भाव से समाज का कोई चित्र प्रस्तुत कर सकता है पर साहित्यकार को उसकी अपनी मान्यताएं, अनुभव, कल्पना आदि से प्रभावित होना ही पड़ता है। हिंदी उपन्यासकारों में यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव उपेन्द्रनाथ अश्क, जैनेन्द्र आदि ने सामाजिक यथार्थ को अच्छी प्रकार से अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है किंतु प्रत्येक समाज को देखने की दृष्टि अपनी है और उस यथार्थ को प्रस्तुत करने की अपनी अलग–अलग शैलियां हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों में उनका आदर्शोन्मुख यथार्थ है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ को अन्य ही दृष्टिकोण से देखा है जो साम्यवाद से प्रभावित है। "बलचनमा", "रतिनाथ की चाची", "बाबा बटेसरनाथ", तथा "नई पौध" में ग्राम्य समाज की समस्याओं को उठाया है। जमींदारों का शोषण, कांग्रेस सरकार की कमजोरी, गांवों में व्याप्त गुटबंदी, दहेज, अनमेल विवाह आदि समस्याएं बड़े ही सुन्दर और यथार्थवादी ढंग से उठाई गई है और इन सबका मूल आधार आर्थिक विषमता को ठहराया गया है। इस प्रकार, जिस सामाजिक यथार्थवादी परंपरा को जिसका श्रीगणेश प्रेमचंद ने किया था नागार्जुन ने सही अर्थों में उसे आगे बढ़ाया है। "नागार्जुन में यशपाल जैसी पार्टी के प्रति निष्ठा नहीं है, इसीलिए उनके उपन्यासों में वे कमजोरियां नहीं आ पाई हैं, जो यशपाल में हैं।" [१]

"दादा कामरेड" (यशपाल) तथा "सीधा सादा रास्ता" में मजदूरों के संघर्ष का चित्रण किया गया है। यशपाल, "फायडवाद" से प्रभावित होने के कारण रोमांस और राजनीति को एक साथ मिलाकर चले हैं। उपन्यास में दो प्रश्न मूल रूप से उठाए गए हैं। प्रथम तो यह कि क्रांति आतंकवाद से आ सकती है या समाजवाद से, दूसरा यह कि समाज द्वारा स्थापित मान्यताएं आचरण क्या वास्तव में मूल्यवान हैं या इनको बदलना चाहिए। उपन्यास में कांग्रेस के अहिंसात्मक

आंदोलन के साथ–साथ क्रांतिकारियों के हिंसात्मक आंदोलन का सजीव चित्रण किया गया है। हरीश का पार्टी से सैद्धातिक मतभेद हो जाना और हरीश को गोली से उड़ा दिए जाने का निश्चय करना, यहां "दादा" के रूप में चंद्रशेखर और हरीश के रूप में स्वंय यशपाल दिखाई देते हैं। उपन्यास में अन्य राजनीतिक दलों की निंदा की गई है और कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन किया गया है। नागार्जुन भी साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। उनके उपन्यासों में भी कांग्रेस पार्टी की खुलकर निंदा की गई है। यशपाल के उपन्यासों में मजदूर आंदोलन नेताओं में आकर सिमट गया है। नेताओं ने ही अपने भाषणों तथा तर्कों के द्वारा समाजवादी यथार्थवाद का समर्थन किया है जबकि नागार्जुन ने अपने पात्रों के भोगे हुए दर्द को मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

यशपाल के नेताओं की एक सबसे बडी दुर्बलता है – नारी । "उनके राजनीतिक सिद्धांत की ज्वाला वासना की लहरों से बुझ जाती है। उनका नायक सिद्धान्तों के लिए तो क्या जूझेगा, उसके पूर्व ही वह प्रेम की ज्वाला में जल मरता है। "देशद्रोही" में उनका नायक विभिन्न देशों की सैर करता हुआ भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम और सिद्धान्त के साथ प्रेम–कला के अनेक पाठ सीखता हुआ अन्त में अपने को बलिदान कर देता है। कहा नहीं जा सकता कि प्रेम की वेदी पर कम्युनिज्म की वेदी पर। उसी प्रकार "पार्टी कामरेड" की भी कहानी है। इसमें भी नायक को अन्त में शाहदत मिलती है, लेकिन इसका निपटारा करना कठिन है कि वह शाहदत प्रेम की है अथवा सिद्धांत और आदर्श की।" [10] इसमें कोई संदेह नहीं है कि यशपाल जी की प्रतिभा बड़ी प्रखर है। प्रेमचंद के पश्चात समाज के मार्मिक चित्र चित्रित करने में वे अत्यधिक सफल रहे हैं। परंतु अति रोमांटिक प्रवृत्ति के कारण वे अपने वास्तविक लक्ष्य से दूर चले जाते हैं। नागार्जुन के उपन्यासों की सबसे बडी शक्ति वही है जो यशपाल के उपन्यासों की कमजोरी है – "वह समस्या है यौन प्रश्नों की। नारी पुरूष की प्रारंभिक काल से प्रेरणा और शक्ति रही है – इसे कोई अस्वीकार नहीं करता। नागार्जुन ने नारी का त्याग नहीं किया है और न करना चाहिए, किंतु अश्लील प्रसंगों को छांट–छांटकर अपने उपन्यासों में स्थान देने की कृपा उन्होने नहीं की है और न यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक "बलचनमा" के लिए समाज की पुरातन परंपराओं से लड़ने के लिए किसी प्रेयसी की आवश्यकता है।" [11]

यशपाल के नारी पात्र पुरूष को उसके आदर्श से दूर हटाने वाले हैं। उनमें स्वस्थ दृष्टिकोण का अभाव है। यशपाल को "कोई भी क्रांतिकारी पात्र ऐसा नहीं है, जिसे किसी नारी की आवश्यकता न हो, और नारी की यह आवश्यकता शुद्ध शारीरिक है।"[12] "दादा कामरेड" में हरीश शैल को निर्वस्त्र देखने की इच्छा करता है। शैल उसे पूरा करती है। यह सब क्या उचित है? राबर्ट और हरीश दोनों ही शैल को चाहते हैं। राबर्ट से शादी का इरादा रखते हुए भी शैल हरीश से ही गर्भ धारण करती है। यह प्रगतिशीलता नहीं है, यौनवाद है। यशपाल की मार्क्सवादी और सामाजिक–यथार्थ की विचारधारा यहां आकर दूषित हो जाती है। नागार्जुन के उपन्यासों में भी सामान्य से अधिक कुछ अश्लील प्रसंग आ गए हैं पर उनका मंगल (वरूण के बेटे) अपनी प्रेयसी मधुरी को हरीश की तरह निर्वस्त्र देखने को लालायित नहीं है। हां "इमरतिया" में माई इमरतीदास का चरित्र कहीं–कहीं अश्लीलता को छू लेता है। पर ऐसे प्रसंग अधिक नहीं हैं। पात्रों द्वारा की गई गालियों में जो अश्लीलता आ गई है वह आक्रोश जन्य है जबकि यशपाल के पात्रों की अश्लीलता वासनाजन्य है। नागार्जुन का नारी के प्रति दृष्टिकोण बड़ा संयत, शिष्ट और मर्यादित रहा है। नागार्जुन के नारी पात्र समाज उत्थान में रचनात्मक योग देते हैं वे केवल भोग के लिए सीमित नहीं हैं। "वरूण के बेटे" की मधुरी, "उग्रतारा" की उगनी तथा कामेश्वर की भाभी, "दुखमोचन" की माया, "कुंभीपाक" की चम्पा ऐसी नारी पात्र हैं जो सामाजिक रूढ़ियों, गली–सड़ी परम्पराओं को तोड़ने वाली और नयी चेतना से परिपूर्ण हैं। "वरूण के बेटे" की मधुरी नागार्जुन की आदर्श नारी पात्र है जो समाजसेवी, परिश्रमी और प्रगतिशील है। नागार्जुन के उपन्यासों में जो नारी पात्र हैं वे इस बात को स्पष्ट करते हैं कि नारी अब घरों में कैद होकर रहने वाली नहीं है। नए समाजवादी समाज की स्थापना तभी संभव हो सकेगी जब स्त्री और पुरूष कंधे से कंधा मिलाकर चलेंगे और एक दूसरे को समान समझेंगे। नागार्जुन के नारी पात्र आदर्श गृहिणी भी है, आदर्श प्रेमिका भी है ओर आदर्श मां भी और समाज सेविका भी है।

आंचलिक उपन्यासों की परंपरा में कुछ और कृतियां महत्वपूर्ण स्थान रखतीं हैं। इनमें "सागर लहरें और मनुष्य" (भट्ट), "कब तक पुकारूं"(रांगेय राघव), "ब्रह्मपुत्र" (देवेन्द्र सत्यार्थी), तथा "हौलदार" (शैलेश मटियानी) "जंगल के फूल" (राजेन्द्र अवस्थी) तथा "पानी के प्राचीर" प्रमुख हैं। इनके संदर्भ में ही नागार्जुन

के उपन्यासों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना अधिक उपयुक्त होगा। "सागर, लहरें और मनुष्य" में उदयशंकर भट्ट ने भारत के पश्चिमी तट पर बम्बई के निकट बसे बटसोवा ग्राम के मछुओं के जीवन का चित्रण किया है। बटसोवा से बम्बई की निकटता ने वहां के सामाजिक जीवन में भी वर्तमान भौतिक सभ्यता के उन बीजों को बो दिया है जिनकी अंधा–धुंध बाढ़ से राष्ट्रीय जीवन त्रस्त हो रहा है। कौलियों में स्त्री जाति का शासन चलता है और वंशी जैसी कुशल एवं स्वच्छंद महिलाएं बिट्ठल जैसे पतियों को अपना दास बनाकर रखती हैं। अपनी वासना पूर्ति के लिए वे पति के होते हुए भी प्रेमी रखती हैं, परंतु दास बनाकर। इस प्रकार कोलियों के समाज की विशिष्टता की ओर इस उपन्यास में संकेत किया गया है। उपन्यास में एक प्रमुख समस्या उठाई गई है, वह है पिछड़े समाज में शिक्षित नारी की स्वच्छंदता की। रत्ना ऐसी ही नारी है जिसमें अदम्य वासना है – प्रेम की, वैभव की जो उसके बम्बई के वैभवपूर्ण जीवन–संघर्ष, अभाव, शक्तिहीनता का यथार्थ चित्रण है। उपन्यास में सच्चाई होते हुए भी तीव्रता और संश्लिष्टता का अभाव है। "वरूण के बेटे" में नागार्जुन द्वारा मछुओं की तुलना में ,ागर लहरें और मनुष्य के मछुआरे अधिक सम्पन्न है तभी तो श्रमोपरान्त वे आनंदमग्न दिखाई देते हैं। "वरूण के बेटे" की मुख्य विशेषता है, ब्यौरों की सूक्ष्म बातों की वर्णनात्मकता, पात्रों का अभावों से संघर्ष तथा आंचलिक भाषा। "वरूण के बेटे" की मधुरी परिस्थितियों से जूझने को उतारू है और समाज उत्थान के लिए प्रयत्नशील है जबकि "सागर लहरें और मनुष्य" में रत्ना में क्षेत्रीय स्थितियों से पलायन की भावना है। "सागर लहरें और मनुष्य" में प्रेरणा लगन और परिश्रम की मूर्त कथा प्रस्तुत करने में उपन्यासकार सफल रहा है किंतु शहरी कथा के प्रवेश ने उपन्यास की आंचलिकता को आघात पहुंचाया है। सच तो यह है कि इसकी आंचलिकता संदिग्ध है क्योंकि उपन्यास में ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति के नागर संक्रमण का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

"कब तक पुकारूं" (रांगेय राघव) में नटों के जीवन को चित्रित किया गया है। कथा का क्षेत्र ब्रज का एक भाग है। उपन्यास की भूमिका में उपन्यासकार ने यह स्पष्ट किया है कि शोषण का केवल आर्थिक पहलू ही देखना काफी नहीं है। शहरों में बैठने वाले आधुनिकता के नजरिये से सब कुछ देख डालते हैं। पर असली भारत गांवों में है जो अभी भी मध्यकालीन समस्याओं से ग्रस्त है। जमींदारों के गांव में यह प्रथा रही है कि करनटों की प्रत्येक लड़की जब जवान होती थी

तब पहिले उसे ठाकुरों के पास रात बितानी पड़ती थी। फिर वह करनटों की हो जाती थी। जमींदार, पुलिस आदि सभी इस जाति को अपनी वासना–पूर्ति तथा उद्देश्य–पूर्ति का साधन बनाते थे। सामन्ती व्यवस्था की शिकार ऐसी जातियां अब समाप्त होती जा रहीं हैं परंतु उनके सामाजिक शोषण का सत्य "कब तक पुकारूं" जैसे सशक्त उपन्यासों के माध्यम से सदा जीवित रहेगा। उपन्यास में एक कमी खटकती है वह है करनट जाति के प्रति घनिष्ट परिचय और आत्मीयता का अभाव। रांगेय राघव चूंकि उस यथार्थ को स्वंय भोगे हुए नहीं हैं इसी से उपन्यास में आंचलिक प्रेम का अभाव सा प्रतीत होता है जबकि नागार्जुन ने जिस यथार्थ को भोगा है उसी का चित्रण किया है यही उनके उपन्यासों का प्रमुख आकर्षण बन जाता है।

"ब्रह्मपुत्र" (देवेन्द्र सत्यार्थी) में उपन्यासकार की दृष्टि हिंदी–भाषी प्रदेश को पार करके एक अहिंदी–भाषी प्रांत के ऐसे लोगों के जीवन की ओर गई है जिसका उस प्रांत में भी अपना एक विशिष्ट स्थान है और वह है – ब्रह्मपुत्र के किनारे बसने वाले असम के जनसाधारण का जीवन, उन नदी–पुत्रों का जीवन जो सदा ब्रह्मपुत्र के उल्लास और कोप का लक्ष्य बनते हुए भी उनके सम्मुख नतमस्तक है।[13] ब्रह्मपुत्र की कथा–वस्तु में कथा तत्व की दुर्बलता है। लोक जीवन की समस्या के साथ–साथ कुछ सामाजिक समस्याएं भी उपन्यास में उठाई गई हैं – जैसे जातीय तथा भाषायी विवाद। जातीयता के नाम पर ही गांव–बूढ़ा बनने के लिए संघर्ष होता है और आपसी मनमुटाव होता है। ग्रामवासियों में नई चेतना अतुल, देवकान्त और राखाल काका के माध्यम से प्रवेश कर रही है। ब्रह्मपुत्र की बाढ़ से रक्षा के लिए श्रमदान से बांध का निर्माण, पुलिस अत्याचारों के विरोध में गांव में सभा, डिप्टी कमिश्नर की कोठी पर प्रदर्शन आदि घटनाएं ग्रामीण–अंचल में उभरती नई चेतना का परिचय देती है। नागार्जुन ने "दुखमोचन" में बिहार–ग्राम्य जीवन की समस्याओं का वर्णन किया है। ये समस्याएं सामान्य ग्राम जीवन की समस्याएं ही हैं परंतु उपन्यास में इन्हीं के माध्यम से ग्राम्य अंचल मुखरित हो उठा है। नवीन जागृति और चेतना एक ग्रामीण पात्र दुखमोचन के माध्यम से की गई है। "ब्रह्मपुत्र" के अतुल की तुलना में दुखमोचन अधिक प्रभावशाली पात्र सिद्ध हुए हैं। आंचलिक वातावरण की सृष्टि करने में भी नागार्जुन अधिक सफल रहे हैं।

"होलदार" (शैलेश मटियानी) कुमायू के अंचल की कहानी प्रस्तुत करता

है। उपन्यास की भाषा ने अन्य तत्वों पर इतना गहरा आंचलिक रंग चढ़ा दिया है कि उनका प्रभाव आंचलिक ही पड़ता है। "होलदार" एक ऐसे नवयुवक की कथा है जो समाज में अपना प्रभाव जमाने के लिए होलदार बनना चाहता है, किंतु दुर्भाग्य से वह प्रशिक्षण काल में ही अपनी ही गोली से घायल होकर, टांग कटाकर, छः मास के बाद ही गांव वापिस आ जाता है। शारीरिक अक्षमता ने उसके मन में हीन भावना को जन्म दिया। उपन्यास का कथानक इसी हीन भावना से उत्पन्न क्रिया–प्रतिक्रियाओं को संवेदनात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। टूटे हुए, हताश व्यक्ति की कथा को विभिन्न मनःस्थितियों में लेखक ने बड़ी मनोवैज्ञानिकता के साथ प्रस्तुत किया है। "फिर भी यह उपन्यास समग्र अंचल के सांस्कृतिक व्यक्तित्व की संश्लिष्टता को उभारने में उतना सफल नहीं हुआ जितना एक व्यक्ति की जीवन–कथा को उभारने में।" [14] नागार्जुन ने जो समग्र अंचल की संश्लिष्टता अपने उपन्यासों में प्रस्तुत की है वहां शैलेश मटियानी इसमें सफल नहीं रहे हैं। "बलचनमा" भी एक व्यक्ति की जीवन–कथा है पर उसे आंचलिक स्पर्श, और स्थानीय रंगत, को उभारने में नागार्जुन अत्यधिक सफल हुए हैं। "बलचनमा" आत्मकथा होते हुए भी समस्त अंचल की कथा है।

"जंगल के फूल" (राजेन्द्र अवस्थी "तृषित") में बस्तर क्षेत्र के गोंडों के समाज की समग्रता उपन्यास में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की गई है। आदिवासी जीवन पर लिखा गया यह सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। आदिवासी गोंडों के सम्मुख उनकी प्रकृति के अनुकूल ही उनके अधिकारों की समस्या है। इसी समस्या को उपन्यासकार ने उपन्यास में उठाया है। कथानक आदिवासियों के विद्रोह की ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। आदिवासी समाज में चेतना और जागृति बाहरी तत्वों के सहयोग से नहीं आई बल्कि वह आदिवासियों द्वारा ही उद्भुत है। एक छोटी सी घटना ने आदिवासी समाज में चेतना और जागृति उत्पन्न कर दी। एक गोरे अफसर की गोंडों द्वारा रक्षा की गई और उसके बदले में सरकार द्वारा जमीन के पट्टे दिए गए। गोंडों को पट्टे दिए जाने के पीछे सरकार की चाल दिखाई पड़ती है। वह चाल है, जमीन और जंगलों पर सरकार द्वारा आधिकर का प्रदर्शन। पुलिस के द्वारा किए जाने वाले अत्याचार तथा शिक्षा का प्रसार आदि के प्रयत्न भी इसमें सम्मिलित हो जाते हैं। मछुआ, झालर सिंह, सुलकसाए आदि गोंडों की आंचलिक कथा नव–जागृति की नई दिशा ग्रहण कर लेती है। यद्यपि "जंगल के फूल" में गोंडों के अधिकार हनन और शोषण की समस्या को

चित्रित किया गया है किंतु उसका कलेवर अत्यंत व्यापक है। संपूर्ण गोंड समाज द्वारा सरकार के विरूद्ध आवाज उठाने का निर्णय करना प्रगतिवादी चेतना का परिचायक है। स्त्री और पुरूष सभी समान रूप से अपने अधिकारों की रक्षा के लिए उठ खड़े होते हैं।

"वरूण के बेटे" में भी नागार्जुन ने इसी प्रकार मछुओं के जीवन की समस्याओं को चित्रित किया है। स्वतंत्रता के बाद जमींदारी–उन्मूलन होने पर भी जमींदार मछुओं से किसी न किसी बहाने जलकर वसूल करते हैं और गढ़ पोखर को जो मछुओं का जीवनाधार है, दूसरे के हाथ बेच देते हैं। संघर्ष होता है जिसमें मछुओं ने एक जुट होकर अन्याय और शोषण के विरूद्ध आवाज उठाई है। यहां पर भी उपन्यासकार का प्रगतिवादी दृष्टिकोण उभरकर आता है। "जंगल के फूल" में जंगल का जीवन अपनी समस्त सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक संबंधों की विसंगतियों और चेतना में मूर्त हो उठा है। किंतु उपन्यास में वन्य–जीवन का जो स्वरूप अंकित है वह जितना स्फीत है उतना जटिल और गहरा नहीं ।[15] नागार्जुन ने जो मछुओं के जीवन का स्वरूप अंकित किया है वह जटिल भी है और गहराई लिए हुए है।

"पानी के प्राचीर" (राम दरश मिश्र) में गोरखपुर जिले के राप्ती और गोरी नदियों की धाराओं से घिरे हुए एक विशाल भू–भाग कथा है। भूमिका (पूर्वाभास) में मिश्रजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह विशाल–भूभाग युगों से अपनी सारी हरियाली इन नदियों की भूखी धाराओं को लुटाकर विवशता, अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संसार के सारे सूत्रों से कटे इस प्रदेश का अपना ही अलग एक संसार है। उपन्यास की कथा स्वाधीनता से पूर्व की कथा है और स्वाधीनता समारोह की सूचना के साथ ही उपन्यास समाप्त हो जाता है। सत और असत के मध्य होने वाल संघर्ष उपन्यास की मुख्य कथा है जिससे जुड़े आर्थिक एवं सामाजिक संघर्ष भी साथ–साथ चल रहे हैं। पाण्डेपुरवा ग्राम के जनजीवन को बड़ी सजीवता और स्वाभाविकता के साथ उभारा गया है। अंचल में प्रचलित मान्यताएं, अंधविश्वास, लोक–गीत आदि को उपन्यासकार ने राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में प्रभावशाली ढंग से उद्घाटित किया है। पाण्डेपुरवा का मार्मिक चित्रण "मैला आंचल" के मेरीगंज की स्मृति को ताजा कर देता है। नागार्जुन ने मिथिला अंचल के जो चित्र प्रस्तुत किए हैं वे भी बड़े मार्मिक और प्रभावशाली हैं। "रतिनाथ की चाची", "बाबा बटेसरनाथ", "बलचनमा" ऐसे

उपन्यास हैं जो "पानी के प्राचीर" के समान ही समस्याओं को अपने आप में संजोये हुए हैं किंतु आंचलिकता के जिस स्वरूप को नागार्जुन ने प्रस्तुत किया है। "पानी के प्राचीर" में उसका अभाव है।

नागार्जुन के उपन्यासों में मानवतावाद का स्वर पूर्णरूपेण मुखर हो उठा है। उन्होने सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामन्ती शोषण के शिकार पात्रों को उपन्यासों में चित्रित किया है। पात्रों के इस चित्रण में जनवादी विचारों का समावेश कर देना उपन्यासकार की अपनी विशिष्टता है। उन्होने जन साधारण को वाणी देकर न केवल प्रेमचंद की परंपरा की पुनर्स्थापना की है वरन उसे आगे बढ़ाया है। प्रेमचंद का होरी आज की सामाजिक विकृतियों और पिशाचों का शिकार होकर मर जाता है पर "बलचनमा" के बालचचंद राउत उर्फ बलचनमा परिस्थितियों से संघर्ष करता है। वह जाग रहा है उसमें नई चेतना और दृढ़ता आ गई है। ग्रामीण अंचल में उभरती चेतना के पात्र दिगम्बर, कपिल बुले, जैकिसुन हर परिस्थिति से संघर्ष करने को तैयार हैं। नागार्जुन ने भारतीय किसानों और जन साधारण में छिपी हुई शक्ति का दर्शन कराया है। साम्यवादी विचारों से अनुप्राणित होने पर भी नागार्जुन का स्वर आस्थावादी है।

आंचलिक उपन्यासकारों में फणीश्वर नाथ 'रेणु' ही उनकी टक्कर के हैं। कई क्षेत्रों में रेणु उनसे आगे निकल गए हैं तो कहीं नागार्जुन ने उनको पीछे छोड़ दिया है। नागार्जुन और रेणु के उपन्यास भिन्न-भिन्न वर्ग के हैं। दोनों उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। रेणु ने अंचलों को जहां उनके परिवेश में देखा, नागार्जुन ने अंचलों को साम्यवादी चश्मे के पीछे से देखा। ग्रामीण समस्याओं का उदघाटन करने में नागार्जुन की पैठ बड़ी गहरी रही है साथ ही व्यंग्य का पुट भी उसमें है। रेणु में विस्तार और व्यापकता तो है दृष्टिकोण का आग्रह नहीं है। व्यंग्य रेणु ने भी किए हैं पर नागार्जुन के व्यंग्यों का सा तीखापन उनमें नहीं है। नागार्जुन के उपन्यास अन्य मार्क्सवादी और आंचलिक उपन्यासकारों की तुलना में जीवन के अधिक निकट हैं। वे समस्याओं से हताश नहीं होते थे बल्कि उनके समाधान के लिए सदैव आशावादी रहे। दलित और पीड़ित वर्ग का वास्तविक स्वरूप उनके उपन्यासों में है, लगता है कि वे दलित और पीड़ित वर्ग के ही लेखक थे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी बाबा नागार्जुन के कवि कर्म पर बहुत चर्चायें हुई हैं। पत्र-पत्रिकाओं और आलोचकों ने कवि नागार्जुन को केन्द्र में रखकर ही

उनके साहित्य का मूल्यांकन किया। डा0 नामवर सिंह जैसे प्रबुद्ध आलोचक यह कैसे भूल गए कि नागार्जुन जनवादी कवि ही नहीं बल्कि स्वतन्त्रता के बाद के सबसे बड़े उपन्यासकार थे। "बलचनमा", "वरूण के बेटे" जैसे दो ही उपन्यास हिंदी उपन्यास यात्रा के विकास में मील का पत्थर की भांति हैं। बाबा के निधन के बाद उन के कथाकार के रूप में मूल्यांकन करना बहुत ही आवश्यक हो गया है। कवि के रूप में तो उन्हें राहुल सम्मान, भारत भारती सम्मान, साहित्य अकादमी सम्मान मिले। बिहार सरकार का राजेन्द्र प्रसाद पारितोषिक लेते समय उनके छपे एक चित्र से वे आलोचनाओं मे आ गए थे, पर नौकरी न होने के कारण उनकी विवशता को समझा जा सकता है। नागार्जुन का व्यक्तित्व संभवतः हिन्दी प्रदेश के किसान का व्यक्तित्व था। उनके निधन का दुर्भाग्यपूर्ण पहलू ये है, कि अब दूर–दूर तक हिन्दी प्रदेश में किसान चेतनावाला कथाकार कवि दिखाई नहीं पड़ता।

संदर्भ

1 – हिंदी उपन्यास, पृ0 302
2 – डा0 सुषमा धवन : हिंदी उपन्यास, पृ0 302
3 – आलोचना (अंक 34) जुलाई, 1965, पृ0 198
4 – डा0 सुषमा धवन : हिंदी उपन्यास पृ0 303
5 – डा0 इन्द्रनाथ मदान : आज का हिंदी उपन्यास, पृ0 46
6 – डा0 रमेश कुन्तल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है, पृ0 282
7 – डा0 रमेश कुन्तल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है, पृ0 279–80
8 – वही, पृ0 280
9 – हिंदी उपन्यास, सिद्धान्त और समीक्षा, पृ0 216
10 – आलोचना (उपन्यास अंक) पृ0 206
11 – डा0 मक्खन लाल शर्मा : हिंदी उपन्यास, सिद्धान्त और समीक्षा, पृ0 217
12 – वही, पृ0 216
13 – आलोचना (जौलाई 1957) शिवकुमार मिश्र का लेख
14 – डा0 राम दरश मिश्र : हिंदी उपन्यास, पृ0 206
15 – डा0 राम दरश मिश्र : हिंदी उपन्यास, पृ0 207

परिशिष्ट

बाबा नागार्जुन के कुछ पत्र

श्री वैद्यनाथ मिश्र, उर्फ यात्री, उर्फ नागार्जुन और हिन्दी जगत में बाबा के नाम से विख्यात, पूरे देश में अपने प्रशंसकों और मित्रों को छोड़कर इस संसार को छोड़, लम्बी यात्रा पर चले गए, उनका यायावरी जीवन उनकी आत्मीयता, उनके पत्र लेखन की कला का परिचय यहां कुछ पत्रों से मिलेगा। पूरे परिवार के वे संरक्षक बन गए थे। जहां भी जाते उनके मित्रों की संख्या बढ़ जाती। बाबा ने एक बार बिजनौर प्रवास के समय कहा था– "पत्र दिलों दिमाग का आईना होते है। कुछ सुधीजन, बल्कि अधिक सुधीजन इसे फालतू–कोटि उबाऊ कार्य व्यापार समझते हैं– इस वर्ग में वे चतुर सुजान भी होते हैं जिन्हें भविष्य में अपनी पोल खुलने का आतंक सताता रहता है। मैं उन्हें दूर से ही साष्टांग प्रणाम करता हूँ" तुम मूल पत्रों को अपने पास रखो और मेरे पत्रों का उपयोग अवश्य करो।"

(मेरी धर्मपत्नी राजबाला हरित के नाम)

(1) डियर राजी, 27.3.78

(i) तुम्हारे नाम मेरा पहला पत्र है न ? ज्ञानेश के नाम एक पोस्ट कार्ड डाला था। मिला होगा तुम सभी लोगों की यादें अक्सर आती रहती हैं ...... सुधा, कविता, शिखा, हरिताभ, ललित, प्रभाष गौड़ ...... हाँ, नाम तो शायद भूलना भी इस उम्र में आवश्यक और अनिवार्य होता है, राजी कि नहीं ? हाँ कहाँ !

(ii) तुम अपनी खुजली का इलाज जमकर करवाओ। लगे तो प्राकृतिक चिकित्सा वाला कोर्स भी शुरु कर सकती हो आगे चलकर। एलोपेथी ट्रीटमेन्ट इस रोग को निर्मूल नहीं करे शायद.... किसी अति अनुभवी वैद्यराज से भी परामर्श लेकर देखो राजा मेरे ! और ?

(iii) और तुम्हारे 'उनका' क्या समाचार है ? ज्ञानेश की रचनाएं, विशेषतः उसके गीतिधर्मी काव्यांश जी भर कब सुन पाऊंगा उसके मुँह से !

एक मलाल यह भी रहा कि सुकवि हुक्का से निकट की धनिष्टता नहीं हासिल कर सका मैं ..... दुबारा बिजनौर पहुंचने पर मैं हुक्का को घेरुगा उनकी कुटिया में जाकर। जी भर उनसे रचनाएं सुनूगा। मुझे रमेश शेखर से भी जी भर सुननी हैं ......

अच्छा राजी अब फिर कब मिलेंगे ? बतला सकती हो ?

पत्र शीघ्र डालना

C/o जन संसार — नागार्जुन

19–B चौरंगी, कलकत्ता–13 — तुम्हारा

ज्ञानेश प्रिय, 29.4.78

अंतर्देशीय मिला है। मैं ठीक हूँ। ता : 5 और 10 के दर्म्यान दिल्ली पहुंच रहा हूँ। उधर पहुंचते ही इसी प्रकार पोस्टकार्ड डाल दूंगा। चिंगारी का एक अंक दिखाई दे गया है– एक आध अंक बिजनौर टाइम्स का भी ....बड़ा ही अच्छा लगा .... । सुधा, कविता, शिखा, हरिताभ, राजी, ललित आदि के चहरे याद आते हैं। तुम तो मकान बदलने वाल थे न ? पता तो वही चला रहे हो ... राजा की खुजली क्यों नही छूट रही ?

C/o जनसंसार नागार्जुन
19–B चौरंगी, कलकत्ता–13

प्रियवर–हरित जी, 4.4.79

2 वाला पत्र अभी–अभी मिला। मैं कल शाम ही बड़ौदा से लौटा हूँ। परसों फिर बाहर निकलना है– सागर (मध्य प्रदेश) का प्रोग्राम निबटाकर 11–12 तक कलकत्ता पहुंचना है। अगला पत्र उधर से ही लिखूंगा। अभी आप पत्र नहीं डालना। राजी को दिल्ली में इस बार जरुर पूरी तरह चेक–अप करवा दो ...... लुधियाना के मिशन अस्पताल की बात भी ध्यान में रखना। अभी और क्या लिखूं ? डाक्टरेट तो तुम्हें मिल ही गई–मेरा दिल पूरी तरह आश्वस्त है ...... प्यारी डमडम, डियर हरिताभ और प्रिय राजी को बहुत–बहुत प्यार।

96 टैगोर पार्क, दिल्ली–9 नागार्जुन
आपका

ज्ञानेश जी, 20.8.80

कई महीने बाद आपकों संबोधित कर रहा हूँ .... वस्तुत: इस अवधि में हम दिल्ली से अक्सर बाहर रहे। आप अपने बारे में लिखिए। राजी कैसी है ? चुक्की व दमदम की पढ़ाई बदस्तूर आगे बढ़ रही होगी। थीसिस के प्रकाशन का क्या हुआ ?

विदुर कुटी वाले फ्लैट में रहने की क्या व्यवस्था हो सकती है, यानि छै महीने के लिए, क्वाटर–चार्ज कितना लगेगा ? अभी तो बाढ़ का मौसम है। लेकिन अक्तूबर के बाद, अप्रेल तक के लिए, यदि वहां व्यवस्था हो तो ठीक रहेगा। यों, गंगा–तट पर उस प्रकार के कुटीर और भी कई स्थानों पर हैं। मगर बिजनौर के निकट वो तटवर्ती आश्रम मुझे अधिक अच्छा लगा था ....

131 टैगोर पार्क, दिल्ली–9 नागार्जुन

प्रिय हरित 21.10.80

जयपुर और अजमेर हो के आया तब आपका पत्र मिला एक महीना के लिए फिर निकलना है 24 को वापस आना है। 25–11 तक अगला पता पटना वाला रहेगा। 18 विध ायक क्लब पटना– 800–001 विदुर कुटी दो महीने रहना चाहता हूँ। अब तो 15 दिसम्बर के बाद ही प्रोग्राम बन पायेगा। यहाँ से निकलकर जबलपुर–इलाहाबाद, पटना और कलकत्ता। आपने तो इधर कई गीत रचे होंगे न ! सुनने की उत्कट इच्छा है। राजी को आशीष .... दमदम

और चुक्की को प्यार ..... तुम्हारे भाई का नाम अक्सर भूल जाता हूँ ..... डॉ0 राम स्वरुप आर्य से एवं अन्य मित्रों से भी मेरी नमस्ते निवेदित कर दीजिये .....

131 टैगोर पार्क, दिल्ली—9 नागार्जुन

आपका

प्रियवर ज्ञानेश

बीच में तबियत सुस्त हो गई थी। जुकाम—नज़ला और हल्का बुखार... ठीक हूँ ... लगभग ...... 5 को (आज से तीसरे दिन) दिल्ली पहुंच रहा हूँ। लगता है, बिजनौर अब इस मौसम में मुझसे छूट ही गया। देखे कब अवसर आता है—लगभग 2 फरवरी तक दिल्ली रहना है। फिर निकलना होगा— राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र के लिए— तो इधर अप्रैल के बाद ही लौटेंगे न। राजी को आशीष। दमदम और चुक्की को प्यार और मित्रों को नमो नमः ..... कामेश कहां है ? आप हमारा दिल्ली वाला पता तो नहीं भूल गए हो ?

(131 टैगोर पार्क, दिल्ली—9) नागार्जुन

1981 आपका

हापुड़ 245101

प्रिय भाई, 14.1.81

पत्र मिला ...... प्रकाशकों के क्या बताऊं। उनकी लीला अपरम्पार है। .... "धरोहर" के तौर पर ली गई हुई रकम का क्या हस्र होगा, मैं बतला नहीं सकता। एक से एक नाई हज्जाम आपका मुंडन करने के लिए तैयार मिलेंगे .... मैं भला क्या बतलाऊं, अब 25 के बाद ही पत्र डालो .....

131 टैगोर पार्क, दिल्ली—9 नागार्जुन

आपका

प्रिय भाई, 28.1.81

दो सप्ताह के लिए बंबई—पूना जा रहा हूँ—उधर से आते आते 20 फरवरी तो आ ही जाएगी। तब शायद मार्च के आरम्भ में बिजनौर पहुंचना संभव हो। अपना तो दिल बिजनौर पहुंचने का करता रहता रहा है, करता रहेगा— और आपको यक—ब—यक सूचित करुंगा कि फलां तारीख पहुंच रहां हूँ ....

राजी का स्वास्थ्य कैसा चल रहा हैं ? दमदम और चुक्की ठीक ठाक होंगे। कामेश भी। बंधुवर डॉ0 आर्य से मेरे नमोनमः कह देंगे .... c/o हिन्दी बिलट्ज, कावसजी पटेल स्ट्रीट, बम्बई। .... यह पता 16 फरवरी तक रहेगा। अगला पत्र उधर से ही लिखूंगा .....

131 टैगोर पार्क, दिल्ली—9 नागार्जुन

आपका

अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, चाँदपुर (बिजनौर) उ० प्र०

स्थापना

'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच' अपनी साहित्यिक गतिविधियों, अपने अनेक प्रकाशनों तथा हिन्दी साहित्य के प्रचार–प्रसार के अपने पारदर्शी उद्देश्यों के कारण भले ही दशकों पुराना–सा लगे किन्तु अपनी उम्र से बहुत बड़ा–सा लगने वाले इस मंच की उम्र मात्र 11 वर्ष है। वर्ष 1988 में 4 मार्च को मंच के संस्थापक अध्यक्ष, डॉ0 महेश 'दिवाकर' डी0 लिट0 (हिन्दी), रीडर हिन्दी विभाग, गुलाब सिंह हिन्दू (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, चाँदपुर (बिजनौर) के आवास पर आयोजित गोष्ठी में उपर्युक्त महाविद्यालय के तत्कालीन अंग्रेजी विभाग के रीडर व अध्यक्ष स्व0 डॉ0 सुभाष चन्द्र सक्सेना, (मंच के संस्थापक–संयोजक) की अध्यक्षता में यह मंच वैचारिक स्तर पर अस्तित्व में आया।

मंच ने अपनी यात्रा 'नवजात साहित्यकार मंच' के नाम से आरम्भ की। आरम्भ में इसका स्वरूप और क्षेत्र केवल चाँदपुर तक सीमित था। कुछ ही समय में जनपद की सीमाएँ पार कर इसने कई प्रान्तों के सुधी पाठकों/साहित्यकारों को अपनी निजता का परिचय दिया। विस्तृत स्वरूप व क्षेत्र के अनुरूप कुछ परिवर्तन के साथ मंच को 1992 में 'साहित्य कला मंच' नाम दिया गया। मंच के साहित्यिक कार्यो में निरन्तर फैलाव होता रहा। अपने आरम्भ (1988) से मंच ने अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रम आयोजित किए। अनेक काव्य संकलनों व अन्य साहित्यिक ग्रंथों का प्रकाशन किया। अखिल भारतीय स्तर पर साहित्यिक प्रतियोगिताएँ आयोजित की गई। कुछ प्रमुख पत्रिकाओं में साहित्यकारों के विशेषांक प्रकाशित कराये गये। मंच की ओर से अब तक प्रकाशित काव्य–संकलनों और ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं: 'यादों के आर–पार' तुलसी वांगमय विमर्श', 'प्रणय गंधा', 'प्रेरणा के दीप', अतीत की परछाइयाँ' 'नेह के सरसिज', 'नूतन दोहावली', 'काव्य–धारा', 'बाल सुमनों के नाम'
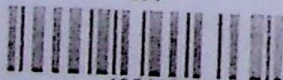
लेखक का परिचय

नाम : डॉ० ज्ञानेश दत्त हरित

पिता : श्री भगवत किशोर शर्मा

माता : स्व० शान्ति देवी शर्मा

जन्म स्थान : ननिहाल नरसेना (बुलन्दशहर)
पैतृक ग्राम--निसुरखा (बुलन्दशहर) उ०प्र०

शिक्षा : एम०ए० (हिन्दी), एम०एड०, पी०एच०डी० ,(हिन्दी)

सम्प्रति : रीडर, अध्यक्ष एवं शोध निदेशक वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ०प्र०)

लेखन विधाएं : कविता, कहानी, गीत, शोध, समीक्षा

प्रकाशित कृतियां : 'सीपियां दर्द की', (गीत संग्रह)
अधरों पर इन्द्रधनुष (गीत संग्रह)

सहयोगी संकलन : यादों के आर पार, प्रणयगंधा, प्रेरणा के दीप, अतीत की परछाईयां, नेह के सरसिज, काव्य धारा, समय की शिला पर,वन्दे मातरम् प्रीत के पंथी, हवा तेज हैं, हस्ताक्षर गीतों के।

सम्मान/पुरस्कार : अखिल भारतीय साहित्य कला मंच द्वारा **'साहित्य श्री'**
उ०प्र० युवा साहित्यकार संघ, धामपुर द्वारा **'सरस्वती श्री'**
दुष्यन्त स्मृति संस्थान द्वारा **'दुष्यन्त सम्मान'**

संस्थापक/अध्यक्ष : दर्पण साहित्यिक संस्था

वरिष्ठ उपाध्यक्ष: अखिल भारतीय साहित्य कला मंच

उपाध्यक्षः उ०प्र० साहित्यकार परिषद

सम्पर्क : 4, प्रोफेसर्स लॉज, सिविल लाइन्स, बिजनौर (उ०प्र०)
दूरभाषः 01345-63141